सस्ता साहित्य मण्डल : सर्वोदय साहित्य माला

एक सौ दसवाँ ग्रन्थ

—

[११०]

भारतीय संस्कृति
और
नागरिक जीवन

लेखक

रामनारायण यादवेन्दु

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

—शाखाएँ—

दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर : वर्धा : कलकत्ता : इलाहाबाद

लेखक की ओर से

"हमारी सारी शिक्षा व्यर्थ है, हमारी पाठशालाओ, विद्यालयो आदि पर जो कुछ व्यय किया जारहा है; हम अक्षर-ज्ञान में जो अपना जीवन व्यतीत कर रहे है, वह सब व्यर्थ है, जबतक कि हमें अपने साधारण नागरिक कर्त्तव्यो और अधिकारो की शिक्षा नहीं दी जाती। शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य यही है कि व्यक्ति अपने को अपने लिए, अपने कुटम्ब के लिए, अपने समाज के लिए यथासभव उपयोगी बना सके और समाज में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सके। सच्चा नागरिक ही वास्तविक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति है। मेरी तो यही आशा है, आकांक्षा है, यही अभिलाषा है। मै तो उस दिन की उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब हमारे देश में सच्चे नागरिको, वास्तव में कार्यकुशल नर-नारियों की हर प्रकार के कार्य में इतनी बहुतायत होगी कि हम सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त कर उसे निबाह सकेंगे, उसे स्थापित कर सकेंगे और अपने देश में उसी प्रकार से आत्मसम्मान-युक्त, स्वतंत्र-पुरुषोचित जीवन व्यतीत कर सकेंगे, जैसा अन्य देशो के स्त्री पुरुष कर रहे है।"

काशी के सुप्रसिद्ध कर्मशील विद्वान् श्री श्रीप्रकाश एम. एल. ए. ने अपने एक लेख के अन्त मे उपर्युक्त विचार प्रकट किये है। वास्तव मे शिक्षा उस समय तक व्यर्थ है जबतक कि वह व्यक्ति को एक उपयोगी श्रेष्ठ नागरिक नही बनाती।

आज हम बडे गौरव के साथ यह कहते है कि आर्य-सस्कृति सर्वोत्कृष्ट है, आर्य-धर्म तथा आर्य-सभ्यता सर्वश्रेष्ठ है। हम अपने ऐतिहासिक अतीत पर गर्व करते है। यह सब ठीक है और इसमे तनिक भी सन्देह नही कि गौरवमय अतीत उज्वल भविष्य के लिए स्फूर्ति और बल प्रदान करता है। परन्तु जब हम अपने नागरिक जीवन पर दृष्टि डालते है तो हमे घोर निराशा होती है यद्यपि जैसे-जैसे हमारे देश में राष्ट्रीय नवचेतना बढती जाती है, वैसे-वैसे हमारे नेताओ मे

नागरिक-जीवन के सर्वतोमुख सुधार के लिए तीव्र अभिलाषा तथा चेष्टा भी स्पष्ट दीख पडती है।

ससार का इतिहास यह बतलाता है कि किसी देश ने अपनी जो उन्नति की उसका श्रेय वहाँके नागरिको के श्रेष्ठ और उच्चतम नागरिक-जीवन को ही रहा है। किसी देश मे किसी महात्मा या महान् उन्ना-यक के जन्म लेने मात्र से ही राष्ट्र मे जीवन का सचार नही होने लगता। इसके लिए तो समूचे राष्ट्र की आत्मा मे चेतना की आवश्यकता होती है। प्रत्येक देश मे महान् धार्मिक तथा राजनीतिक नेता तथा महापुरुष पैदा हुए है, परन्तु वास्तव में उन्नति उन देशो ने ही की है जिनकी जनता ने बहु-सख्यक श्रेष्ठ नागरिको को जन्म दिया।

नागरिक-जीवन को श्रेष्ठ बनाने की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या हमारे देश के सामने भी है। अभीतक हमारी शिक्षा-प्रणाली में इस महत्त्वपूर्ण अग की उपेक्षा की गयी है। नागरिक-शास्त्र के ज्ञान के लिए कोई व्यावहारिक शिक्षा का प्रबध हमारे विद्यालयो व विश्व-विद्यालयो मे नही किया गया। हमारी शिक्षा-सस्थाओ मे नागरिक शात्र (Civics) की सामान्य शिक्षा का प्रबन्ध तो है, पर वह पहले तो प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य विषय नही है और जो है उससे उसे कोई उप-योगी व्यावहारिक लाभ नही मिलता। विद्यार्थियो को नागरिक-शास्त्र की केवल सैद्धान्तिक शिक्षा दी जाती है जिससे वे अपने जीवन मे न कोई लाभ उठा सकते है और न वास्तविक भारतीय सास्कृतिक एव नागरिक जीवन से ही परिचय प्राप्त कर सकते है।

संसारभर के शिक्षा-विशारद इससे सहमत है कि शिक्षा ही समाज के पुर्ननिर्माण का आधार है। अत हमे भारतीय शिक्षा-प्रणाली मे ऐसे सुधार करने चाहिएं जिससे हमारे भावी नर-नारियो मे अपनी सस्कृति, अपने आदर्शों, अपने विचारो एव अपनी जीवनप्रणाली के प्रति अनुराग एव श्रद्धा का भाव उदय हो और वे वास्तविक अर्थ मे सच्चे उपयोगी नागरिक बन सकें। सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शब्दो मे 'हमारा एक उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम भारत को संयुक्त, शान्त और

गौरवपूर्ण देखें जिसमें हमें जीवन का एक नवीन दृश्य देखने को मिले। हमें आर्थिक न्याय, सामाजिक समता तथा राजनीतिक स्वाधीनता के महान् आदर्शों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।'

आज के युग मे विज्ञान तथा वैज्ञानिक आविष्कारो के चमत्कारो ने सारे ससार को एक परिवार बना दिया है। आज हमने इनके प्रताप से समय तथा दूरी पर आश्चर्यजनक विजय प्राप्त करली है। इसलिए इस युग मे हमारी नागरिकता केवल नगर या राष्ट्र तक ही परिमित नही रह सकती। वास्तव में मानव-सस्कृति का लक्ष्य तो मानव-एकता है। इसलिए मैंने इस पुस्तक में नागरिकता पर व्यापक दृष्टि से विचार किया है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता का नागरिक-जीवन से जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसकी ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करने के साथ-साथ नागरिकता के सिद्धान्तो की मीमासा करते हुए नागरिक-जीवन के पारवारिक, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक, राजनीतिक आदि सभी पहलुओ पर सविस्तर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

आर्य सस्कृति ही ससार की सबसे प्राचीन तथा महान् सस्कृति है। अन्य सस्कृतियाँ इससे पैदा हुई है अथवा इसके विकृत रूप है। भारत में हिन्दू सस्कृति के रूप मे यह सस्कृति आज भी विद्यमान है। परन्तु आज भारत में 'मुस्लिम सस्कृति का भी अस्तित्व है। मै इन दोनो सस्कृतियो को एक तो नही मानता क्योकि दोनो मे भारी मौलिक भेद है, तो भी मै भारत मे सास्कृतिक एकता का समर्थक हूँ क्योकि इस प्रकार के प्रयास से ही हमारे नागरिक-जीवन मे समन्वय और सहकारिता की भावना जाग उठेगी और उससे समूचे राष्ट्र का कल्याण होगा।

'सास्कृतिक-जीवन' अध्याय बडा होगया है। वह इस पुस्तक का मेरुदण्ड है। इसके अन्तर्गत शिक्षा, भाषा, राष्ट्रभाषा, लिपि, साहित्य कला और सस्कृतियो पर विचार किया गया है। जहाँ भारतीय साहित्य एव कला के विषय मे विवेचन है, वहाँ मेरा अभिप्राय उनकी विशेषताओ तथा आदर्शो एव विचारधाराओ पर ही प्रकाश डालना रहा है। मैंने भारतीय साहित्य तथा प्रान्तीय भाषाओ का क्रम-बद्ध

विवेचन करना उचित नही समझा । इस कारण केवल हिन्दी-साहित्य को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत करके भारतीय साहित्य के आदर्शो पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इसका यह अर्थ नही कि मै प्रान्तीय भाषाओ और उनके साहित्य की आवश्यकता एव महत्त्व को स्वीकार नही करता ।

मैने इस ग्रन्थ मे प्रत्येक धर्म, सस्कृति और राजनीतिक विचार-धारा के मूल सिद्धान्तो एव प्रवृत्तियो को जहाँतक हो सका सच्चाई के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और प्रत्येक विषय का विवेचन इस ढग से किया है कि कोई बात विवाद-ग्रस्त न बन जाये, परन्तु आवश्यकतानुसार कही-कही सिद्धान्तो व प्रवृत्तियो की आलोचना भी की गयी है ।

इस ग्रन्थ द्वारा मैने सास्कृतिक प्रकाश मे भारत के नागरिक-जीवन की एक झलक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । इस प्रयास मे मुझे कहाँतक सफलता मिली है, इसका निर्णय मै विज्ञ पाठको तथा उदार-हृदय विद्वान् समालोचको पर ही छोडता हूँ ।

इस रचना मे जो विचार तथा भाषा-सम्बन्धी त्रुटियाँ रह गयी है, मै कृपालु पाठको से विनयपूर्वक क्षमा चाहता हूँ। आगामी सस्करण मे उन्हे दूर कर दिया जायेगा।

इस ग्रन्थ की रचना मे मुझे जिन ग्रन्थो से सहायता मिली है उसे मैने यथास्थान स्वीकार किया है और सहायक-ग्रथो की एक सूची भी अन्त मे जोड दी है। मै हृदय से उनके विद्वान् लेखको एव प्रकाशको को धन्यवाद देता हूँ ।

१५ दिसम्बर, १९४०
राजामण्डी, आगरा

रामनारायण यादवेन्दु

विषय-सूची

भारतीय संस्कृति

और

नागरिक जीवन

: १ :

विषय-प्रवेश

समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिन्होने व्यक्तिगत हितो की सार्वजनिक रक्षा के लिए, सार्वजनिक व्यवहार मे समता उत्पन्न करने-वाले कुछ सामान्य नियमो से शासित होने का समझौता कर लिया है। प्रत्येक व्यक्ति मे व्यक्तिगत विशेषताएँ होती है। इसी प्रकार समाज की भी विशेषताएँ होती है। समाज मे व्यक्ति इन दोनो—व्यक्तिगत एव समाजगत—विशेषताओ की रक्षा के लिए नियम बनाते है। समाज की प्रारम्भिक अवस्था मे ये नियम अत्यन्त स्थूल और सामान्य होते है और जैसे-जैसे समाज विकसित और प्रगतिशील होता जाता है, वैसे-वैसे सामाजिक नियम अत्यन्त विस्तृत, विशद और जटिल होते जाते है। मानव-समाज का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने से यह कथन भली भाँति प्रमाणित होता है।

अनेक भारतीय और यूरोपीय राजनीति-विज्ञान-विशारदो का यह मत है कि राज्य की उत्पत्ति से पहले समाज मे अराजकता थी। समाज मे न्याय और व्यवस्था के स्थान मे शक्ति का शासन था। शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति दुर्बल व्यक्तियो का दमन करते थे। इसलिए इस दशा से तग आकर सबने इकट्ठे होकर समझौता किया और उसके फलस्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई। यह सामाजिक समझौता ही राज्य की उत्पति का मूल है। मध्यकालीन यूरोपीय विचारक हॉब्स के अनुसार भी राज्य की उत्पत्ति से पूर्व अराजक दशा थी। हॉब्स के कथनानुसार इस अराजक दशा मे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से निरन्तर लडा करता था। यह निरन्तर सघर्ष की दशा थी। सब एक-दूसरे पर सन्देह और अविश्वास करते थे। जिस तरह गुस्सैल भेडिये एक-दूसरे को मार खाने के लिए एक-दूसरे पर झपटते रहते है, उसी तरह मनुष्य भी आपस में एक-दूसरे का विनाश करने के लिए सघर्ष करते रहते थे। उस समय न्याय-अन्याय और

उचित-अनुचित मे कोई भेद नही था। उस समय शरीर-बल ही सब-कुछ था। महाभारत मे अनेक स्थलो पर राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे इस प्रकार के विचार मिलते है

"अराजक राष्ट्रों में धर्म स्थिर नहीं रह सकता। अराजक अवस्था में लोग एक-दूसरे को खा जाते हैं। अराजक दशा में पापी लोग दूसरो का धन छीनने ही में आनन्द अनुभव करते हैं। पर जब दूसरे लोग इन पापियो को लूटने लगते हैं, तब इन्हे राजा की आवश्यकता होती है। इस भयंकर दशा में पापियो का भी तो भला नही होता, क्योकि दो मिलकर एक को लूट खाते हैं और बहुत-से मिलकर दो को लूट लेते हैं। जो दास नहीं हैं, अराजक दशा में उन्हे दास बना लिया जाता है और स्त्रियो का बलपूर्वक अपहरण किया जाता है।"

प्राचीन भारतीय विद्वान धर्म की स्थिति के लिए राजा को अनिवार्य समझते थे। यह पहले कहा जा चुका है कि अराजक दशा मे धर्म नही रह सकता। धर्म क्या सामान्य जीवन भी राजा के बिना नही रह सकता। प्राणियो का उत्पत्ति-क्रम जारी रखने के लिए राजा चाहिए ही। धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्ग की प्राप्ति राज्य के बिना नही हो सकती।[१] मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह किसी नियामक के बिना नियन्त्रण मे रह ही-नही सकता। समाज मे जहाँ कही भी सुव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण नियामक की सत्ता है। यदि मनुष्य सामाजिक मर्यादाओ एव बन्धनो के अधीन न रहे, तो उसकी स्वच्छदता के फल-स्वरूप फिर अराजक दशा उत्पन्न हो जायगी। इस नियामक सत्ता के लिए महाभारत के शान्ति-पर्व तथा अन्य राज्य-विज्ञान के ग्रन्थो मे 'दण्ड' शब्द का प्रयोग किया गया है

'मनुष्य कही सम्मोह में पड़कर नष्ट न हो जाये, सम्पत्ति की रक्षा की जा सके, इसके लिए कोई मर्यादा चाहिए। इसी मर्यादा का नाम दण्ड है।"[२]

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १५, श्लोक ३
२ " " " १५, श्लोक १०

महाभारत में मानव-स्वभाव के सम्बन्ध मे लिखा है—

"वह (मनुष्य) यदि यज्ञ करता है या दूसरे की भलाई करता है, तो केवल दण्ड के भय से। यदि वह दान करता है, तो केवल दण्ड के भय से। मनुष्य जो ठीक रास्ते पर चलता है, अपने व्यवहार को स्थिर रखता है उसका एक मात्र कारण दण्ड है।"[१]

इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। भारतीय विचारकों के मतानुसार राजा ही धर्म, अर्थ, काम की उत्पत्ति का मूलाधार है। प्राचीन काल मे राजा की इस महत्ता के कारण ही कुछ विचारकों ने राजा मे दैवी शक्ति की कल्पना की। पद्म-पुराण मे लिखा है—'राजा नारायण या परमेश्वर के अंश से उत्पन्न हुआ है, वह किसी भी अवस्था में मनुष्य नहीं है।"[२]

यूरोप मे मध्यकाल मे यूरोपीय विचारक तथा राजा राज्य की उत्पत्ति के ईश्वरीय या दैवी अधिकार में विश्वास करते थे। इस मत का पूर्ण विकास इग्लैण्ड मे स्टुअर्ट शासको और फ्रास मे चौदहवे लुई के समय मे हुआ। चौदहवाँ लुई बड़े गर्व के साथ कहा करता था—'मै राजा हूँ। मेरी इच्छा राज्य की इच्छा है। मेरी आज्ञा राज्य का कानून है।' इसी सिद्धान्त के आधार पर इग्लैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम और जेम्स अपने विरुद्ध आन्दोलन करनेवालो को ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन करने का अपराधी समझकर दण्ड दिया करते थे।

यद्यपि भारतवर्ष मे राज्य का दैवी सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल मे प्रचलित था, तथापि उसका इतना विकास नही हुआ था। वैदिक काल में राजा को ईश्वर या ईश्वर का प्रतिनिधि नही समझा जाता था। भारत में कुछ मध्यकालीन विचारको ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति का कारण यह था कि व्यक्ति पारस्परिक लूटमार,

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १५, श्लोक १२-१३

२. बालोऽपि नावमंतव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

अन्याय और अव्यवस्था के परिणामस्वरूप दु खी थे, अत उन्होने इकट्ठे होकर यह निश्चय किया कि समाज मे नियम और मर्यादा द्वारा शाति और सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा के लिए राज्य की स्थापना की जाये।

राज्य के आवश्यक अंग

'राज्य' शव्द एक निश्चित प्रदेश मे वैध ढग से ऐसी सुव्यवस्थित प्रजा का वोवक है जिसकी सख्या चाहे कम हो या अधिक, पर जो स्थायी रूप से उस प्रदेश मे रहनेवाली हो और वाह्य नियत्रण से मुक्त हो। साथ ही जिसका अपना शासन हो और जो स्वभावत उसकी आज्ञा-पालक भी हो। राज्य के प्रमुख अग निम्नलिखित है—

१ प्रजा—यह राज्य का प्रमुख और अनिवार्य अग है। प्रजा के अभाव में राज्य की कल्पना सम्भव नही, पर राज्य के लिए प्रजा की सख्या निर्धारित नही है। प्राचीन युग मे रोम और यूनान मे नगर-राज्य थे। परन्तु जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, युद्धो का भय अधिकाधिक वढता गया तथा नवीन-नूतन आविष्कारो की वृद्धि होती गयी, वैसे-वैसे राज्य वडे-वडे होते गये और एक-एक राज्य मे ३०-३० और ४०-४० करोड की प्रजा रहने लगी।

२ भू-खण्ड—प्रजा की तरह भू-खण्ड—निश्चित भू-खण्ड भी आवश्यक अग है। भू-खण्ड के विना भी राज्य की कल्पना सम्भव नही। यदि कोई जन-समुदाय समाज द्वारा निर्धारित नियमो का पालन करे भी और उसका एक प्रमुख भी हो, परन्तु यदि वह एक निश्चित भू-खण्ड मे स्थायी रूप से निवास न करे तो वह राज्य का निर्माण नही कर सकता। जन-समुदाय राज्य का निर्माण उसी दशा मे कर सकता है, जव कि वह किसी प्रदेश मे स्थायी रूप से निवास करता हो। यह भू-खण्ड ऐसा होना चाहिए कि जिसपर किसी वाहरी सत्ता का अधिकार या नियन्त्रण न हो।

३ हित-एकता—राज्य के निर्माण के लिए एक निर्दिष्ट भूखण्ड पर रहनेवाली प्रजा मे हितो की एकता का होना भी आवश्यक है। भाषा, सस्कृति, इतिहास और धर्म की दृष्टि से उनमे सामजस्य होना जरूरी

है। जिस राज्य की प्रजा मे स्वाभाविक रूप से धार्मिक, सास्कृतिक, ऐतिहासिक एव भाषा-सम्बन्धी एकता एव सामजस्य नही होता, उस राज्य मे सामाजिक शाति स्थायी नही रहती। जातीय एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। राज्य की जनता मे जाति, धर्म, सभ्यता, सस्कृति और भाषा-सम्बन्धी भेद-भाव ऐसे न हो जो राज्य-शासन और सामाजिक जीवन में अव्यवस्था और अशान्ति पैदा कर दे।

४ शासन—शासन भी राज्य का प्रमुख अग है। यदि किसी निश्चित प्रदेश मे जनता स्थायी रूप से रहती है और उसमे पारस्परिक एकता भी है, परन्तु यदि वह किसी शासन के अधीन नही है, तो वह राज्य नही कहला सकती। शासन के अभाव मे प्रजा के ऐसे सगठन धार्मिक, आर्थिक या साम्प्रदायिक ही हो सकते है—राजनीतिक नही हो सकते।

५ प्रभुता—प्रभुता भी राज्य का प्रमुख और आवश्यक अग है। प्रभुता का अर्थ यह है कि वह निर्दिष्ट प्रदेश जिसपर प्रजा स्थायी रूप से रहती है, और जिसका अपना शासन है, वह किसी बाह्य सत्ता के नियन्त्रण में न हो। स्वाधीनता के बिना कोई ऐसा प्रदेश राज्य नही कहला सकता। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष मे सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार ३५ करोड़ जन है। परन्तु भारत का शासन और प्रभुता भारतीय प्रजा के हाथ मे नही है। इसीलिए राजनीतिक परिभाषा मे भारत राज्य नही है।

राज्य और शासन में अन्तर

उपर्युक्त विवेचन से राज्य और शासन का अतर स्पष्ट है। सामान्यतया राज्य और शासन को पर्याय या समानार्थक माना जाता है। परन्तु ऐसी धारणा गलत है। राजनीतिक भाषा मे राज्य और शासन में बड़ा भारी अतर है। राज्य एक राजनीतिक समुदाय है और शासन उसका एक अग है। देश के सभी निवासी सामान्यतया राज्य के सदस्य होते है, परन्तु शासन-यत्र का सचालन अल्प-सख्यक प्रजा के हाथ मे होता है। यह तो सभव

है कि किसी राज्य की शासन-नीति मे परिवर्तन करना समस्त जनता के हाथ मे हो, परन्तु उस नीति के अनुसार शासन-प्रबन्ध का कार्य एक विशिष्ट वर्ग के हाथ मे होता है। शासन मे परिवर्तन होते रहते है; एक शासन का स्थान दूसरा शासन लेता है। परन्तु राज्य मे परिवर्तन नही होता वह स्थायी रूप से वैसा ही रहता है। शासन राज्य का अग है और राज्य की सुव्यवस्था के लिए शासन अनिवार्य है। यही कारण है कि शासन का महत्त्व राज्य से अधिक है।

राज्य और नागरिक

राज्य के सदस्य को नागरिक कहा जाता है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राजनीति के प्रोफेसर डा० श्री वेणीप्रसाद के मतानुसार प्राचीनकाल मे रोम-निवासी अधिकारो को ही नागरिकता समझते थे। जब रोम का साम्राज्य बढा तब नागरिकता की नयी श्रेणियाँ हो गयी। सबसे नीचे दर्जे की श्रेणी वह थी जिसमे लोगो को केवल दो-चार इने-गिने नागरिक-अधिकार ही प्राप्त थे और सबसे ऊँची श्रेणी वह थी जिसके लोगो को सभी नागरिक और सभी राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। वहाँ नागरिकता शब्द ही प्रचलित था, क्योकि एथेन्स तथा अन्य यूनानी बस्तियो की तरह रोम भी पहले-पहल वास्तव मे एक नगर-राज्य ही था। अधिकारो का सबध, सिद्धान्त और व्यवहार दोनो मे पहले केवल नागरिको से था। बाद मे एकान्तरूप से नागरिको के साथ उनका सबध केवल सिद्धान्त मे ही रह गया। सिर्फ नगर मे निवास करना ही नागरिक की योग्यता थी। जो नगर मे रहता था वही नागरिक कहलाता था। बाद को उसका यह अर्थ नही रह गया। नागरिकता का सम्बन्ध मुख्यत अधिकारो ही से रह गया। जो लोग नगर मे रहते लेकिन अधिकारो से वचित होते थे, वे नागरिक नही कहलाते थे। उदाहरणस्वरूप गुलाम नागरिक नही थे, यद्यपि कई पीढियो तक उन्होने नगर मे निवास किया था। इसके विपरीत वे लोग, जो असल मे नगर के अन्दर तो निवास नही करते थे, लेकिन नगर के सदस्य माने जाते और अधिकार-

युक्त होते थे, नागरिक कहलाते थे ।[१]

रोम और यूनान के नगर-राज्यो के निवासियो को 'नागरिक' कहा जाता था। उस समय नागरिकता से अभिप्राय नागरिक के अधिकारो से होता था और आधुनिक समय मे भी नागरिकता से यही अभिप्राय है। परन्तु आधुनिक युग मे नगर-राज्य नही है। उनके स्थान पर राष्ट्र-राज्य है। कालान्तर मे नागरिकता की भावना मे भी परिवर्तन हो गया है। नागरिकता का उदय रोम के छोटे-से नगर-राज्य मे हुआ, परन्तु आधुनिक युग मे वह समग्र देश-राज्य और राष्ट्र-राज्य मे व्याप्त हो गयी है। प्रत्येक नागरिक, चाहे वह नगर-निवासी हो चाहे ग्राम-निवासी, समानरूप से नागरिक अधिकारो का उपभोग कर सकता है।

प्रोफेसर डा० बेनीप्रसाद का यह मत है कि

"अधिकारो के लिहाज से ग्रामवासी भी उसी प्रकार नागरिक है जिस प्रकार शहरवाले। यह बात जरूर है कि नगर राजनीतिक जीवन, धन, सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि शहरवालो के हित के आगे हम गाँववालो के हित का विचार न करें। ग्रामवासियो के हित को नगर-वासियो के हित के अधीन करना उचित नहीं है। दोनो के हितो पर बराबर ध्यान रखना चाहिए। इसी प्रकार सबसे काम करने की आशा भी करनी चाहिए। व्यवसाय, सम्पत्ति-रक्षा, न्याय, कौटुम्बिक जीवन, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वतत्रता, सार्वजनिक जीवन, तथा संघ-समिति के अधिकार और उनके साथ लगे हुए कर्त्तव्य गाँववालो से उतना ही सम्बन्ध रखते है जितना कि नगर-निवासियों से।"[२]

हिन्दी-साहित्य मे 'नागरिक' शब्द का प्रयोग नगर-निवासी के अर्थ मे प्राचीन समय से होता रहा है। हिन्दी मे 'नागर' या 'नागरिक' शब्द का

---

१ डा० बेनीप्रसाद : नागरिक शास्त्र : चौथा अध्याय, पृ० ७४-७५, (सन् १९३७)

२. उपर्युक्त।

अर्थ है नगर मे रहनेवाला। प्राचीन-काल मे 'नागरिक' शब्द चतुर, शिष्ट तथा सभ्य के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता था। अग्रेजी मे 'सिटीजनशिप' का जो अर्थ है, वही अर्थ हिन्दी मे 'नागरिकता' का भी है।

इस सम्बन्ध मे सक्षेप मे यह जान लेना उचित होगा कि राजनीतिक भाषा मे 'नागरिक' और 'प्रजा' इन दोनो मे अन्तर है। स्वाधीन राज्य के निवासी नागरिक कहलाते है, और परतत्र, अर्द्धपरतत्र या एकतत्र राज्य के निवासी 'प्रजा' कहलाते है, यद्यपि वैदिक और भारतीय साहित्य मे 'प्रजा' शब्द का प्रयोग नागरिक के अर्थ मे ही किया गया है। वेदो के अनेक मत्रो मे राजा-प्रजा के कर्त्तव्यो और अधिकारो का उल्लेख मिलता है। किन्तु आधुनिक समय मे 'प्रजा' शब्द 'नागरिक' शब्द से हीन कोटि का है। 'प्रजा' से एक ऐसे जन-समुदाय का बोध होता है, जो ऐसे शासन के नियत्रण मे रहता है, जिसके सचालन में उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप मे हाथ नही।

परन्तु इस सम्बन्ध मे एक अपवाद है। इग्लैण्ड के नागरिक 'प्रजा' कहलाते है, यद्यपि वे नागरिकता के अधिकारो से युक्त हैं। दूसरी ओर भारत के निवासी भी प्रजा कहलाते है, नागरिक नही, यद्यपि भारतीयो को नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त नही है।

नागरिक-शास्त्र क्या है?

जिस समय यूनानियो ने अपने देश मे नगर-राज्यो की स्थापना की उसी समय मे रोमवासियो ने इटली मे वैसे ही नगर-राज्य स्थापित किये। वे नगर को 'सिविटस' कहते थे। अग्रेजी मे 'सिटी'—नगर—शब्द की उत्पत्ति इसी शब्द से हुई है। लैटिन भाषा के 'सिविस' शब्द का अर्थ नागरिक है। प्राचीन समय में यूनान मे 'पॉलिटिक्स' शब्द का प्रयोग नगर के मामलो के सम्बन्ध मे किया जाता था। इसी प्रकार इटली मे नगर के मामलो के सम्बन्ध में 'सिविक्स' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार भाषा-विज्ञान के अनुसार पॉलिटिक्स, राजनीति, 'सिविक्स' और नागरिक-शास्त्र का एक-सा ही अर्थ है। रोम और यूनान की

सभ्यता का प्रभाव समस्त यूरोप के देशो पर पडा और नागरिकता, नागरिक सभ्यता आदि शब्दो का प्रयोग अन्य भाषाओ मे भी होने लगा। यही कारण है कि राजनीति और नागरिक शास्त्र मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनके बीच विभाजक रेखा खीचना असम्भव नही तो कठिन जरूर है।

राजनीति-विज्ञान और नागरिक-शास्त्र दोनो ही का राज्य के नागरिको से सम्बन्ध है। वे मनुष्यो, मानव-समाज तथा राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का विवेचन करते है। नागरिकों के अधिकारो और राज्य के प्रति उनके कर्त्तव्यो का प्रतिपादन नागरिक-विज्ञान का विषय है। नागरिक-शास्त्र ऐसी अवस्थाओ और परिस्थितियो का निर्देश करता है जो नागरिको के अनुकूल होती है और जिनमे रहकर वे व्यक्तिगत एव सामाजिक उन्नति कर सकते है। नागरिक-शास्त्र इस बातका विवेचन करता है कि नागरिक-जीवन किस प्रकार उत्तम और सुखी बनाया जा सकता है। नागरिक जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए राज्य की ओर से क्या-क्या सुयोग, सुविधाएँ होनी आवश्यक है, किन-किन कार्यो मे राज्य को व्यक्तियो के कार्यो मे हस्तक्षेप करना चाहिए और ऐसे कौन-से उपाय है जिनके द्वारा प्रत्येक नागरिकको यह विश्वास हो जाये कि वह शान्तिपूर्वक अपने श्रम के फल का उपभोग करता हुआ अपने राष्ट्र, नगर और विश्व मे शान्ति-स्थापित करनें मे योग दे सकेगा।

राजनीति-विज्ञान और नागरिक-शास्त्र में अन्तर

विषय की दृष्टि से इन दोनो में तनिक भी अन्तर नही है। भेद केवल इतना ही है कि एक जिस बात पर अधिक जोर देता है दूसरा उसपर उतना जोर नही देता। निम्नलिखित तुलनात्मक वर्णन से यह सहज मे जाना जा सकता है—

राजनीति-विज्ञान	नागरिक-शास्त्र
१ राजनीति-विज्ञान विशेषत राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय विषयो	१ नागरिक-शास्त्र विशेषत स्थानीय विषयो से सम्बन्ध रखता

का विवेचन करता है ।

है ।

२ राजनीति-विज्ञान राजनीतिक सस्थाओ और व्यवस्थाओ के विकास का इतिहास बतलाता है ।

२ नागरिक-शास्त्र उसविकास को पहले से ही मान लेता है ।

३ राजनीति-विज्ञान मुख्यत अधिकारो और उनकी प्राप्ति के उपायो पर जोर देता है ।

३ नागरिक-शास्त्र मुख्यत कर्त्तव्यो और उनके सम्पादन के लिए आवश्यक शिक्षा और आचरण पर जोर देता है ।

अत यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नागरिक-शास्त्र का विषय समूचे नागरिक-जीवन को श्रेष्ठ बनाना है—उसकी उन्नति करना है । वह सामाजिक अवस्थाओ और परिस्थितियो की जाँच-पडताल करता है, इसलिए विज्ञान है और अनुसधान के परिणामो का उपयोग नागरिक जीवन की उन्नति के लिए करता है, इसलिए वह कला भी है ।

: २ :

नागरिक शिक्षा

नागरिक-शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

नागरिक-शास्त्र का उद्देश्य नागरिक-जीवन को पूर्ण और श्रेष्ठ बनाना है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह नागरिक के कर्तव्यो और उत्तरदायित्वो का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके उनका पालन करे। यह ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब वह नागरिक-शास्त्र का भली भाँति अध्ययन करके उसके सिद्धान्तो, आदर्शो एव नियमो के अनुसार अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करे। भारत मे स्कूलो और कालेजो के छात्रो व छात्राओ को यह विषय पढाया जाता है। परन्तु यह विषय वैज्ञानिक ही है। अभी तक नागरिक शास्त्र का अनिवार्य रूप से इन सस्थाओ मे अध्ययन नही किया जाता। इस कारण अधिकाश छात्र नागरिक-शास्त्र के सिद्धान्तो व नियमों से अनभिज्ञ ही रहते है। इसका परिणाम प्रत्यक्षत व्यावहारिक जीवन मे देख पडता है। हममे नागरिक-भावना के अभाव का यह एक बडा कारण है।

प्रजातत्र की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य के नागरिको को शासन-कार्यो के प्रति दिलचस्पी हो। जिस राज्य के नागरिक स्वदेश की राजनीति मे अधिक दिलचस्पी लेते है, उसमें प्रजातत्र की सफलता की अधिक सभावना होती है। जबसे भारत के ११ प्रान्तो में 'प्रान्तीय स्वशासन' की स्थापना हुई है, तबसे शासन-कार्य मे जनता को दिलचस्पी पैदा होने लगी है। जनता अपनें अधिकारो की रक्षा के लिए सतर्क होगयी है। यदि शासन नागरिकों के अधिकारो पर कुठारा-घात करनेवाली किसी नीति या कार्य को करने का निश्चय करे, तो यदि नागरिक अपने अधिकारो के प्रति सतर्क है, वे उसका विरोध करके सरकार को उसे बदल देने के लिए बाध्य कर सकते है।

भारत मे शिक्षा-शास्त्री और लोक-नेता यह अनुभव करने

लगे है कि भारत की शिक्षा-प्रणाली का पुर्नानर्माण इस ढग से किया जाये कि उसमे भारतीय सस्कृति का पूरा विचार रखते हुए नागरिकता के श्रेष्ठ आदर्शो को स्थान मिले, जिससे शिक्षा जीवनोपयोगी बनने के साथ-साथ जीवन को ऊँचा उठानेवाली भी बन सके। वर्धा-शिक्षा-कमेटी की रिपोर्ट मे इसी मत का प्रकाशन किया गया है। इस रिपोर्ट के योग्य लेखको का यह मत विचारणीय है कि

"हमारी यह आकांक्षा है कि वे अध्यापक और शिक्षा-विशारद जो इस नवीन शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग को अपने हाथो में ले, इस योजना में निहित नागरिकता के आदर्शो को भलीभांति समझ ले। आधुनिक भारत में नागरिकता देश के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में अधिकाधिक प्रजातन्त्रीय हो जायगी। कम-से-कम नये युग की सन्तति को अपनी समस्याओ, अपने कर्त्तव्यो और अधिकारो को जानने-समझने के लिए सुयोग मिलना चाहिए। नागरिक कर्त्तव्यो एवं अधिकारो के विवेकपूर्ण उपभोग के लिए कम-से-कम शिक्षा-प्राप्ति के निमित्त एक सर्वथा नयी प्रणाली की आवश्यकता है। दूसरे, आधुनिक समय में, विवेकशील नागरिक को समाज का सक्रिय सदस्य बनना चाहिए। उसमें इतनी क्षमता हो कि वह अपने समाज के सदस्य की हैसियत से किसी उपयोगी सेवा के रूप में समाज को प्रतिदान कर सके।"[१]

इतिहास का अध्ययन और नागरिकता

इतिहास, भूगोल, समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, नागरिक-शास्त्र आदि सब विज्ञान सामाजिक विज्ञान है। इन विज्ञानो का मानव-समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अथवा यो कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मानव-समाज के आधार पर ही इन विज्ञानों का विकास हुआ है। इन विज्ञानो का परस्पर इतना घनिष्ठ सबध है कि हम उन्हे एक को दूसरे से अलग करके समझ नही सकते। वास्तव मे वे मानव-समाज

१ वर्धा-शिक्षा समिति की रिपोर्ट (१९३७)

पर विचार करने के विभिन्न दृष्टिकोण है ।

इतिहास मानव-समाज की अतीत काल की घटनाओं, कार्यो, ज्ञान और अनुभवो का वैज्ञानिक वर्णन है । प्राचीन युग के मानव-समाज के रीति-नियमादि के अध्ययन के आधार पर ही सामाजिक विज्ञानो का विकास हुआ है । नागरिक शास्त्र के उपादान तो स्पष्टत इतिहास से प्राप्त किये गये है । समाज की अवस्था के विकास के साथ-साथ, उसके आदर्शो, नियमों एव अवस्थाओ मे भी परिवर्तन होते रहते है । इन परिवर्तनो और अनुभवो के प्रकाश मे सामाजिक विज्ञानो मे भी परिवर्तन होते रहते है । अत इतिहास के साथ साथ नागरिक-शास्त्र का भी अध्ययन जरूरी है ।

सामाजिक विज्ञानों का उद्देश्य

सामाजिक विज्ञानो के अध्ययन का उद्देश्य यह है कि मानव-जाति के उत्कर्ष और कल्याण के लिए नागरिको मे मानव-हित का सम्यक् विकास हो । समाज मे जो अभाव और जो आवश्यकताएँ है, उनकी पूर्ति के लिए नागरिको को प्रेरणा व स्फूर्ति मिले । नागरिको मे मातृ-भूमि के लिए भक्ति-भावना तथा मानव के प्रति अनुराग पैदा हो और वे सत्य, न्याय, प्रेम के आधार पर समाज-रचना कर सके । नागरिको को अपने कर्त्तव्यो तथा उत्तरदायित्वो का ज्ञान पैदा हो और वे अपने अधिकारो की प्राप्ति, रक्षा एव भोग कर सके । साराश यह है कि मानवता के चरम उत्कर्ष के लिए नागरिको को सामाजिक विज्ञानो का अध्ययन करना अनिवार्य है । यदि मानव-हित की भावना से इनका अध्ययन करके, उनके द्वारा प्रतिष्ठित मानवीय आदर्शो के अनुसार अपने जीवन को सुसस्कृत बनाया जाय तो विश्व मे सहकारिता, न्याय, प्रेम और सत्य का राज्य स्थापित होना असभव नही ।

नागरिक-शास्त्र के अध्ययन की पद्धति

नागरिक-शास्त्र का अध्ययन केवल ज्ञान-वर्द्धक ही नही होना चाहिए

वल्कि उसे शिक्षाप्रद और प्रयोगात्मक भी होना चाहिए। नागरिक शिक्षा ज्ञानवर्द्धक के साथ शिक्षाप्रद और प्रयोगात्मक होनी चाहिए। आजकल स्कूलो व कालेजो मे इस विषय की जो शिक्षा दी जाती है, वह केवल ज्ञानवर्द्धक ही है। व्यावहारिक न होने से वह जीवनोपयोगी नही है।

नागरिक-शिक्षा ज्ञान-वर्द्धक हो—इसका अभिप्राय यह है कि पाठक को नगर की, देश की और ससार की स्थिति और अवस्था का ज्ञान हो जाये। देश के राष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों का ज्ञान जरूरी है। देश की नागरिक, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव राजनीतिक अवस्था का ज्ञान प्रत्येक नागरिक को होना चाहिए। इस आवश्यक ज्ञान के अभाव मे वह अपने कर्त्तव्य कार्यों का यथाविव पालन नही कर सकता।

नागरिक-शिक्षा शिक्षाप्रद भी हो—इसका मतलब यह है कि नागरिको को शिक्षा ऐसे ढग से दी जाये कि वे अपने परिवार, पाठशाला, कालेज, पडौस, बस्ती, ग्राम, नगर, समाज, राज्य और अन्त मे विश्व के मानवों के प्रति सामाजिक व्यवहार के आधारभूत सिद्धान्तों को हृदयगम कर सके। उन्हे अपना नागरिक जीवन सुखी और श्रेष्ठ बनाने के लिए पथ-प्रदर्शन मिले तथा उनमे सामाजिक सस्थाओ के प्रति आदर और श्रद्धा पैदा हो तथा वे उनके सचालन एव प्रबध मे सहयोगपूर्वक भाग ले सके। नागरिको को इस प्रकार से शिक्षा दी जाये कि वे लोक-सग्रह, सामाजिक न्याय, सहकारिता, राष्ट्रीय एकता और अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता के सिद्धान्तो को भली भाँति समझ ले।

नागरिक-शिक्षा सैद्धान्तिक होने के साथ-साथ प्रयोगात्मक एव व्यावहारिक भी हो। नागरिक शिक्षा और नागरिक जीवन मे स्पष्ट सबध होना चाहिए। जिस प्रकार रसायन या भौतिक विज्ञान के विद्यार्थी अपनी प्रयोगशाला में परीक्षण करते है, उसी प्रकार नागरिक-शास्त्र के विद्यार्थियो को मानव-समाज की प्रयोग-शाला मे प्रयोग करने का अवसर मिलना चाहिए। स्वदेश और संसार के मानव समाज के सस्कारों, रीति-रिवाजो, सामाजिक दशाओ और नागरिक दशाओं का अध्ययन

और अन्वेषण करके नागरिक जीवन के अनेक तथ्यो का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है यही नागरिक शिक्षा की व्यावहारिकता है। अपने नगर या ग्राम के जन-समाज की सामाजिक स्थिति, जीवनचर्या, आर्थिक जीवन आदि की जाँच-पडताल द्वारा प्रयोग शुरू किया जा सकता है और समय और सुविधा के अनुसार यह प्रयोग एक बडे पैमाने पर भी किया जा सकता है।

नागरिक-शिक्षा के लिए तीक्ष्ण बुद्धि, कल्पना-शक्ति, सहानुभूति और सेवाभाव की बहुत जरूरत है। नागरिक-शास्त्र के विद्यार्थी को विचार-शक्ति से अधिक काम लेना चाहिए। अपने से अधिक श्रेष्ठ विद्वानो के विचारो, सिद्धान्तो और सम्मतियो से प्रभावित होकर, तर्क की कसौटी पर उन्हे परखे बिना अपनाने से उसका प्रयोग निष्पक्षता से पूरा नही हो सकता। विद्यार्थी को चाहिए कि वह देश या ससार के मानव-समाज की स्थितियो और सामाजिक जीवन की जाँच-पडताल करते समय साम्प्रदायिक या सकीर्ण मनोवृत्ति से काम न ले। उसमे कल्पना-शक्ति की भी आवश्यकता है। कल्पना-शक्ति के अभाव मे उसका प्रयोग सफल हो सकेगा, इसमे सन्देह है। जब हम समाज के विभिन्न व्यक्तियो, समुदायो और वर्गो की स्थितियो का निरीक्षण करते है, तो हम एक सीमा तक अपने को भी उन स्थितियो मे अनुभव करके, उनकी दशा पर विचार करते है। उदाहरणार्थ, अगर प्रयाग-विश्वविद्यालय का राजनीति का एक छात्र सयुक्तप्रान्त के किसी पूर्वी जिले के ग्राम-जीवन का अध्ययन और निरीक्षण करना चाहे तो उसे अपने मानसिक दृष्टिकोण में बडा परिवर्तन करना पडेगा। जिस छात्र ने अपने जीवन का अधिक समय होस्टलो मे सुख और आनन्द के साथ बिताया है, जिसने नागरिक जीवन के लिए विज्ञान और आधुनिक अन्वेषणो ने जो सुविधाएँ और साधन प्रदान किये है, उनका उपभोग किया है, जिसने सिनेमा, नाटक, थियेटर, सगीत तथा नृत्य का आनन्द उठाया है और जो हर समय 'शिक्षित वातावरण' मे साँस लेता रहा है, ऐसा विद्यार्थी यदि सहसा ग्राम-जीवन के अध्ययन के लिए किसी गाँव को चल पडे तो उसकी सारी दुनिया ही

बदल जायेगी। वह अपने को एक सर्वथा नये और अपरिचित वातावरण मे पायेगा। इस ग्राम-जगत की झॉकी के लिए उसे एक ग्रामीण बनना होगा और ग्रामीण बनकर ही वह उनके मनोभावों, विचारों, अभावो और आवश्यकताओ को जान और समझ सकेगा, अन्यथा नही। इसके लिए उसे कल्पना-शक्ति की आवश्यकता पडेगी। उसमे सेवा-भाव का भी होना जरूरी है। इसके बिना वह जीवन का अध्ययन सफलतापूर्वक नही कर सकेगा। सेवा-भाव सहानुभूति से उत्पन्न होता है। सहानुभूति का अर्थ है दूसरो के दुख-सुख की अनुभूति। विद्यार्थियो मे नागरिक भावना का विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि उनमे लोक-सग्रह की भावना जगायी जाये। समाज-सेवा के लिए विस्तृत क्षेत्र है। केवल जरूरत है विद्यार्थी-वर्ग मे समाज-सेवा के लिए सच्ची लगन की, प्रदर्शन की नही।

अपने गॉव के किसानो, अपने नगर के मजदूरो तथा दूसरे शोषित वर्गो के सामाजिक और आर्थिक जीवन की जाँच-पडताल की जा सकती है। इस प्रकार वे उनके जीवन को सुधारने के लिए उपाय सोच सकते है। इस प्रकार के कार्यो से न केवल उनका ज्ञान ही बढेगा बल्कि वे पीडित मानवता की सेवा भी कर सकेगे।

विश्वविद्यालयो और कालेजों के छात्र एव छात्राएँ 'सेवासघ' बनाकर निकटवर्ती गॉवो के निवासियो के सम्पर्क मे आकर उनकी सामाजिक दशा का निरीक्षण कर सकते है। इन सेवा-सघो द्वारा ग्रामवासियो को स्वास्थ्य, ज्ञान और शक्ति का सन्देश दिया जा सकता है। साक्षरता के प्रसार के लिए प्रौढ-पाठशालाओ का सचालन, रोगियो की सेवा, जनता मे स्वास्थ्य के सिद्धान्तो व सफाई के नियमो का प्रचार, किसानो को अपनी कृषि तथा धन्धो मे सुधार करने के उपाय बतलाना, नगरों मे मजदूरो के स्वास्थ्य के सुधार के लिए प्रयत्न करना आदि आदि जन-सेवा के अनेक मार्ग है। इन साधनो द्वारा नागरिक शिक्षा का व्यावहारिक अध्ययन किया जा सकता है।

मैसूर विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-उत्सव मे ६ अक्तूबर १९३८ को स्वर्गीय दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज ने अपने दीक्षान्त भाषण मे इसी प्रकार

के विचार व्यक्त किये थे

'मेरा ध्यान इस बात की ओर दिलाया गया है कि इस विश्व-विद्यालय के विद्यार्थी गाँवो में जाते है, और अपनी कल्पना के अनुरूप कार्य का प्रतीक मैने बंगलौर में शुरू कर दिये गये काम में पा लिया है। लेकिन मै तो चाहता हूँ कि इस दिशा में इससे भी अधिक एकनिष्ठ प्रयत्न किया जाये। क्या कोई ऐसा आश्रम या बस्ती नही हो सकती, जिसका विश्वविद्यालय से सीधा सम्बन्ध हो, जिसकी अपनी इमारतें हो और जहाँ विश्वविद्यालय के वे स्नातक जा सकें जो दीन-दुखियो के दुःख में घुल-मिल जाने का संकल्प कर चुके है ?'

: ३ :

मानव-समाज

मानव-समाज का संगठन

मानव - समाज अर्थात् समस्त ससार के मनुष्य जाति, रग, धर्म, सस्कृति, सभ्यता, राज्य-शासन-प्रणाली आदि कारणो से विविध समुदायो मे बँटे हुए है। ससार की जन-सख्या १ अरब ९९ करोड २५ लाख है। परिवार या कुटुम्ब सबसे छोटा मानव-समुदाय है। यह समुदाय सृष्टि के आदि से आज तक विद्यमान है और अन्त तक कायम रहेगा। परिवार ही वास्तव मे मानव-सगठन का मूल आधार है। उसका कार्य सतान का पालन-पोषण और सृष्टि-क्रम का सचालन है। यह कार्य मानव-जीवन मे सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए मानव सदैव परिवार की रक्षा के लिए प्रयत्नशील और जागरूक रहा है। परिवार के विनाश से मानव-समाज की सभ्यता तथा सस्कृति पर कैसा आघात होगा, इसकी कल्पना भयकर है।

जातियो के आधार पर मानव-समाज अनेक भागो मे बँटा हुआ है। जैसे —आर्य्य, अनार्य्य, द्राविड, अरब, पारसी, नीग्रो, हूण, नॉर्डिक, स्लेव, कैल्ट, नार्मन, सेक्सन आदि। धर्म के आधार पर भी अनेक विभाग है—हिंदू, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, कन्फूशियन, यहूदी आदि और इनके भी अनेक उप-विभाग है। ऐसे भी जन-समुदाय है, जो धर्म और ईश्वर में विश्वास नही करते। वे निरीश्वरवादी है। वर्त्तमान समय मे सोवियट रूस ईश्वर-विरोधी है। वर्ण अर्थात् रग की दृष्टि से भी मानव-समाज कई भागो मे विभाजित है—गौराग, पीताग, कृष्णाग इत्यादि। शीतप्रधान देशो मे गौराग जन है। ये अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते है। उष्ण देशो मे कृष्णाग मिलते है। चीन-जापान मे पीताग जन है। व्यावसायिक आधार पर भी मानव कई भागो मे विभाजित है—किसान, मजदूर, व्यापारी, पूंजीपति आदि। इनके अतिरिक्त प्रत्येक देश में सास्कृतिक समुदाय भी है—विश्व-

विद्यालय, विद्वन्मण्डल, संगीत-परिषद्, नाट्य-परिषद्, साहित्य-परिषद् आदि। कुछ मानव-समुदाय स्वतन्त्र है, दूसरे परतन्त्र है और कुछ ऐसे भी है जो स्वतन्त्र देशो के प्रभाव मे है अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र है।

इन समस्त समुदायो मे राज्य, धर्म और जाति-सम्बन्धी समुदाय ही प्रमुख है। आज के मानव-समाज मे ये तीन तत्त्व मानव-एकता, मानव-सगठन और विश्व-शान्ति के लिए महान् सकट सिद्ध हो रहे है।

ससार में प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य उग्र राष्ट्रवादी है। वह ससार के दूसरे राष्ट्रो को अपने आधिपत्य, प्रभाव या अधिकार मे लाना चाहता है। आज यूरोप, अमरीका, एशिया और अफ्रीका मे इसका प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। जर्मनी समस्त ससार में चक्रवर्ती राज्य की कामना करता है। इसी उद्देश्य से वह यूरोप में युद्ध मे तल्लीन है। जापान एशिया का शिरोमणि होना चाहता है और इसलिए वह चीन और हिन्द-चीन को दबाता हुआ ब्रह्मा की ओर पैर बढा रहा है। इटली रोमराज्य का मधुर स्वप्न देख रहा है, इसलिए अफ्रीका मे वह बमवर्षा कर रहा है। इस प्रकार ये स्वाधीन राष्ट्र-राज्य ससार की स्वाधीनता को कुचल रहे है।

धर्म, जो वास्तव मे मानव-समाज में एकता और आध्यात्मिक प्रेम तथा सहकारिता पैदा करने के लिए है, आज उग्र राष्ट्रवादी देशो की साम्राज्य-विस्तार की कामना की पूर्ति का साधन बन गया है। धर्म के नाम पर बडे-से-बडा पाप किया जा रहा है और उसे पवित्र कृत्य सिद्ध कराने के लिए धर्माचार्यो तथा पोप-पादरियो को खरीदा जा रहा है।

इसी प्रकार जाति (Race) की उग्र आत्म-चेतना आज संसार-सकट का कारण बन रही है। अबतक गोरी जातियाँ यह दावा करती रही कि हमें ईश्वर ने ससार की अन्य (काली, पीली, भूरी) जातियो को सभ्यता का सन्देश देने के लिए पैदा किया है, हमी ससार पर आधिपत्य करने के योग्य है, परन्तु अब इस युग मे जर्मनी मे हेर हिटलर का यह दावा हो रहा है कि केवल जर्मन ही पवित्र आर्य्य जाति के है, शेष यूरोप की जातियाँ वर्ण-सकर है। इसी कारण जर्मन रक्त की पवित्रता की रक्षा करने

के लिए हिटलर ने अपने राज्य से यहूदियो को देश-निकाला दे दिया।

पिछले महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद यूरोप के राष्ट्रो ने धर्म राज्य तथा जाति के बन्धनों से ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के विकास के लिए राष्ट्रसघ की स्थापना करने का प्रयत्न किया। परन्तु उसमे उन्हे सफलता नही मिली।

संसार के महान् राज्य

आधुनिक काल मे ग्रेट-ब्रिटेन, सयुक्त-राज्य अमरीका, सोवियट रूस, जर्मनी, फ्रास, जापान, इटली, चीन विश्व के महान् राज्य है। पृथ्वी पर चार बडे-बडे महाद्वीप है—एशिया, यूरोप, अफ्रीका और अमरीका (उत्तरी व दक्षिणी)। इनमे अमरीका की राजनीति की कुजी सयुक्त-राज्य अमरीका के हाथ मे है। दक्षिणी अमरीका के राज्यो पर उसका प्रभाव और अधिकार है। प्राय १०० वर्षो से सयुक्त-राज्य मुनरो-सिद्धान्त के अनुसार यूरोपीय राष्ट्रो के हस्तक्षेप से दक्षिणी अमरीका को मुक्त रखे हुए है। इसके बाद ग्रेट-ब्रिटेन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह ब्रिटिश राष्ट्र-समूह की धुरी है और उसके चारो ओर उपनिवेश तथा पराधीन देश है। दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कनाडा और आयरलैण्ड में ब्रिटेन का साम्राज्य है। भारतवर्ष भी १५० वर्षो से ब्रिटेन के आधिपत्य मे है। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य आज ससार मे सबसे वडा राज्य है।

विश्व-राजनीति मे यूरोप का स्थान अन्यतम है। यूरोप मे ब्रिटेन फ्रास, इटली, जर्मनी और रूस ये पाँच बडे राज्य है। आजतक यूरोप के इन देशो मे शक्ति-साम्य के लिए बराबर सघर्ष और विग्रह होते रहे है। कभी किसी देश का प्रभाव अधिक बढ गया, तो दूसरे देश को उसका प्रभाव घटाने की चिन्ता हो गयी। इस प्रकार यूरोप सदैव युद्ध-भूमि रहा है।

पिछले महायुद्ध के बाद यूरोप मे कई नये देश बनाये गये। इसके फल-स्वरूप यूरोप मे इस समय ३४ राज्य है। इनमे केवल अभी कहे गये

पाँच राज्य वडे है और वे शेष २९ राज्यों पर अपना प्रभाव वनाये हुए है। जव उनको अपने किसी हित मे वाधा जान पडती है तो वे दूसरे राष्ट्र में अपने अल्पमत की रक्षा के नाम पर युद्ध मे प्रवृत्त हो जाते है। वर्तमान् यूरोपीय युद्ध का आरम्भ भी इसी वहाने हुआ है। जर्मनी का यह अभियोग था कि पोलैण्ड में वसनेवाले जर्मनो के साथ पोल (पोलैंडवासी) वडे नृशस और भीषण अत्याचार करते है। उनकी रक्षा के लिए ही जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया, ऐसा हेर हिटलर का दावा है। यूरोप के इन वडे राष्ट्रों के अफ्रीका और एशिया में साम्राज्य है—उपनिवेश है, प्रभाव-क्षेत्र है। प्रत्येक महान् राष्ट्र का सदैव यही प्रयत्न रहा है कि वह अपने साम्राज्य, उपनिवेशो तथा प्रभाव-क्षेत्रों को सुरक्षित रखे तथा उनमें वृद्धि करे।

संसार की पराधीन जातियाँ

एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका मे पराधीन और अर्द्ध-परतत्र जातियो की प्रधानता है। सन् १९२९ की जन-सख्या के अनुसार ससार के समस्त देशो की कुल जन-सख्या १,९९,२५,२९,००० है।[१] एशिया, अफ्रीका और अमरीका मे ब्रिटेन, फ्रास, इटली, जापान, सयुक्त-राष्ट्र, नैदरलैण्ड, पुर्तगाल आदि देशो के साम्राज्य और उपनिवेश है। सन् १९१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध के पहले अफ्रीका मे जर्मनी के भी उपनिवेश थे; परन्तु वार्साई की सन्धि के अनुसार उनका अधिकार जर्मनी से ले लिया गया और वे मित्र-राष्ट्रो के नियत्रण मे आ गये। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत पराधीन जातियों की जन-सख्या ४० करोड ५८ लाख २४ हजार है। यह ससार मे सवसे वडा साम्राज्य है। इसके वाद नैदर-लैण्ड का स्थान है। इस देश के साम्राज्य के अन्तर्गत पराधीन जातियो की जनसख्या ६ करोड २ लाख १९ हजार है। फ्रास तीसरा साम्राज्यवादी राष्ट्र है। उसके साम्राज्य के अन्तर्गत पराधीन जातियो की आवादी

१ लीग ऑफ नेशन्स की 'स्टेटिस्टिकल ईअरवुक': १९३०-३१

५ करोड ७३ लाख २० हजार है। जापान का चौथा स्थान है। उसके साम्राज्य की जनसख्या २ करोड ६९ लाख २० हजार है।[१] सयुक्तराज्य अमरीका का पाँचवा स्थान है। इसके साम्राज्य की आबादी १ करोड ४२ लाख २८ हजार है। इटली का छठा स्थान है। अफ्रीका मे अबी-सीनिया उसका साम्राज्य है जिसकी जनसख्या १ करोड ३० लाख १० हजार है। सातवाँ स्थान पुर्तगाल का है जिसके साम्राज्य की जनसख्या ८० लाख ४ हजार है। वर्तमान यूरोपीय महायुद्ध से पूर्व जर्मनी ने आस्ट्रिया व चेकोस्लोवाकिया को अपने राज्य मे मिला लिया था।[२] इन पराधीन देशो के अतिरिक्त इग्लैण्ड, फ्रास, बेलजियम, दक्षिणी अफ्रीका यूनियन, न्यूज़ीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और जापान के अधि-कार मे राष्ट्रसघ द्वारा सौपे हुए वे देश भी है जिनका शासन-प्रबन्ध शासनादेश-प्रणाली से होता है। ऐसे प्रदेशो की कुल जनसख्या २ करोड २८ हजार है। इस प्रकार ससार मे प्राय ६०½ करोड की विशाल जनसख्या पराधीन है। इसमे ३५ करोड भारतीय भी शामिल है। इस प्रकार भारत की पराधीन जनसख्या ससार की पराधीन जनसख्या के आधे भाग से भी अधिक है।

---

१. जापान ने सन् १९३२ के बाद चीन पर आक्रमण करके जो उसके प्रदेश अपने अधिकार में ले लिये उनकी जनसंख्या इसमें शामिल नही है।

२. जर्मनी ने अप्रैल सन् १९३८ में आस्ट्रिया और सितम्बर १९३८ में चेकोस्लावाकिया को अपने राज्य में मिला लिया। इसी प्रकार इटली ने अलबानिया को अपने अधीन कर लिया। इन प्रदेशो की सख्या निम्न प्रकार है

आस्ट्रिया	—	६८ लाख
चेकोस्लोवाकिया	—	५० लाख
अलबानिया	—	११ लाख

एशिया के पराधीन राष्ट्र

एशिया मे केवल दो राष्ट्र ऐसे है जो पाश्चात्य देशों के साथ प्रतियोगिता में ठहर सकते हैं। वे हैं जापान और तुर्किस्तान। इन दोनों राष्ट्रो ने आधी सदी मे ही अपने देशो मे कायापलट करदी। एशिया मे जापान, चीन, ब्रह्मा, तुर्किस्तान, तिब्बत, नेपाल, भारत, लका, हिन्दचीन, स्याम, इन्डोनेशिया, फारस, सीरिया, इराक, फिलस्तीन, कोरिया और फिलिपाइन द्वीप आदि राष्ट्र हैं। इनमे भारतवर्ष, ब्रह्मा, तथा लका ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत हैं। फिलस्तीन राष्ट्रसघ के शासनादेश के अनुसार ब्रिटेन के नियत्रण मे है। सीरिया पर फ्रांस का नियत्रण है। नेपाल स्वतत्र राज्य है, तो भी वह ब्रिटेन के प्रभाव में है। हिन्दचीन मे फास का साम्राज्य है। इराक और सीरिया भी ब्रिटेन के कब्जे में है।

चीन यद्यपि स्वाधीन राष्ट्र है, तो भी उसकी दशा पराधीन राष्ट्र तक से गयी-बीती है। उसपर दस वर्षों से साम्राज्यवादी जापान की कोपदृष्टि है। उसने चीन के कई प्रान्तो का अपहरण कर लिया है और अब भी उसकी साम्राज्य-पिपासा शान्त नही हुई है। जापान का सिद्धान्त है कि एशिया एशियायी लोगो के लिए है। उसपर गैर-एशियायी राष्ट्रो को आधिपत्य जमाने का कोई अधिकार नही है। जापान जो आज से ५० वर्ष पहले औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछडा देश था, आज यूरोप से कला-कौशल सीखकर न केवल विज्ञान और कला की नकल अपने देश मे कर रहा है बल्कि वह यूरोप की जैसी भयकर स्थिति एशिया मे भी पैदा कर रहा है। उसने यूरोप के सैनिकवाद और साम्राज्यवाद की नकल करने में सफलता प्राप्त की है और आज एशिया जापान के साम्राज्यवाद से सहम रहा है।

चीन मे आन्तरिक कलह वर्षों से है। राष्ट्रीय एकता के अभाव से जापान ने सन् १९३१ में चीन पर आक्रमण कर दिया और उसके कई प्रदेशों को हडप लिया। उस समय जापान राष्ट्रसंघ का सदस्य था। चीन भी राष्ट्रसघ का सदस्य था। जब चीन पर जापान का आक्रमण

हुआ तो उसने राष्ट्रसघ से यह अनुरोध किया कि वह अपने विधान की १०वी और १५वी धारा के अनुसार जापान के विरुद्ध कार्रवाई करे। परन्तु राष्ट्रसघ ने चीन की सहायता के लिए कुछ भी नही किया। इससे जापान का उत्साह बढ गया और उसने सघ के विधान को ठुकरा दिया। उसने मचूरिया तथा मगोलिया के प्रदेश हड़प लिये तथा मञ्चूको नामक एक नाममात्र का स्वतत्र राज्य कायम कर दिया।

चीन मे न केवल जापान का हित है, बल्कि ब्रिटेन और सयुक्त-राज्य अमरीका के भी हित है। चीन के आर्थिक जीवन पर इन साम्राज्य-वादी राष्ट्रो का नियत्रण है। यहाँ तक कि विदेशी राष्ट्रो की सेनाएँ भी चीन मे है। चीन मे विदेशी राष्ट्रो की जनता चीन के न्यायालय तथा पुलिस के नियत्रण से भी मुक्त है। विदेशियो ने चीन मे अपने उपनिवेश स्थापित कर रखे हैं। उनकी चीन मे स्थानीय सरकारे भी है और चीन के समुद्रतट पर उनके बन्दरगाह भी हैं। ऐसा है स्वाधीन चीन जो परा-धीनता का बुरी तरह शिकार बना हुआ है।[1]

चीन के बाद दूसरा प्रमुख देश भारत है। भारत प्राय १५० वर्षो से ब्रिटेन के आधिपत्य मे है। इतने वर्षो तक पराधीनता की स्थिति मे रहने से भारतीयो का न केवल राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पतन ही हुआ है बल्कि उनका नैतिक पतन भी होगया है। पराधीनता शारीरिक बधन ही नही है; वह तो आत्मा को भी गिरा देती है। परन्तु अब अर्द्ध-शताब्दी से भारत मे राष्ट्रीय नवचेतन और राजनीतिक जागरण हो रहा है और सन् १९१४–१८ के यूरोपीय महायुद्ध के बाद तो भारतीय राष्ट्र मे नवचेतना इतनी अधिकता से आ गयी है कि उसके जीवन का कोई भी विभाग उसके आश्चर्यकारी प्रभाव से अछूता नही रहा है। महात्मा गाधी के नेतृत्व मे समस्त राष्ट्र की जनता मे एक अभूतपूर्व जागरण के लक्षण दिखायी देने लगे है।

---

१ लियोनार्ड वुल्फ : 'इटेलिजैण्ट मैंस वे टु प्रीवेंट वार' (१९३३) पृ० २०६

भारत मे विदेशी राज्य ने भारत को राष्ट्रीयता की चेतना प्रदान की है। आज भारत मे राष्ट्रीयता का अधिक प्रभाव है और इसने राष्ट्र के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक जीवन पर अपनी गहरी छाप लगा दी है। भारत के प्रान्तो मे ही नही बल्कि देशी राजाओ के राज्यो की जनता मे भी स्वाधीनता पाने की आकाक्षा उत्पन्न होगयी है। राष्ट्रीय-महासभा—काग्रेस—का भारत के राष्ट्रीय जीवन मे सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह भारत की सबसे अधिक शक्तिशाली सस्था ही नही है वरन् एक अपूर्व राष्ट्रीय शक्ति है। उसका लक्ष्य है भारत की जनता के लिए स्वाधीनता प्राप्त करना। आज भारतीय जनता स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर है। सन् १९३५ के भारतीय शासन-विधान के अनुसार भारत के ११ प्रान्तो में प्रान्तीय स्वशासन (उत्तरदायी शासन) की स्थापना १ अप्रैल सन् १९३७ से हो चुकी है। सात प्रान्तो मे काग्रेस-पार्टी के मत्रि-मण्डलो ने शासन चलाया है। काग्रेस उपर्युक्त शासन-विधान को राष्ट्र के लिए अपर्याप्त और असन्तोषजनक मानती है और उसे अस्वीकार्य घोषित करती है। भारत के दूसरे राजनीतिक एव साम्प्रदायिक वर्गो ने भी इस विधान को असन्तोषप्रद घोषित किया और विशेष रूप से विधान की सघ-योजना का काग्रेस और मुसलिम-लीग ने घोर विरोध किया यद्यपि विरोध करने मे दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न रहे है।

भारत की स्वाधीनता की समस्या आज बडी जटिल बन गयी है। भारत मे साम्प्रदायिक कलह के कारण राष्ट्रीय एकता का अभाव है। इसके अतिरिक्त देशी राज्यो के नरेश भी स्वाधीनता-प्राप्ति मे रोड़े अटकाते है। १ सितम्बर १९३९ को यूरोप मे महायुद्ध छिड जाने से ब्रिटेन पोलैण्ड की रक्षा के लिए युद्ध मे उतर पडा और भारत को भी युद्धरत राष्ट्र घोपित कर दिया। राष्ट्रीय महासभा ने ब्रिटिश सरकार की इस नीति पर असन्तोष प्रकट किया। उसका कहना है कि भारतीय जनता की सम्मति लिए विना उसे युद्ध मे शामिल करना उचित नही इस प्रकार युद्ध ने भारत में एक वडा वैधानिक सकट पैदा कर दिया है।

इराक, फिलस्तीन और सीरिया राष्ट्रसघ के शासनादेश के अनुसार

ब्रिटेन और फ्रास के नियन्त्रण मे है। सीरिया पर फ्रास का नियन्त्रण है।

फिलस्तीन अग्रेजो के सरक्षण मे है। वास्तव मे यह अरबों का देश है। एक अग्रेज हाई कमिश्नर उसका शासन-प्रबन्ध एक कमिटी की सलाह से करता है। अरब इस प्रकार के सरक्षण के सदा से विरोधी रहे है। जबसे जर्मनी ने यहूदियो को निकाल दिया है तबसे उनके उपनिवेश के लिए तरह-तरह की योजनाएँ सोची जा रही है। यहूदी और अरब ये दो विभिन्न जातियाँ है। यहूदियो मे बडे-बडे पूंजीपति है। उन्होने फिलस्तीन मे बसकर उसे चमन बना दिया है। उनकी आर्थिक दशा मे बडा सुधार हो गया है। परन्तु इन दोनो मे सघर्ष जारी है। अरब यह नही चाहते कि उनके देश का बँटवारा हो। दूसरी ओर यहूदियो की बढती हुई सख्या के लिए प्रदेश की आवश्यकता है। यहूदी-अरब सघर्ष का अन्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक शाही कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट मे यह सिफारिश की कि फिलस्तीन को अरब और यहूदियो मे बाँट दिया जाय। इस प्रकार अरबो मे और भी असन्तोष पैदा हो गया है।

सीरिया फ्रास के आधिपत्य मे है। परन्तु सन् १९२८ मे वहाँ उत्तर-दायी शासन की स्थापना कर दी गयी।

भारत के उत्तर मे स्थित तिब्बत देश पर भी ब्रिटेन का प्रभुत्व है। इन्डोनेशिया डच (हालैण्ड के) साम्राज्यवाद का शिकार है। इस देश मे सन् १९२७ से स्वाधीनता-प्राप्ति का आन्दोलन हो रहा है। परन्तु अभीतक उसे स्वतन्त्रता नही मिल पायी है।

हिन्द-चीन फ्रास का उपनिवेश है। उसकी प्रजा विदेशी शासन के विरुद्ध है। वह भी विदेशी बन्धन से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील है। इस समय जापान इस देश पर आक्रमण कर रहा है।

फिलिपाइन द्वीप पर सयुक्तराज्य अमरीका का आधिपत्य है। इस देश के निवासी वर्षो से स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए आन्दोलन कर रहे है। परन्तु उन्हे आजतक स्वतन्त्रता नही मिली है।

अफ्रीका के उपनिवेश

अफ्रीका सबसे पिछडा हुआ देश है। सोलहवी सदी मे जब दास-व्यापार बडे वेग के साथ चल रहा था, तब यूरोप की जातियो ने इस स्वर्ण-भूमि पर पदार्पण किया था। कई शताब्दियों तक सभ्यता का पाठ सिखानेवाले गोरो के सम्पर्क में रहते हुए भी आज अफ्रीका के असली निवासी सभ्यता और सस्कृति में बहुत पिछडे है। यूरोपीय जातियो को अफ्रीका मे अपना आधिपत्य जमाने के लिए अधिक सघर्ष या युद्ध नही करना पडा, क्योकि वहाँ की अधिकाश जातियाँ वन्य और असभ्य थी। उन्होने विदेशियो के चरणो में आत्म-समर्पण कर दिया। पिछले महायुद्ध (१९४१-१८) से पहले अफ्रीका मे जर्मनी के कई उपनिवेश थे। परन्तु शान्ति-सन्धि के अनुसार ये उपनिवेश ब्रिटेन, फ्रास और बेलजियम के अधिकार मे आगये।

टॅंगानिका ब्रिटेन के आधिपत्य मे चला गया। इसका कुछ उत्तरी-पश्चिमी भाग बेलजियम को मिला। जर्मन केमरूस का अधिकाश भाग फ्रास के हिस्से मे आया। टोगालैण्ड फ्रास और ब्रिटेन के बीच मे बाँटा गया। 'दक्षिणी अफीका यूनियन' ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश है। मिस्र पहले ब्रिटेन के अधीन था। परन्तु अब वह स्वतन्त्र राष्ट्र है। फिर भी ब्रिटेन का उसपर प्रभाव है। सन् १९३४ मे इटली ने स्वतन्त्र राज्य अबीसीनिया को युद्ध मे हराकर उसे अपने अधीन कर लिया। अब केवल लिब्रेरिया ही एकमात्र स्वतन्त्र राज्य है।

अमरीका में मुनरो-सिद्धान्त

सयुक्तराज्य अमरीका कई सदियो से यूरोप की राजनीति से अलग रहा है। वह यूरोप की सकटपूर्ण राजनीति की उलझन से अपने आपको सदैव बचाता रहा है। अमरीका के राष्ट्रपति वाशिङ्टन ने पहले-पहल १७ सितम्बर १७९६ को अपने भाषण मे यह भावना व्यक्त की कि अमरीका को यूरोपीय झगडो से अलग रहना चाहिए। इसके बाद सन् १८२३ में राष्ट्रपति मुनरो ने अपने सदेश मे अमरीका की नीति का

स्पष्टीकरण किया। इस सन्देश मे मुनरो ने यह घोषणा की कि यूरोप के राष्ट्रो को अब अमरीका (उत्तरी व दक्षिणी) मे अपने उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न नही करना चाहिए। यूरोपीय देशो के ऐसे युद्धो मे, जिनसे अमरीका का कोई सबध नही, वह भाग नही लेगा और न ऐसा करना उसकी नीति के अनुकूल ही है। यूरोपीय देशो ने साम्राज्य-स्थापना की भावना से अमरीका महाद्वीप मे प्रवेश किया तो उनका यह प्रयत्न अमरीका की शान्ति के लिए खतरा होगा। इस समय अमरीका मे जो यूरोपीय उपनिवेश या पराधीन राज्य है, उनके साथ अमरीका का सबध वैसा ही बना रहेगा और सयुक्तराज्य अमरीका उसमे हस्तक्षेप नही करेगा। यह सिद्धान्त 'मुनरो सिद्धान्त' के नाम से विख्यात है। इस सिद्धान्त का भविष्य में जो विकास हुआ उसके कारण सयुक्तराज्य समूचे अमरीका महाद्वीप का सरक्षक बन गया। इस समय समस्त अमरीका सयुक्तराज्य के आर्थिक साम्राज्यवाद का शिकार है। उसका अमरीका तट के निकटवर्ती द्वीपो पर अधिकार है। यही नही, सुदूर द्वीपो पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया है। हवाई और फिलिपाइन द्वीप सयुक्त-राज्य अमरीका के आधिपत्य मे है। इसके अतिरिक्त उसने क्यूबा, हेटी, साण्टो डोमीनगो के साथ सन्धि करके उनकी भी स्वाधीनता पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। पनामा और निकारागुआ राज्यो के चुनावो के समय सयुक्तराज्य की सेनाओ का प्रबन्ध रहता है। इन सब राज्यो की वैदेशिक नीति पर भी उसका प्रभाव है।

: ४ :

साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ

साम्राज्यवाद क्या है—इसका मर्मस्पर्शी और वास्तविक विवरण एक भारतीय विद्वान के शब्दो मे इस प्रकार है "स्वाधीनता और मानवता की राख से साम्राज्यवाद का जन्म हुआ है। बरसो नर-नारियो की आहों और अभिशापो से बना मुकुट साम्राज्य के सिर पर है। इसके कपडे लाल रग के है, इसके साथी अकाल, महामारी और भीषण रोग है। इसके आने के साथ भीषण आतंक छा जाता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। दूसरी भाषा, दूसरी सभ्यता और संस्कृति जबर्दस्ती से लाद दी जाती है। अपनी इच्छा को दूसरे की इच्छा का अनुगामी बनना पड़ता है। क्या यह साम्राज्यवाद दुनिया के लिए मंगलमय, सुखप्रद, और जीवनदाता हो सकता है ?"

यह है साम्राज्यवाद का सजीव स्वरूप। इससे अच्छी उसकी व्याख्या और क्या हो सकती है ! साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अन्तिम और निखरा रूप है। पूँजीवाद एक आर्थिक प्रणाली है। इसलिए साम्राज्यवाद भी आर्थिक है। आज का युग ही अर्थ-प्रधान है। राजनीति भी अर्थ-नीति की अनुचरी है। इसलिए आज के साम्राज्यवाद को आर्थिक साम्राज्यवाद कहा जाता है।

आर्थिक साम्राज्यवाद

आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव फ्रास की राज्य-क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति के बाद हुआ। फ्रास की राज्य-क्रान्ति का प्रभाव समस्त यूरोप पर पडा। फलस्वरूप यूरोप के अधिकाश देशो में प्रजातन्त्र का बोलबाला रहा। जनता ने स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन का अन्त कर के शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। इससे सारे यूरोप मे समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के आदर्श की धूम मच गयी। प्रजातन्त्र के

जनता का आर्थिक शोषण

यह तो ऊपर कहा जा चुका है कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अन्तिम सोपान है। पूँजीवाद जब उस स्थिति मे पहुँच जाता है जबकि किसी देश के पास अपार धन-राशि और तैयार माल जमा हो जाता है, जो स्वदेश की आवश्यकताओ की पूर्ति करने के बाद भी बच रहता है, तब तैयार अधिक माल को बेचने के लिए दूसरे देशो की खोज की जाती है। बस यही साम्राज्यवाद के उदय का कारण है। एक पूँजीवादी देश दूसरे पूँजीवादी देश मे अपना तैयार माल मुनाफे के साथ नही बेच सकता। इसीलिए वे ऐसे देशो की खोज करते है जो औद्योगिक दृष्टि से पिछडे हुए हो। ऐसे ही देशो मे वे अपना तैयार माल अधिक मुनाफे के साथ बेच सकते है और कच्चा माल सस्ते दामो मे खरीद सकते है।

साम्राज्यवादी राष्ट्र अधीनस्थ देश के उद्योग-धन्धो का नाश करके जनता को स्वदेशी धनोपार्जन के साधनो से वचित करता है तथा अपनी पूँजी से उस देश मे उद्योग-धन्धे खडे करता है। इस प्रकार पिछडे हुए देश मे वडे-वडे कारखाने खुल जाते है और साम्राज्यवादी राष्ट्र पूर्णतया उसके आर्थिक जीवन का नियन्त्रण करने लगता है। कालान्तर मे अधिकृत देश मे भी पूँजीवाद का शासन स्थापित होजाता है।

राष्ट्रीय जागरण का दमन

साम्राज्यवादी राष्ट्र का हित इस बात मे है कि वह अपने अधिकृत देश या उपनिवेश की प्रजा को सदैव प्रगति तथा प्रकाश से अलग रखे। वह उसे नवयुग की नवीन विचारधारा, ससार की सामाजिक क्रान्तियों के अमर सन्देश तथा ज्ञान-विज्ञान से वचित रखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। अधिकृत देश मे नवीन प्रगतिशील विचारधाराओ का प्रतिपादन करनेवाले साहित्य और रचनाओ पर रोक लगायी जाती है, समाचारपत्रो पर कड़ी नजर रखी जाती है और जब जनता मे विदेशी बन्धन से मुक्ति पाने के लिए नवीन चेतना का जागरण होता है तब उसे कुचल देने का प्रयत्न किया जाता है; क्योकि

साम्राज्यवादी राष्ट्र यह भलीभाँति अनुभव करता है कि राष्ट्रीय जागरण उसके हित के लिए घातक सिद्ध होगा। परन्तु सच तो यह है कि साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने सुव्यवस्थित कड़े शासन, दमन और शोषण से भी राष्ट्रीय जागरण को रोक नही सकता। ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध राजनीतिक लेखक प्रोफेसर श्री हैराल्ड लास्की का कथन है कि "साम्राज्यवाद पराधीन राष्ट्र की जनता में राष्ट्रीयता को जन्म देता है।" राष्ट्रीय जागरण तो साम्राज्यवाद की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, जिसे रोकने की शक्ति स्वय उसमें भी नही है।

भारत मे राष्ट्रीयता का उदय वग-भग के साथ होता है। इसी समय स्वदेशी-आन्दोलन शुरू होजाता है। सन् १९१४ मे जब यूरोपीय महायुद्ध शुरू हुआ, तब भारत में राष्ट्रीय असन्तोष अधिक बढ़ गया। इस असन्तोप को दबाने का ज्यो-ज्यो प्रयत्न किया गया, त्यों-त्यो वह उग्रतर होता गया। और जब युद्ध की समाप्ति पर भारत में रौलट बिल पास किया गया, तब भारतीय असन्तोष ने उग्रतम रूप धारण कर लिया। इसी समय महात्मा गाधी भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर उदय हुए। महात्मा गाधी ने दमन का विरोध करने के लिए जनता को अहिंसात्मक आन्दोलन का अस्त्र प्रदान किया। इससे जनता मे निर्भयता, साहस और बलिदान की भावना पैदा हुई।

सच तो यह है कि स्वाधीनता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। किसी भी राष्ट्र को किसी दूसरे राष्ट्र की जनता को इस मानवीय अधिकार से वचित करने का कोई अधिकार नही है। आजतक साम्राज्यवादी राष्ट्रो ने इस सत्य को अनुभव नही किया। परन्तु इस बीसवी सदी मे यह प्रकाश के समान स्पष्ट है कि कोई भी राष्ट्र सदा के लिए गुलामी मे नही रखा जा सकता। अधिकृत राष्ट्र मे राष्ट्रीयता का विकास और उत्तरोत्तर वृद्धि साम्राज्यवाद के जीवन के लिए सकट है।

विश्व की अशान्ति का कारण

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साम्राज्यवाद राष्ट्रीय स्वाधीनता

[का शत्रु है। यही नही, वह ससार मे अशान्ति का जनक भी है। सभी विद्वान यह स्वीकार करते है कि आधुनिक काल मे युद्धो का मूल कारण यही साम्राज्यवाद है। जिस देश के पास कोई उपनिवेश या साम्राज्य नही है वह उसकी प्राप्ति के लिए युद्ध पर उतारू होजाता है, और जो देश स्वय साम्राज्यवादी है वह अपने साम्राज्यवाद की रक्षा तथा उसकी वृद्धि के लिए युद्ध-क्षेत्र मे उतर आता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद उन राष्ट्रो के लिए एक दूषित चीज़ है जो साम्राज्यवादी नही है। साम्राज्यवाद की प्रणाली मे अशान्ति, असन्तोष और प्रतियोगिता तथा युद्ध के बीज मौजूद है। इसलिए यह ध्रुव सत्य है कि जबतक इस पृथ्वी पर साम्राज्यवाद, उसके अवशेष या साम्राज्यवादी भावना विद्यमान रहेगी, तबतक ससार मे शान्ति का स्वप्न देखना भी सभव नही और न उस समय तक किसी भी सभाव्य उपाय से सदैव के लिए युद्धों की रोक ही की जा सकती है।

: ५ :

अन्तर्राष्ट्रीयता

आधुनिक काल मे नागरिक-जीवन का सबध केवल अपने नगर, ग्राम या राज्य से ही नही, वल्कि समस्त ससार से है। मानवता परिवार, नगर और मातृभूमि से भी महान् है। परन्तु जाति, धर्म, रंग एव राष्ट्रीयता की उग्र भावना के कारण मानव-समाज कृत्रिम विभागो या समुदायों मे विभाजित होगया है। ससार मे जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जा रहा है, वैसे-वैसे मानव जाति यह अनुभव करती जा रही है कि धर्म, जाति और रग के भेद कृत्रिम है और मानव-एकता मे इन्हे बाधक नही होना चाहिए। अब ससार के मनुष्य यह अनुभव करने लगे है कि मानव-समाज का सगठन सत्य, न्याय और सहकारिता के आधार पर होना चाहिए। ससार के मानव-हितैपी वैज्ञानिको ने जो लोकोपयोगी आविष्कार किये है, उनके द्वारा मानव-एकता की भावना अधिक दृढ होती जारही है। बेतार के तार, रेडियो, दूर-दर्शन-यन्त्र आदि आविष्कारो ने मानव-एकता की स्थापना मे बडा सहयोग दिया है। यही नही, प्रत्येक देश और प्रत्येक युग मे ऐसे महापुरुप पैदा होते रहे है और आज भी ऐसे महापुरुप विद्यमान है जो सकीर्ण राष्ट्रीय बधनो से मुक्त मानवता के पुजारी है। भारतवर्प तो वैदिककाल से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श का समर्थक रहा है। अशोक और बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध ने विश्वबन्धुत्व के लिए क्रियात्मक प्रयत्न किया। आधुनिक युग मे भी महात्मा गाधी, विश्वकवि डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर[1] और प० जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीयता के पुजारी होने के साथ-साथ विश्व-नागरिक भी है। भारत की राष्ट्रीयता मानव-हित विरोधी नही है, इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीयता की पोपक है।

---

१. हाल ही में ७ अगस्त १९४१ को आपका देहावसान हो गया है।

अन्तर्राष्ट्रीयता क्या है ?

मानव-इतिहास मे आदिम काल से हम मानव-सम्बन्धो मे दो सिद्धातो के आधार पर सघर्ष देखते आरहे हैं ।

पहला सिद्धान्त है अराजकता और दूसरा है व्यवस्था । पहले सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य स्वच्छद वैयक्तिक स्वाधीनता का समर्थक रहा है । दूसरे सिद्धान्त के अनुसार वह समाज के हित और व्यक्तिगत हित के लिए व्यवस्था का समर्थक रहा है । आज ससार मे जितनी सस्थाएँ मानव-कल्याण के कार्य मे लगी हुई हैं, वे व्यवस्था के सिद्धान्त के अनुसार कार्य कर रही हैं । सदियो के कटु अनुभव के बाद मानव ने यह अनुभव किया कि सघर्ष और अराजकता नही, बल्कि पारस्परिक सहयोग और व्यवस्था ही समाज के कल्याण का श्रेष्ठ नियम है । यदि मानव-समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति किसी सर्वहितकारी नियम या मर्यादा का पालन न करके स्वच्छद रूप से अपनी इच्छाओ की पूर्ति करने लगे, तो वास्तव मे ऐसे समुदाय मे व्यक्तिगत स्वाधीनता की कल्पना तक सभव नही; क्योकि जहाँ कोई नियम, मर्यादा या व्यवस्था नही है, वहाँ कौन किसके अधिकार का आदर करने की सोचेगा ? और जब ऐसा न होगा तो कोई व्यक्ति सच्ची स्वाधीनता का उपभोग नही कर सकता । इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा । राज-पथ का प्रयोग करनेवालो के लिए यह नियम समाज ने निर्धारित कर दिया है कि वे बायी ओर रहे (Keep to the left) । अब यदि राजपथ का प्रयोग करनेवाले व्यक्ति, मोटर-कार चलानेवाले या ताँगे हाँकनेवाले इस नियम की अवहेलना करके स्वच्छदता से चले या हाँके तो इसका परिणाम यह होगा कि एक की स्वतत्रता दूसरे के लिए बाधा सिद्ध होगी । उनमे परस्पर सघर्ष होगा और उसका अन्तिम फल होगा विनाश ।

यदि हम सामाजिक सस्थाओ के विकास का अध्ययन करे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि मानव का प्रयत्न सहयोग और व्यवस्था की ओर अग्रसर रहा है । वह सघर्ष और अराजकता से अलग रहने के लिए प्रयत्नशील रहा है ।

प्रत्येक सभ्य राष्ट्र का शासन-प्रवध जनता या उसके प्रतिनिधियों द्वारा वनाये हुए कुछ मौलिक नियमो के द्वारा होता है, जिन्हे शासन-विधान का नाम दिया गया है। इन नियमो में स्पष्ट रूप से राज्य, शासन और नागरिकों के पारस्परिक कर्त्तव्यो और अधिकारो का उल्लेख होता है। इन नियमो के अनुसार शासन-प्रवध होने से नागरिकगण स्वाधीनता का उपभोग करते है। यदि कोई नागरिक किसी दूसरे के अधिकार पर आघात करता है अथवा अपने कर्त्तव्य-पालन मे त्रुटि करता है, तो समाज या राज्य उसे दण्ड देता है।

हम व्यक्तिगत जीवन में भी इसी नियम को देखते है। यदि हमारे परिवार का कोई सदस्य किसी दूसरे सदस्य को कोई हानि पहुँचाता है तो परिवार के सव सदस्य उसके ऐसे कार्य की निन्दा करते है, उसका विरोध करते है और उसे अपनी त्रुटि का अनुभव कराने के लिए उससे असहयोग भी करते है।

जव एक परिवार, एक राज्य या एक राष्ट्र मे हम यह व्यवस्था और नियम पाते है तव प्रत्येक राज्य के परस्परिक सवधों मे इनका पालन क्यो नही होना चाहिए? जव किसी राज्य का कोई व्यक्ति कानून के विरुद्ध कोई काम करता है, तो समाज के हित के लिए राज्य उसे दण्ड देता है; क्योंकि यदि राज्य में सभी व्यक्ति उसी प्रकार कानून के विरुद्ध काम करने लगेगे, तो इससे समाज ने अपने कल्याण के लिए जो नियम वनाये है उनका उल्लघन होगा और फलतः समाज का अनिष्ट होगा। परन्तु जव एक राज्य दूसरे राज्य पर अन्यायपूर्वक आक्रमण करे, तव क्या किया जाये? क्या राज्य को इस प्रकार स्वच्छंद होकर निर्दोष राष्ट्र पर आक्रमण करने दिया जाये? जो राज्य को सर्वोपरि मानते है, वे यह कहेगे कि राज्य पर किसीका नियंत्रण नही है, वह व्यक्तियो की भाँति नैतिक नियमो मे वँधा नही है, इसलिए उसे कौन रोक सकता है? परन्तु हम यह साफ तौर से देखते है कि इस वीसवी सदी में यह कथन कुछ अप्रासगिक-सा है। आज हम यह अनुभव करते है कि ससार का कोई देश अलग नही रह सकता। आज पृथकता सभव ही

नही है। सब राष्ट्रो के पारस्परिक सबध इतने घनिष्ठ होगये है कि एक देश की आन्तरिक राजनीति का दूसरे देश की राजनीति पर प्रभाव पडता है। तब यह कैसे सभव हो सकता है कि एक सबल राष्ट्र दूसरे पर अन्याय करता रहे और सब राज्य मिलकर उसका विरोध न करे ?

प्रोफेसर रामजे म्यूर ने अन्तर्राष्ट्रीयता के सबध मे लिखा है —

"अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रगति का मुख्य उद्देश्य राज्यो के बीच पारस्परिक संबधो में कानून की सत्ता स्थापित करना है। किसी राज के पारस्परिक सम्बन्धो में कानून की सत्ता का स्पष्ट रूप उस प्रयत्न में दिखलाई देता है जिसके द्वारा उनमें पारस्परिक संघर्ष का अवरोध होता है और शक्ति के निर्णय के स्थान में न्याय के निर्णय की स्थापना की जाती है। अतः अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रगति का प्रयोजन अन्त में स्थायी शान्ति के लिए प्रगति ही है।"[१]

राष्ट्रों की अन्योन्याश्रयता

इस युग मे व्यवसाय और उद्योग ऊँची-से-ऊँची स्थिति को पहुँच चुके है। एक प्रकार से इस पाश्चात्य उद्योगवाद ने ससार के राष्ट्रो को आत्म-निर्भरता से वचित कर दिया है। किसी देश मे कोयले की अधिकता है, किसी देश मे लोहा अधिक है, तो दूसरे देश मे पेट्रोल और तेल अधिक है। इसी प्रकार किसी देश मे उद्योग-धधे अधिक है, तो कोई देश कृषि की पैदावार मे अग्रगण्य है। कही रबड और लाख ज्यादा पायी जाती है, किसी देश मे रुई पैदा होती है, तो किसी देश मे मशीने अधिक बनती है, रुई पैदा नही होती। इस प्रकार प्रकृति ने इन प्राकृतिक साधनों का वितरण सारे ससार मे इस ढग से किया है कि कोई भी एक देश दूसरे देश से सबध स्थापित किये बिना उद्योग-व्यवसाय में उन्नति नही कर सकता। यही कारण है कि कोई राष्ट्र इस युग मे आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त का प्रयोग नही कर सकता।

---

१. प्रोफे० रामजे म्यूर : 'नेशनलिज्म एण्ड इन्टरनेशनलिज्म' (१९१९) पृ० १३८

आर्थिक जीवन मे इसी अन्योन्याश्रयता की भावना ने भिन्न-भिन्न राष्ट्रो मे अपने हितो की रक्षा के लिए दो भावनाओ को जन्म दिया—वे हैं सहकारिता और प्रतियोगिता। पहली भावना के विकास के परिणाम-स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयसस्थाओ और सबधो की स्थापना हुई तथा दूसरी भावना—प्रतियोगिता—ने आक्रामक आर्थिक राष्ट्रीयता को जन्म दिया। यह आक्रामक आर्थिक राष्ट्रीयता सहकारिता की विरोधिनी है और यही कारण है कि आज लाख चेष्टा करने पर भी आर्थिक राष्ट्रीयता के कारण कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग सफल नही होरहा है।

प्रभुत्व का सिद्धान्त

वर्तमान काल मे प्रभुत्व के सिद्धान्त का विकास अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी सिद्ध होरहा है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि ससार में राज्य ही सर्वोपरि सत्ता है—उसके ऊपर नियत्रण करनेवाली कोई सत्ता नही है। अत राज्य के नागरिको का यह कर्त्तव्य है कि वे केवल राज्य के प्रति राजभक्त रहे, उसीकी पूजा करे, उसीके आदेश का पालन करे और जब वह राज्य अपने विस्तार के लिए युद्ध करे तो नागरिको को उसमे पूर्ण सहयोग देना चाहिए। यह प्रभुत्व का सिद्धान्त किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता मे विश्वास नही करता। ऐसी दशा मे यह आशा करना कि राज्यो के नागरिक उस सत्ता के आदेश का पालन करेगे, व्यर्थ है। अत जबतक यह सिद्धान्त अपने इसी रूप में कायम रहेगा और इसमे आवश्यक परिवर्तन नही किया जायेगा, तबतक किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की सफलता सभव नही है।

प्रोफेसर हैराल्ड लास्की का कथन है—

"प्रभुता-प्राप्त राज्यो (Sovereign States) में बँटा हुआ संसार उनके प्रभुत्व-सिद्धान्त के कारण उनके पारस्परिक सबधो का स्थायी शान्ति के आधार पर सफलतापूर्वक संगठन नहीं कर सकता; क्योंकि हमारी आर्थिक प्रणाली की प्रवृत्ति प्रभुत्व (Sovereignty) को समाज में उन हितों का आश्रय बना देती है जिनके लिए शान्ति और युद्ध अपने विशेष उद्देश्यो

की पूर्ति के साधन-मात्र है। यदि किसी राज्य में आर्थिक प्रक्रिया में कोई असमान हित होगा, तो राज्य की शक्ति उन लोगों के हाथ में होगी जो आर्थिक सत्ता के साधनों के स्वामी है। यदि इनका प्रयोग विशेष रूप से साम्राज्यवाद के लिए किया गया, तो उन उद्देश्यो की रक्षा के लिए प्रभुत्व का प्रयोग किया जायेगा। यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने ऐसे स्वतत्र राज्य के अपने हितों के संरक्षण के प्रयत्न में बाधा उपस्थित की, तो वह उसके आदेश को ठुकरा देगा।"[1]

प्रोफेसर लास्की के अनुसार प्रभुता प्राप्त राज्यो मे 'संसार के विभाजन का अर्थ है संसार की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अराजकता।' ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे कोई व्यवस्था कायम नही हो सकती।

अत अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्य-राष्ट्र प्रभुता-हीन राज्य (Non-Sovereign States) हो। जबतक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्बन्ध मे अपने कार्यो का स्वय निर्णायक बना रहेगा और जबतक वह उनका निर्णय किसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के हाथ मे न सौपेगा, तबतक वह स्वेच्छानुसार उन सम्बन्धो का निर्धारण करता रहेगा और इस प्रकार के कार्य से ससार की शान्ति के लिए खतरा बना रहेगा।

साराश यह कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिए एक निर्धारित आर्थिक योजना की आवश्यकता है, जिससे किसी भी राज्य को आर्थिक कारणो से अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष न करना पड़े।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ

(१) राष्ट्रसंघ

विगत महायुद्ध (१९१४-१८) के अन्त मे जब शान्ति-सन्धि हुई तब ससार से युद्धो का अन्त करने के लिए राष्ट्रसघ की स्थापना का

---

१ हेराल्ड जे० लास्की: 'इकॉनॉमिक फाउंडेशन्स ऑव पीस इन ल्योनार्ड वुल्फ्स वे टु प्रीवेण्ट वार'; पृ० ५३३

प्रस्ताव स्वीकार किया गया। अमरीका के राष्ट्रपति विलसन ने राष्ट्रसघ की कल्पना की और अन्य राजनीतिज्ञो के सहयोग से उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय जीवित सस्था का रूप दिया गया। १० जनवरी १९२० को राष्ट्रसघ की विधिवत् स्थापना हो गयी।

राष्ट्रसघ के विधान मे उसकी सबसे प्रथम धारा मे उसका लक्ष्य इस प्रकार घोषित किया गया —

"प्रतिज्ञा करनेवाले राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए युद्ध न करने की मर्यादा को स्वीकार करके, राष्ट्रो में परस्पर प्रकटरूप से न्यायपूर्ण और सम्माननीय सम्बन्धो को कायम रखते हुए विभिन्न राष्ट्रो के पारस्परिक व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय विधान को क्रियात्मक रूप देंगे और यह बात विश्वासपूर्वक ध्यान में रखकर सुसगठित राष्ट्रो की पारस्परिक सन्धियो की प्रतिज्ञाओ का पूरा आदर करते हुए न्याय की रक्षा के लिए राष्ट्रसंघ के इस विधान को स्वीकार करते हैं।"

विधान की इस प्रस्तावना मे राष्ट्रसघ के निम्नलिखित सिद्धान्त स्पष्टतया निहित है—

१. अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता, शान्ति और सुरक्षा की स्थापना।
२. युद्ध की रोक।
३. राष्ट्रो मे परस्पर समुचित, प्रकट और सम्मानपूर्ण सम्बन्धो की स्थापना।
४. ससार की सरकारो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार आचरण।
५. अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-व्यवस्था की स्थापना।
६ सन्धियो की समस्त शर्तो का पालन।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रसघ के दो मुख्य लक्ष्य है— एक तो ससार मे शान्ति की स्थापना और दूसरा युद्धों को रोकना। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए राष्ट्रो मे परस्पर सहकारिता और सुरक्षा आवश्यक है। राष्ट्रसघ सामूहिक सुरक्षा में विश्वास करता है और कूटनीति को शान्ति-स्थापना के लिए घातक मानता है। इसलिए

विधान मे यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि राष्ट्रसघ के सदस्य-राष्ट्रों मे जो सन्धियाँ होगी, वे प्रकट रूप मे की जायेगी। गुप्त रूप से कोई सन्धि नही होगी और उन सन्धियो की सघ के आफिस मे रजिस्ट्री भी होगी। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता की वृद्धि के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ मनुष्यो के कल्याणार्थ स्थापित की गयी। युद्ध रोकने की समस्या बडी विकट है। राष्ट्रसघ ने इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा पर जोर दिया तथा नि शस्त्रीकरण के लिए योजना बनाने का विचार किया।

राष्ट्रसघ के अन्तर्गत दो प्रमुख परिषदे है। पहली असेम्बली कहलाती है और दूसरी कौंसिल। असेम्बली मे प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। कौंसिल राष्ट्रसघ की कार्य-समिति है। सन् १९३२ मे ससार के कुल ६६ राष्ट्रो मे से ५५ राष्ट्र राष्ट्रसघ के सदस्य थे।

सयुक्तराज्य अमरीका तो राष्ट्रसघ के जन्म-काल से ही अलग रहा है। सन् १९३२ के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिगडती गयी और पुन राजनीतिक क्षितिज पर युद्ध के बादल उमडने लगे। बस, साम्राज्यवादी राष्ट्रो ने एक-एक करके राष्ट्रसघ को छोड दिया। सबसे पहले जापान ने राष्ट्रसघ से त्यागपत्र देदिया। इसके बाद इटली और जर्मनी ने भी उसे त्याग दिया। इस प्रकार सन् १९३२ के बाद राष्ट्रसघ का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता गया और अन्त मे वह एक निर्जीव और शक्तिहीन सस्था रह गयी। राष्ट्रसघ की उपर्युक्त दोनो परिषदो के निश्चयो को कार्यान्वित करने के लिए जेनेवा (स्वीजरलैंड) मे उसका एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय है। इसके अन्तर्गत १३ विभाग है जो अपने-अपने कार्य को चलाते है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ

शान्ति-सन्धि के १३वे भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसमे लिखा है —

"राष्ट्रसंघ का उद्देश्य विश्व में शान्ति की स्थापना करना

है और शान्ति उसी समय स्थापित हो सकती है जबकि उसका आधार सामाजिक न्याय हो। आज मजदूरो की वर्तमान अवस्था इतनी अन्यायपूर्ण, कष्टमय और विकट है कि बहुतेरे मजदूरो के लिए मुँहताजी होरही है। इसीलिए ससार में इतनी अशान्ति बढ़ गयी है कि समूचे ससार की शान्ति और सामजस्य ही संकट में है। इस परिस्थिति में शीघ्र ही सुधार होना चाहिए—जैसे मजदूरो के दैनिक कार्य के घण्टे कितने हों, कितने घण्टो का दिन माना जाये, कितनें दिनो का एक सप्ताह माना जाये, मजदूरो की भरती का नियन्त्रण, बेकारी का निवारण, उचित वेतन निर्धारण करना, जब श्रमिक कार्य-काल में आहत होजायें या व्यथित हो तो उनकी रक्षा करना, बालको, युवको और स्त्रियो का संरक्षण, वृद्धावस्था तथा शरीर से शिथिल होनेपर जीविका की व्यवस्था, प्रवासी मजदूरो के हितो का संरक्षण, पारस्परिक सहयोग से संगठित कार्य करने की सुविधा, व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध तथा अन्य सुविधाएँ।"

इस भूमिका से यह स्पष्ट है कि राजनीतिज्ञो को मजदूरो की अवस्था का अनुभव था और वे यह जानते थे कि यदि उनकी दशा मे राज्यो ने सन्तोषप्रद सुधार नही किया तो इससे बडी अशान्ति होगी। अत समस्त प्रमुख उद्योगवादी राष्ट्रो ने एक अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ की स्थापना की। इस सघ के सिद्धान्त इस प्रकार है—

(१) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि श्रम को बाजार में बेचने-खरीदने की चीज न माना जाये।
(२) मजदूरो व पूंजीपतियो को वैध उद्देश्यो के लिए सगठन करने का अधिकार है।
(३) मजदूरो के पारिश्रमिक (मजदूरी) की दर इतनी पर्याप्त नियत की जाये जो उनके देश, काल और स्थिति के अनुकूल व उचित हो।
(४) जिन देशो मे मजदूरो के लिए ८ घटे का दिन तथा ४८ घटे का सप्ताह नही माना जाता, उन देशों में यही नियम प्रचलित कराने का प्रयत्न किया जाये।

(५) प्रति सप्ताह मजदूरों को एक दिन की छुट्टी मिलनी चाहिए और, जहाँतक सभव हो, रविवार छुट्टी का दिन नियत किया जाये ।
(६) बालको से मजदूरी न ली जाये, जिससे वे उचित शिक्षा प्राप्त कर सके और उनका शारीरिक विकास हो सके ।
(७) पुरुषो और स्त्रियो को समान कार्य के लिए समान मजदूरी दी जाये।
(८) मजदूरो के कार्य का जो तरीका कानून द्वारा निर्धारित किया गया हो वह आर्थिक दृष्टि से न्यायसगत हो ।
(९) प्रत्येक राष्ट्र को अपने देश मे ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि यह जाँच-पडताल की जा सके कि उपर्युक्त सिद्धान्तो का पालन ठीक ढग से होता है या नही । इस जाँच मे स्त्रियाँ भी भाग ले ।

मजदूर-सघ का सगठन भी राष्ट्र-सघ-जैसा ही है। उसकी अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् मे प्रत्येक राष्ट्र को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। उसमे ५६ राज्यो के प्रतिनिधि है। अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् मजदूरो के कल्याण के लिए प्रस्ताव स्वीकार करती है और अपने सदस्य-राष्ट्रो को यह आदेश करती है कि वे उसके अनुसार अपने-अपने देश मे कानून बनाकर उन्हे कार्यान्वित करे। परन्तु यदि कोई राष्ट्र इन प्रस्तावो के अनुसार कार्य न करे, तो सघ उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नही कर सकता। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ की एक कार्यकारिणी समिति है और उसका 'सेक्रेट्रियट' भी जेनेवा मे स्थित है। इस कार्यकारिणी मे कुल ३२ सदस्य है। इनमे से ८ सदस्य स्थायी है। भारत भी एक स्थायी सदस्य है।

(३) स्थायी विश्व-न्यायालय

राष्ट्रसघ ने हेग मे एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय की भी स्थापना की है, जो ३० जनवरी सन् १९२२ से अपना कार्य कर रहा है। इस न्यायालय को उन विग्रही राष्ट्रो के अन्तर्राष्ट्रीय झगडो की जाँच करने व निर्णय देने का अधिकार है, जो राष्ट्रसघ के सदस्य है तथा जिन्होंने न्यायालय के विधान[१] को स्वीकार कर लिया हो।

---

१. स्टेच्यूट ऑव कोर्ट (Statute of Court)

राष्ट्रसंघ की विफलता और उसके कारण

ऊपर कहा गया है कि राष्ट्रसघ अव एक निर्जीव और शक्तिहीन सस्था वन चुकी है, अत उसकी असफलता के कारणो पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। अवतक इस सम्वन्व में जो विवेचन,किया गया है, उससे यह भलीभाँति जाना जा सकता है कि राष्ट्रसघ की विफलता के मूल कारण क्या है। फिर भी यहाँ सूक्ष्म रूप मे उनका उल्लेख करना उचित है, जिससे पाठक आसानी से समझ सके और जब भविष्य मे विश्व-शान्ति के लिए किसी विश्व-सस्था की स्थापना की जाये तो उन कारणो के निवारण के लिए प्रयत्न किया जाये

(१) राष्ट्रसघ की स्थापना के वाद ही यूरोपीय देशो मे उसके प्रति विद्रोह उठ खड़ा हुआ। राज्य साम्राज्यवाद के नशे मे पागल होकर मानवता के आदर्शो को भूल गये और मानव-एकता और विश्व-वन्धुत्व के प्रति उनकी श्रद्धा कम होती गयी। राष्ट्रसघ प्रधान शक्तिसम्पन्न और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के हाथ में स्वार्थ-सावन का अस्त्र वन गया। वह राज्यो के शासनों के प्रतिनिधियो का एक ऐसा गुट वन गया, जो वास्तव मे मानव-समाज का सगठन करने के अयोग्य थे। राष्ट्रसघ का राज्यो के नागरिको से कोई सम्वन्ध न रहा।

(२) असफलता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है शक्तिशाली राष्ट्रो की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ। राष्ट्रसघ की स्थापना से इनमें तनिक भी सुधार नही हुआ। प्रभुता के सिद्धान्त को, जो अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी है, सभी राष्ट्र मानते रहे और इस प्रकार राष्ट्रसघ के निश्चयो का राष्ट्रीय प्रभुत्व के सामने कोई मूल्य ही न रह गया।

(३) विचारधारा-सम्वन्धी-सघर्ष भी राष्ट्रसघ की विफलता के लिए उत्तरदायी है। यूरोपीय महायुद्ध के वाद रूस में राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हुई। समस्त यूरोप मे समाजवाद का प्रचार होने लगा। समाजवादी विचारधारा के प्रतिकूल इटली और जर्मनी में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, और उसके फलस्वरूप फासिज्म और नाज़ीवाद इन दो नयी विचारधाराओ का

विकास हुआ। इटली मे मुसोलिनी ने खुल्लमखुल्ला शान्तिवाद के खिलाफ विद्रोह शुरू कर दिया। इटली के विश्व-ज्ञान-कोष मे मुसोलिनी ने लिखा है—

"फासिज्म का न तो शाश्वत शान्ति की आवश्यकता में विश्वास है और न उसकी उपयोगिता में। शान्तिवाद में संघर्ष से बचने की प्रवृत्ति छिपी हुई है। वह मूलतः कायरता ही है। इसलिए 'फासिज्म' बलिदान के मुकाबिले में शान्ति को ठुकराता है। युद्ध और सिर्फ युद्ध में ही मनुष्य की शक्तियो की अधिक-से-अधिक परीक्षा होती है और उसे स्वीकार करने का साहस करनेवाली जातियो के सिर पर ही उच्चता का सेहरा बँधता है। और सब तरह की परीक्षाएँ नकली है। वे मनुष्य के सामने जीवन या मरण के चुनाव का सवाल पेश नहीं करतीं।"

इसी प्रकार जर्मनी मे हेर हिटलर ने जर्मनो की सोयी हुई हिंसा-वृत्तियो को जगाने के लिए एक आत्मचरित लिखा और उसमे हिंसा, युद्ध और साम्राज्यवाद का यश गाया। उसमे लिखा—

"यदि कोई जीवित रहना चाहता है, तो उसे लड़ाई करनी चाहिए। और यदि कोई इस सतत सघर्षशील ससार में लड़ाई के प्रति उदासीन है, तो उसे जीवित रहने का अधिकार नही।"[१]

"ऐसा समझौता—गुटबन्दी—जिसका उद्देश्य युद्ध में पड़ना नहीं है, बेकार और व्यर्थ है।"[२]

स्पष्ट है कि ये विचारधाराएँ शान्तिवाद और राष्ट्रसघ के लक्ष्य के विरुद्ध है। जर्मनी और इटली आज १० वर्षो से भी अधिक समय से सारे यूरोप मे हिंसावाद, युद्ध और सघर्ष का प्रचार कर रहे है।

(४) राष्ट्रसघ के आन्तरिक सगठन की त्रुटियाँ भी उसकी विफलता के लिए कम उत्तरदायी नही है। राष्ट्रसघ स्वतन्त्र सदस्य-राष्ट्रो की सरकारो के प्रतिनिधियो की मस्था है। राष्ट्रसघ की सत्ता

१-२ हेर हिटलर: 'माइन कैम्फ' (मेरा सघर्ष) १८ वाँ जर्मन सस्करण, पृष्ठ ३१७ और ७४९।

अस्तत्व मे प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र की सरकार मे निहित है। स्वतत्र राष्ट्रों के समझौते से सघ का विधान बना है। इसलिए अन्य सन्धियो की तरह राष्ट्र उसका भी उल्लघन कर सकते हैं। और उसका जीवन उसके सदस्यों की शुभकामना पर निर्भर है। राष्ट्रसघ मे प्रतिनिधित्व की प्रणाली बडी दोषपूर्ण है। वह राज्यों के नागरिको की सस्था नही है, बल्कि सरकारो की गुटबन्दी है। दूसरा बड़ा दोष यह है कि राष्ट्रसघ वास्तविक अर्थ में पार्लमेंट नही है। वह राज्यो के नागरिको के लिए विधान या कानून नही बना सकता। राष्ट्रसघ की कार्य-पद्धति मे भी दोष है। किसी निर्णय के लिए सर्वसम्मत होना आवश्यक है। सिर्फ ४० लाख स्विस प्रजा के प्रतिनिधि अपने एकमत से किसी भी निर्णय को रद्द कर सकते है।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग का सर्वप्रथम और आधारभूत सिद्धान्त यह है कि ससार के सब राष्ट्रो के नागरिको मे मानवता के प्रति श्रद्धा हो। मानवता और मानव-आदर्शों के प्रति अनन्य श्रद्धा की भावना ही मानव-एकता को प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान कर सकती है। नागरिको को यह अनुभव कराने की आवश्यकता है कि मानवता धर्म, जाति, सभ्यता और वर्ण (रग) के बन्धनो से ऊपर है। जबतक राष्ट्रो मे नागरिको द्वारा मानवता के प्रति यह आदर-भाव पैदा न किया जायेगा तबतक सच्ची और स्थायी सहकारिता एव शान्ति की स्थापना सम्भव नही है।

ससार में शान्ति की स्थापना करने मे प्रत्येक राष्ट्र का सहयोग आवश्यक है। हर राष्ट्र को अपना यह धर्म स्वीकार करना चाहिए कि वह ससार की शान्ति-रक्षा के लिए उत्तरदायी है। यदि यूरोप के किसी छोटे देश पर कोई अन्याय होता है, तो अमरीका को यह सोचकर अलग न रहना चाहिए कि उससे अमरीका के हितो का कोई सम्बन्ध नही है।

इसी प्रकार एशिया मे किसी राष्ट्र पर कोई अन्यायपूर्ण आक्रमण होता है, तो यूरोप के बडे राष्ट्रों को यह न सोचना चाहिए कि इससे यूरोप का कोई सम्बन्ध नही है। ससार के किसी भी भाग मे होनेवाला छोटे-से-छोटा उपद्रव विश्व-शाति के लिए खतरा है, यह प्रत्येक राष्ट्र को भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

ससार के एक बहुत बड़े भाग मे ऐसे राष्ट्र एव जातियाँ भी है जो राजनीतिक, आर्थिक एव औद्योगिक दृष्टियो से पिछडी हुई है और जो इस समय साम्राज्यवादी राज्यों की साम्राज्य-लिप्सा की शिकार है। राष्ट्रसघ ने ऐसे राष्ट्रो व पिछडी हुई जातियों का शासन-प्रबध शासना-देश-प्रणाली के अन्तर्गत विगत युद्ध के विजेता राष्ट्रो के हाथ मे देकर उन्हे उनका भाग्य-निर्णायक बना दिया। ऐसी पिछडी तथा पराधीन जातियाँ एशिया और अफ्रीका मे अधिक है। अब समस्या यह है कि इनके सबध मे, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए क्या किया जाये ? इसके लिए सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय समाज को यह सिद्धान्त बिना किसी अपवाद के स्वीकार करना चाहिए कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पराधीन राष्ट्र को स्वाधीनता दे दी जाये तथा उनकी रक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन नियुक्त किया जाये। इस कमीशन का कार्य इस प्रकार स्वतत्र किये गये राष्ट्रो को सबल राष्ट्रो की कोप-दृष्टि से बचाना हो।

इस प्रकार ससार के प्रत्येक राष्ट्र को, चाहे वह एशियायी राष्ट्र हो या अफ्रीकन, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे समानता का अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार जातीय प्रश्न का एकदम खात्मा होजाना ही श्रेयस्कर होगा।

राष्ट्रो के आपसी झगडो के फैसले के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय होना चाहिए जिसमे सभी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निर्णय किया जाये। प्रत्येक राष्ट्र को इस न्यायालय मे ही अपने ऐसे विवाद का निर्णय कराने के लिए सन्नद्ध होना चाहिए। इस न्यायालय मे सभी राष्ट्रो का विश्वास होना जरूरी है। कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न इस न्यायालय

की अधिकार-सीमा के बाहर न होना चाहिए और न किसी राष्ट्र को इस सबध मे कोई विशेष रियायते दी जानी चाहिएँ।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान का निर्माण किया जाना और प्रत्येक राष्ट्र से उसका पालन कराने की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

समस्त राष्ट्रो मे पारस्परिक सहयोग तथा विश्व-शान्ति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन स्थापित होना चाहिए। यह सगठन संघ के सिद्धान्त के आधार पर कायम हो। प्रत्येक राष्ट्र को अपने सामान्य मामलों का नियन्त्रण और प्रबध इस सगठन को सौंप देना चाहिए।

यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन वैदेशिक नीति, अन्तर्राष्ट्रीय सेना, आर्थिक नीति, अन्तर्राष्ट्रीय राजस्व, उपनिवेशो की समस्या, अन्तर्राष्ट्रीय यातायात, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और प्रवास आदि मामलों का प्रबंध कर सकता है।

हमने सक्षेप मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तों की रूपरेखा तथा मौलिक सिद्धान्तो का विवेचन किया है। इनपर विस्तृत रूप से विचार उसी समय किया जा सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की कोई व्यावहारिक और श्रेष्ठ योजना तैयार की जाये।

ससार की एकमात्र अन्तर्राष्ट्रीय सस्था राष्ट्रसघ के पतन के कारणो पर विचार करके उनके निवारण का प्रयत्न करना चाहिए। राष्ट्रसंघ के पतन से हमें यह न समझ लेना चाहिए कि ससार में अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता सभव ही नही है वल्कि उसके लिए उचित तरीके से प्रयत्न करना चाहिए।

: ६ :

भारतवर्ष और अन्तर्राष्ट्रीयता

अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे भारतवर्ष का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि भारतवर्ष इस समय अपनी राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए अग्रसर है, तो भी इसमे कुछ भी सन्देह नही कि भारत विश्व-शान्ति के लिए आज भी सर्वश्रेष्ठ देन देने की क्षमता रखता है। चाहे जिस दृष्टि से देखा जाये, भारत विश्व-बन्धुत्व के आदर्श को कार्यरूप मे परिणत करने मे समर्थ है। भारत का प्राचीन इतिहास हमारे इस कथन की सचाई प्रकट करता है।

भारत का विश्व-प्रेम

ससार के प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान और पुरातत्त्ववेत्ता इस बात मे एकमत है कि भारत की सभ्यता, सस्कृति और सस्थाएँ विश्व मे प्राचीन-तम है। जैसे-जैसे साहित्य, विज्ञान, राजनीति आदि के क्षेत्रो मे अन्वेषण और अनुसधान होते जारहे है, वैसे-वैसे यह प्रकट होता जारहा है कि भारतवर्ष न केवल आध्यात्मिक जगत् मे ही शिरोमणि रहा है, प्रत्युत साहित्य, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, समाज-नीति और राजनीति मे भी किसी सभ्य राष्ट्र से पीछे नही रहा। कुछ ही समय पहले पाश्चात्य यूरोपीय विद्वानो की दृष्टि मे भारत एक ऐसा 'दार्शनिको का देश' था, जहाँ केवल साधु-महात्माओ की ही पूजा होती हो। परन्तु राज-नीति और इतिहास के सुविख्यात भारतीय विद्वान प्रो० बेनीप्रसाद ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ 'प्राचीन भारत मे राज्य की स्थिति'[1] और 'प्राचीन भारत मे शासन का सिद्धान्त'[2] तथा भारत-विख्यात इतिहासवेत्ता स्व०

---

१ 'द स्टेट इन ऐंशियण्ट इण्डिया'।

२ 'थिअरी ऑव गवर्नमेण्ट इन ऐंशियण्ट इण्डिया'।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने सुविख्यात ग्रन्थ 'हिन्दू राजतन्त्र'[1] द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि भारतवर्ष केवल आध्यात्मिक जगत् मे ही शिरोमणि नही रहा है प्रत्युत राजनीति मे भी अग्रगण्य रहा है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' इस विषय का अनुपम ग्रन्थ है।

समस्त भारतीय साहित्य विश्व-सस्कृति और विश्व-प्रेम की विचार-धारा से ओतप्रोत है। वैदिक सस्कृति की सबसे बडी विशेषता यही है कि वह लोकसग्रह अर्थात् मानव-समाज के कल्याण को प्रमुख और ऊँचा स्थान देती है। वैदिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे लोकसग्रह का सिद्धान्त अन्तर्भूत है। इसी विशेषता का फल है कि भारत-भूमि मे सदैव से विश्व-भावना की पूजा होती रही है। आज भी भारत मे जिस राष्ट्रीयता का यशोगान होरहा है, उसका भी आधार विश्व-प्रेम और लोकसग्रह ही है।

'वैदिक सस्कृति के अनुसार विश्व-प्रेम और देश-प्रेम एक-दूसरे के विरोधी नही है, प्रत्युत पूरक भाव है। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने कुटुम्ब से अनुराग रखता हुआ भी देशभक्ति से मुख नही मोडता, राष्ट्र-हित मे अपने व्यक्तिगत हितो का बलिदान करने के लिए तत्पर रहता है, उसी प्रकार एक सच्चा देशभक्त भी विश्व-हित के लिए अपना सब-कुछ अर्पण कर सकता है। जिन विचारको का यह कथन है कि राष्ट्रीयता (देशभक्ति) विश्व-प्रेम के लिए घातक है, उन्हे अपना यह कथन आधुनिक उग्र राष्ट्रीयता के लिए ही सीमित रखना चाहिए। जो राष्ट्रीयता हमे दूसरो से द्वेष करना नही सिखलाती, वह हमारे विश्व के लिए अवाछनीय किस प्रकार हो सकती है ?'[2]

आयुर्वेद के पृथिवी-सूक्त अ० १२–१ मे ऐसे ही भाव मिलते है—

"हे पृथिवी ! मरणधर्मा पदार्थ अथवा मनुष्य तुझसे उत्पन्न होते है और तुझमें ही विचरण करते है—निवास करते है; तू द्विपद (मनुष्य)

---

१ 'हिन्दू पॉलिटी'।

२ रामनारायण यादवेन्दु: 'राष्ट्रसंघ और विश्व-शान्ति', पृ० २३५

और चतुष्पद (चौपायो आदि) का पालन-पोषण करती है। जिन मनुष्यो के लिए उदय होता हुआ सूर्य्य किरणों के द्वारा अमृत, जीवन-प्रद प्रकाश भली प्रकार देता है, फैलाता है, वे पाँचों मानव जातियाँ (गौर, लाल, धूसर, पीत और कृष्ण) तेरी ही है।"

[पृ० सू० : अध्याय १२-१ : १५ वाँ श्लोक]

"वे सब प्रजाएँ हमें मिलकर—इकट्ठी होकर—भरपूर करें और हे पृथ्वी ! तू वाणी की मधुरता मुझे दे।"

[पृ० सू० : अ० १२-१ : १६ वाँ श्लोक]

"हे मातृभूमि ! तू इकट्ठा रहने का महत् स्थल है अतएव तू महती पूजनीया है। तेरा वेग, गति, एवं कम्पन महान् है और महिमा-सम्पन्न, महत्त्वशाली, सूर्य्य, परमात्मा अथवा ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा प्रमादरहित होकर तेरी रक्षा करता है। ऐसी तू भूमि प्रकाश की चमक की भाँति हमें उत्तम रीति से चमका, प्रवृत्त कर, जिससे हमसे कोई द्वेष—स्पर्द्धा न करे।" [पृ० सू० अ० १२-१ १६ वाँ श्लोक]

अन्यत्र लिखा है —

"यथास्थान अथवा एक गृह के सदृश नाना भाषाएँ बोलनेवाले और अनेक व्यवसायवाले जनों को धारण करती हुई यह पृथिवी निश्चेष्ट तथा निश्चल गो की भाँति मुझे धन की हजारो धाराएँ दुहाये।"

[पृ० सू० अ० १२-१ : ४५ वाँ श्लोक]

वैदिक सस्कृति मे समस्त मानव-समाज एक परिवार है, परन्तु विविध भाषा, रग-रूप, व्यवसाय आदि के कारण वह अनेक भागो मे बँट गया है। जिस प्रकार एक परिवार के सदस्य विविध भाषा, साहित्य और व्यवसाय से अनुराग रखते हुए भी परिवार-बधन मे ग्रथित रहते है उसी प्रकार समस्त मानव-समाज भी एकता के सूत्र में बँधा रह सकता है।

पृथिवी-सूक्त के उक्त १५ वे श्लोक मे विश्व-प्रेम का आदर्श कितनी उत्तमता से वर्णित हुआ है ! पृथ्वी पर निवास करनेवाली पाँचों मानव-जातियो को समानता का अधिकार है। पाश्चात्य जातियों की यह भावना रही है कि ईश्वर ने गौर-वर्ण की जातियो को ही ससार मे

शासन करने के लिए पैदा किया है और पीत तथा कृष्ण वर्ण की जातियाँ तो शासित होनें के लिए ही पैदा हुई हैं । इसे यूरोपीय 'गौर जातियों का भार' (White man's Burden) कहते हैं । यूरोपीय जातियो में जातीयता की भावना इतनी उग्र है कि वे सारे ससार मे गोरो का प्रभुत्व चाहती हैं । आज यूरोप इसीके अभिशाप से पीड़ित है ।

विश्व-बंधुत्व और सम्राट् अशोक

भारत मे विश्व-प्रेम के सिद्धान्त केवल साहित्य और धर्म-ग्रन्थो तक ही सीमित नही रहे है, प्रत्युत् जीवन मे—व्यक्तिगत एव सामाजिक दोनो मे—उनको चरितार्थ किया गया है । व्यक्तिगत जीवन के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । किन्तु हम यहाँ अहिंसा, प्रेम और विश्व-बंधुत्व का एक ऐसा उदाहरण देना चाहते हैं, जैसा ससार के इतिहास में दूसरा नही मिलेगा ।

मानवता को एक सूत्र मे बाँधने एव ससार मे प्रेम का साम्राज्य स्थापित करने में सम्राट् अशोक ने जो प्रयत्न किया वह वास्तव मे स्वर्णाक्षरों मे लिखे जाने योग्य है । राष्ट्रपति विलसन, ब्रियण्ड, अमरीका के शान्तिवादी निकोलस वटलर मरे (जिन्हें गत वर्ष शान्ति का नोबुल पुरस्कार मिला है), रोरिक, रोम्याँ रोलाँ और महात्मा गाँधी आदि महापुरुषों के सामूहिक प्रयत्न अशोक के कार्य की ही परम्परा है । प्रसिद्ध अग्रेज इतिहास-लेखक श्री० एच० जी वैल्स ने अशोक के सम्बन्ध मे लिखा है—

'अशोक पहला सम्राट है, जिसने मनुष्यो के सच्चे उद्देश्य और जीवन-पथ को लक्ष्य में रखकर मनुष्य जाति को शिक्षित किया । उसने विशाल सेना और-बडी भारी शक्ति के होते हुए भी, सैनिक और राजनीतिक विजय नहीं की । उसने अपने शौर्य, पराक्रम और वीरता को दिखाने के लिए किसी राष्ट्र पर आक्रमण नहीं किया, किसी देश का सर्वनाश करने के लिए, किसी राष्ट्र को गुलाम बनानें के लिए, सुन्दर नगरो को धूल में मिलाने के लिए, आहतों, पीड़ितो और दु खितो के अभिशाप से, हाहा-

कार से और आँसुओ से भरी पृथ्वी को अधिक बोझल तथा दुःखित मानव-समाज को अधिक दु खी नही किया। उसने धर्म-विजय की; धर्म-भिक्षुकों द्वारा अतृप्त और संतप्त संसार को प्रेम और धर्म का अमृत-पान कराया।"

अपने चतुर्दश शिला-लेख मे अशोक ने लिखवाया है —

"धर्म-विजय को ही 'देवताओं के प्रिय' प्रियदर्शी मुख्यत विजय मानते हैं। इस धर्म-विजय को 'देवताओं के प्रिय' ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा छह सौ योजन दूर पडोसी राज्यो में प्राप्त किया है, जहाँ अन्तयोक नामक यवन राजा राज्य करता है, और अन्तयोक के बाद तुरमय, अलिकिति, यक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते है, और उन्होने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोल, पांड्य तथा ताम्रपर्णि में भी धर्म-विजय प्राप्त की है। उसी प्रकार हिंदराजा के राज्य में तथा विषवज्रियो में, यवनों में, कम्बोजों में, नाभक नाभ-पंक्तियों में, भोजो में, पिति निकाय आंध्रो में और पुलिन्दों में सब जगह लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते हैं और अनुसरण करेंगे। जहाँ-जहाँ 'देवताओ के प्रिय' के 'दूत नही पहुँच सकते, वहाँ-वहाँ लोग 'देवताओं के प्रिय' का धर्माचरण, धर्म-विधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय हुई है, वह विजय वास्तव में सर्वत्र आनन्द देनेवाली है। धर्म-विजय में जो आनन्द है, वह बहुत प्रगाढ़ है, पर वह आनन्द क्षुद्र वस्तु है। 'देवताओ के प्रिय' पारलौकिक कल्याण को ही बडी भारी वस्तु समझते हैं। इसलिए यह धर्म-लेख लिखा गया है कि मेरे पुत्र और पौत्र जो हों, वे नया देश विजय करना अपना कर्त्तव्य न समझें। यदि कभी वे नया देश विजय करने में प्रवृत्त हों, तो उन्हे शांति और नम्रता से काम लेना चाहिए और धर्म-विजय को ही सच्ची विजय मानना चाहिए। उससे इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख-लाभ होता है। उद्योग ही उसके आनन्द का कारण हो, क्योकि उससे इहलोक और परलोक दोनो सिद्ध होते हैं।'

अशोक के कलिंग के शिला-लेख मे लिखा है —

- "'''सब मनुष्य मेरे पुत्र है, और जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्रगण सब तरह के हित और सुख को प्राप्त करे, उसी प्रकार मैं चाहता हूँ कि सब मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक सब तरह के हित और सुख का लाभ उठावे। आप लोग इस बात पर ध्यान दें, क्योंकि यह नीति श्रेष्ठ है।"

"अशोक ने २८ वर्षों तक मनुष्यो की वास्तविक आवश्यकताओ के लिए कार्य किया। इतिहास के पृष्ठो में जिन हजारों सम्राटो, राजा-महाराजों आदि का उल्लेख है, उनमें केवल अशोक का नाम आकाश में तारे के समान जगमगाता है। वोल्गा से जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत में भी (यद्यपि उन्होने अशोक के सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया है) उसकी महानता की परम्परा सुरक्षित है। आज भी जीवित मनुष्यो में अशोक की स्मृति कान्स्टेनटाइन या शार्लमेगन की यादगार से कही अधिक जाग्रत है।" ये है अशोक के प्रति विश्व के एक महान् इतिहास-वेत्ता श्री एच० जी० वैल्स के विचार। श्री वैल्स के इस कथन की सचाई मे सन्देह करना अज्ञता होगी, परन्तु भारत के सम्बन्ध मे उन्होंने जो-जो कहा है उसके सम्बन्ध मे इतना और कहना पर्याप्त होगा कि आधुनिक काल मे भी भारत ने अशोक की परम्परा का त्याग नही किया है। आजके युग मे महात्मा गाधी का अहिंसात्मक आन्दोलन अशोक के ही सिद्धान्तो का प्रतीक है।

हमारे कथन का सार यह है कि भारत प्राचीन समय से ही विश्व-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता का पुजारी रहा है। आज भारत अपनी स्वाधीनता की सिद्धि मे लगा हुआ है और हमारा यह ध्रुव विचार है कि स्वाधीन भारत विश्व मे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता को जन्म देने मे सफल होगा।

ससार की स्थिति और भारतवर्ष

आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय के राजनीति के प्रोफेसर श्री एल्फ्रेड ज़िमर्न

ने भारत के सम्बन्ध मे अपने एक विचार-पूर्ण निबध मे लिखा है :—

"....आनेवाले युग में भारत विश्व-राजनीति का प्रकाश-स्तम्भ बनेगा। अधिक स्पष्ट शब्दो में इसका अर्थ यह है कि यदि भारत ब्रिटिश-कॉमनवैल्थ से अपना सम्पर्क बनाये रखेगा और दूसरी ओर कॉमनवैल्थ भी भारत को अपने संघटन में समुचित पद प्रदान करेगा तो विश्व-शांति और मानव-समाज के अभ्युदय का मार्ग अत्यधिक प्रशस्त हो जायेगा। यदि भारत और दूसरे ब्रिटिश उपनिवेशो के बीच समानता के आधार पर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न विफल रहा, तो उसका परिणाम न केवल कॉमनवैल्थ पर प्रत्युत समग्र मानव-समाज पर पडेगा। अन्तर्जातीय संघर्ष के लिए एक विशाल रंगमंच तैयार होजायेगा।"[1]

प्रोफेसर ज़िमर्न के कथन से यह स्पष्ट होजाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे भारत का स्थान अद्वितीय है। परन्तु भारत के पराधीन देश होने से मानव-समाज की उन्नति मे बडी अडचन होरही है। राष्ट्रसघ मे या विश्व की राजनीति मे अधीनस्थ राज्यो का कोई स्थान नही है। वैसे भारतवर्ष राष्ट्रसघ के जन्म-काल से ही उसका मौलिक सदस्य रहा है, परन्तु उसकी सदस्यता के कारण उसे कोई विशेष लाभ नही हुआ और न विश्व-शान्ति की समस्या के समाधान मे ही कोई योग मिला है। भारत का राष्ट्रीय लोकमत प्रारम्भ से ही राष्ट्रसघ की सदस्यता का विरोधी रहा है। यह इसलिए नही कि भारत राष्ट्रसघ के आदर्शो मे विश्वास नही करता, वल्कि इसका कारण यह है कि वर्त्तमान परिस्थिति मे, जबकि राष्ट्रसघ यूरोप के महान् राष्ट्रो के कूटनीतिज्ञों का एक गुप्त मण्डल बन गया है, भारत का राष्ट्रसघ से सम्बद्ध रहना किसीके लिए हितकर नही होसकता।

यो प्रतिवर्ष सितम्बर मास मे भारत की ओर से राष्ट्रसघ की असेम्बली के अधिवेशन मे सम्मिलित होने के लिए प्रतिनिधि-मण्डल जेनेवा को जाता है, परन्तु यह प्रतिनिधि-मण्डल सच्चे अर्थो मे भारत

---

१ फ्रेडा और बेडी 'इण्डिया एनेलाइज्ड' (१), पृ० १५

का नही होता, क्योकि इन प्रतिनिधियो की नियुक्ति या निर्वाचन में भारतीय नागरिको का हाथ नही है और न भारतीय व्यवस्थापिका सभा ही इन्हे चुनकर भेजती है। इन प्रतिनिधियो का चुनाव भारत-मत्री के हाथों मे है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसघ की असेम्बली के अधिवेशन मे भारत का प्रतिनिधि-मण्डल स्वतन्त्रतापूर्वक अपने हितो की रक्षा के लिए कोई कार्य नही कर सकता, वह ब्रिटिग-प्रतिनिधि-मण्डल के सकेत पर ही अपने विचार प्रकट कर सकता है।

सन १९३२ में राष्ट्रसघ की आय (जो राष्ट्रो के चन्दे से प्राप्त हुई थी) १३ लाख ४७ हजार ५२० पौंड थी। भारत ने प्रतिवर्ष ७५ हजार ४९९ पौड अर्थात् १० लाख ५ हजार ८० रु० के हिसाव से अवतक १९ वर्षो मे १ करोड ९१ लाख ६ हजार ५२० (अर्थात् २ करोड़ के लगभग) रुपये राष्ट्रसघ की भेट चढाये है। भारत की गरीबी तथा राष्ट्रसघ मे उसकी स्थिति को देखते हुए यह धन-राशि वहुत अधिक है। राष्ट्रसघ के लिए सवसे अधिक धन इग्लैंड देता है। उसके वाद फ्रास। फ्रास के वाद जापान का और चौथा नम्बर भारत का है। जापान ने राष्ट्रसघ छोड दिया है। इसलिए सवसे अधिक चदा देनेवालो मे अब भारत का तीसरा स्थान है। इतना धन व्यय करने पर भी भारत का राष्ट्रसंघ की कौंसिल मे कोई वास्तविक प्रतिनिधित्व नही है।

कौंसिल मे केवल वडे-वडे राष्ट्रो का ही प्रभुत्व है। सितम्बर १९३८ के असेम्बली-अधिवेशन मे मुसलमानों के नेता और धार्मिक प्रमुख श्री आगाखाँ को राष्ट्रसघ की असेम्बली का प्रधान निर्वाचित करके इंग्लैण्ड ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। पर अशक्त, दुर्बल और अपने ध्येय से पतित राष्ट्रसघ की अध्यक्षता भारतीय को प्रदान कर इंग्लैण्ड ने कोई प्रशसनीय कार्य नही किया। इस समय सारे ससार को यह ज्ञान हो गया है कि राष्ट्रसघ सघटित पाखण्ड के सिवा और कुछ नही है।

भारत का अंगभंग

इस समय जहाँ भारत ससार के समस्त देशो के साथ सहयोग और

मित्रता का सम्बन्ध बनाने मे प्रयत्नशील है वहाँ ब्रिटिश शासन की नीति इसके सर्वथा विपरीत चली आरही है और दूसरे देशो से भारत का सम्बन्ध दृढ करना तो दूर उसके अपने अगों—ब्रह्मा, लका आदि—को ही उससे विच्छिन्न किया जारहा है।

१ अप्रैल १९३७ तक ब्रह्मा भारत का ही एक प्रात था। परन्तु इसके बाद से ब्रह्मा को भारत से पृथक् करके एक स्वतन्त्र किंतु ब्रिटिश सरकार के अधीन देश बना दिया गया है। यही नही, ब्रह्मा के लिए अलग शासन-विधान भी बनाया गया है जिसके अनुसार उसका शासन होरहा है। ब्रह्मा मे १० लाख भारतीय निवास करते है। वहाँके व्यवसाय और कृषि मे १० करोड रुपये की भारतीय पूँजी लगी हुई है। वहाँ मद्रास के बहुसख्यक महाजन, बिहार-बगाल के मजदूर और भारतीय सरकारी नौकर तथा वकील आदि है। अब इनमे और ब्रह्मा के लोगो मे प्रतिस्पर्द्धा बनी रहने लगी। इस प्रतिस्पर्द्धा और भारतीयो के प्रति ब्रह्मी लोगो की घृणा का दुष्परिणाम यह हुआ है कि भारतीय ब्रह्मा के चावल, लकडी और तेल का वहिष्कार कर रहे है।

लका मे भी भारतीय मजदूरो की सख्या ६ लाख है। वहाँ भारतीय पूँजी और भारतीय शिक्षितो का अभाव है। भारतीय मजदूरो के साथ भेदभाव किया जाता है। स्थानीय सस्थाओ के चुनावो मे ग्राम्य मताधिकार के सम्बन्ध मे भी भारतीयो के साथ भेदभाव से व्यवहार किया जाता है। इसका भी दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतवासी लका के नारियल तथा दूसरी चीजो का वहिष्कार कर रहे है।

प्रवासी भारतीय

प्रवासी भारतीयो की समस्या के विशेषज्ञ स्वामी भवानीदयाल सन्यासी ने अपने एक लेख मे प्रवासियो की स्थिति के सम्बन्ध मे लिखा है —

"इस समय संसार में भिन्न-भिन्न देशो और उपनिवेशो में प्रवासी भारतीयो की जन-संख्या लगभग २५ लाख है। जहाँ-जहाँ वे बसे हुए

है, वहाँ-वहाँ उनको अपने देश की पराधीनता के कारण अपमान का कड़वा घूँट पीना पड़ता है। पौन सदी तक जारी रहनेवाली शर्तबंदी-प्रथा का इतिहास वास्तव में भारतीयो की अपकीर्ति का ही इतिहास है और उसमें विशेषत: अन्यायो, अत्याचारों और अपमानो के ही अध्याय मिलेंगे। यद्यपि अनेक सहृदय महानुभावो के उद्योग से अब इस प्रथा का अन्त होगया है, तो भी इससे उत्पन्न स्थिति की सीमा अभी अगोचर है। इतने आन्दोलनो और बलिदानों के बाद भी न तो प्रवासियों के सकट का अन्त हुआ है और न उनकी अवस्था में आशा-जनक अन्तर ही पड़ा है। मजा तो यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत उपनिवेशो में उन्हे सबसे अधिक अपमान के धक्के सहने पड़ते है।"[१]

दक्षिण अफ्रीका मे प्रवासी भारतीयो के कष्टो की कहानी बहुत लम्बी पुरानी और चिरपरिचित है। महात्मा गाधी ने यह सारी कथा 'दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह' के रूप मे लिखी है, विस्तार से जानने के लिए पाठकगण उसे पढे।

अफ्रीका के उन प्रदेशो मे जहाँ ब्रिटिश साम्राज्य है प्रवासी भारतीयो की स्थिति स्मट्स के शब्दो मे इस प्रकार है —

" 'दक्षिण अफ्रीका में हम रंगीन जातियों को गोरो के साथ समानता का पद नहीं दे सकते। हमारी समानता मौलिक रूप से इस सिद्धांत पर आश्रित है कि धर्म और राज्य में गोरो और रंगीन जातियो के बीच कोई समानता नहीं हो सकती।"

ये शब्द दक्षिण अफ्रीका की यूनियन के प्रधान-मत्री और राष्ट्रसघ के एक भाग्य-विधाता के है। जातीयता की यह भावना कितनी उग्र है।

दक्षिण-अफ्रीका मे प्रवासी भारतीयो की परिस्थिति वस्तुत अत्यन्त शोचनीय है। वहाँ जातीयता का सबसे उग्र रूप देखने को मिलता है। वहाँ भारतीय 'कुली' समझे जाते है और उनके साथ वैसा ही व्यवहार

---

१. स्वामी भवानीदयाल सन्यासी : प्रवासियो की परिस्थिति ('सरस्वती', जनवरी १९३७ ई०)।

किया जाता है। वहाँ स्वामी भवानीदयाल सन्यासी के शब्दो मे—

"आज भी भारतीयों के लिए ट्रामों और ट्रेनो में अलग डिब्बे हैं। डाकघरों, स्टेशनो और दफ्तरो में रंग-भेद का नग्न प्रदर्शन है। होटलों और थियेटरो के दर्वाजे उनके लिए बंद है। न उन्हे पार्लमेण्टरी मताधिकार है और न म्यूनिसिपल। कुलीगिरी के सिवा उन्हें और कोई सरकारी नौकरी नहीं मिल सकती। जो भाई खेती और रोजगार करते हैं उनकी राह में इतने काँटे बिखेर दिये गये हैं कि वे पग-पग पर चुभते हैं। राम और कृष्ण के वशज एवं बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, शंकर और दयानन्द के अनुयायी यहाँ असभ्य हब्शियो से भी निम्नतर समझे जाते हैं।"

दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रवादी श्वेतागो की परिषद् ने हाल मे जो प्रस्ताव पास किया है वह यह है —

"यूरोपीय ईसाई संस्कृति की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि यूरोपीयो और अयूरोपीयो में यथासम्भव अन्तर रखा जाये; उनका विवाह-संबंध कानून से जुर्म ठहराया जाये, अयूरोपीय स्कूलो में अन्य वर्णो के साथ गौराग अध्यापक की नियुक्ति रोकी जाये, कोई भी श्वेतांग किसी अश्वेतांग से नौकरी में नीचे के ओहदे पर न रखा जाये और गोरी स्त्रियाँ अयूरोपीयों के यहाँ नौकरी करने से रोकी जायें।"

नेटाल तथा ट्रासवाल (दक्षिण अफ्रीका) मे श्वेतागो ने स्वत भारतीयो को बसाया था, पर उनके साथ बीभत्स पाप और अत्याचार किये गये। उनपर व्यापारिक प्रतिबन्ध लगाये गये और ऐसे कानून बनाये गये जिससे वे भूमि के स्वामी न वन सके। उनके लिए यूरोपियो से पृथक् मुहल्ले बनाये गये। सन् १९२४ मे जनरल स्मट्स की सरकार के पतन के वाद नयी सरकार ने प्रवासी भारतीयो के साथ और भी सख्ती से व्यवहार किया। यह अत्याचार यहीं तक समाप्त नही हुआ। रग-प्रतिबध कानून (Colour Bar Bill) के जो बाद मे कानून के रूप मे बदल गया, अनुसार सरकार भारतीयो को दूसरे अयूरोपीयो की भाँति दक्षतापूर्वक किये जानेवाले काम-धन्धो (skilled occupations) से

वंचित कर सकती है।

केनिया और युगाण्डा की अवस्था भी करुणाजनक और शोचनीय है। यद्यपि केनिया की व्यवस्थापिका सभा मे प्रवासी भारतीयो के पाँच प्रतिनिधि है, तो भी अल्पसख्यक होने के कारण उनकी आवाज में कुछ बल नही है। केनिया के पठार (Highland areas) श्वेतागो के लिए सुरक्षित है। केनिया के निकट टैगेनिका प्रदेश है। पहले यह जर्मनी का उपनिवेश था। परन्तु यूरोपीय महायुद्ध के बाद सन् १९२० से इसका शासन-प्रबन्ध राष्ट्रसघ की शासनादेश-प्रणाली (Mandate System) के अन्तर्गत अग्रेजों द्वारा किया जाता है। यहाँ भारतीयो के साथ समानता का व्यवहार किया जाता है।

आस्ट्रेलिया मे एक समय की कॉमनवैल्थ ने भारतीयो का प्रवास सर्वथा रोक दिया था। इस रोक के प्रमुख कारण जातीयता के उग्र भाव और अर्थ-शोषण ही थे। और तो और, उन भारतीयों का प्रवेश भी रोक दिया जो केवल भ्रमण के ही लिए—बसने के लिए नही—जाना चाहते थे। प्रवासियो की स्थिति में सुधार के लिए प्राय ७५ वर्षो से लगातार आदोलन होरहा है। इसीके फलस्वरूप सन् १९०४ मे आस्ट्रेलिया ने भारतीयो के प्रवेश पर से यह रोक हटाली और भारतीय भ्रमणकारियो के लिए वहाँ जाने का द्वार खुल गया।

न्यूजीलैण्ड मे भी, आस्ट्रेलिया के साथ-साथ, भारतीयो के प्रवेश पर रोक लगा दी गयी थी। सन् १९११ मे भारतीयों के लिए न्यूजीलेंड मे प्रवास-सम्बन्धी कडे-से-कडे नियम बनाये गये। सन् १९२० मे प्रवास-प्रतिबंध-कानून के द्वारा समस्त प्रवासियो पर कड़े नियम लगाये गये। जो न्यूजीलेंड जाना चाहता उसे पहले से आज्ञा प्राप्त करना जरूरी होता था।

कनाडा मे भी प्रवासी भारतीयों को बडे-बड़े अत्याचार और अपमान सहने पडे है। भारतीयो के सिवा चीनी और जापानी लोगो पर भी प्रवास-सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाये गये। सन् १९१० मे कनाडा की सरकार ने प्रवास-सम्बन्धी जो नियम बनाये वे जापानियो की अपेक्षा भारतीयो के लिए

अधिक अपमानजनक और प्रतिबन्धकारी थे। सन् १९१४ मे सरदार गुरुदत्तसिंह के नेतृत्व में भारतीयो (विशेषत सिक्खो) का एक दल जापानी जहाज 'कोमागाता मारु' मे कनाडा के लिए गया। परन्तु वह जहाज बन्दर पर लगातार तीन मास तक लगा रहा। कनाडा की सरकार ने उसके यात्रियो को कनाडा मे प्रवेश करने से रोक दिया। अन्त मे इस जहाज को वापस लौटना पड़ा। कनाडा की फेडरल सरकार के आग्रह पर भी ब्रिटिश कोलम्बिया के प्रवासी भारतीयों को अबतक मताधिकार से वचित रखा गया है।

दक्षिणी रोडेशिया मे भारतीयो के साथ बहुत बुरा वर्ताव किया जाता है। परन्तु वहाँ प्रवासियो की सख्या बहुत कम है।

फिजी और मॉरिशस मे सन् १९३२ मे भारतीय प्रवासियों की जन-सख्या क्रमश ७६,७२२ और २५,७९६ थी। ये अग्रेजो की क्राउन कॉलोनी हैं। इनको आबाद करने मे भारतीयो ने अपना बलिदान किया और पुरस्कार मे उन्हे अपमान और दमन मिला! फिजी की व्यवस्थापिका परिषद् मे अब पाँच प्रतिनिधि लिये जाते है। तीन भारतीय प्रतिनिधि निर्वाचित और दो मनोनीत होते है। मॉरिशस की जनसख्या मे तीन हिस्से भारतीयो की आबादी है। परन्तु इसपर भी राजनीतिक दृष्टि से उनका कोई मूल्य नही है। मेडागास्कर फ्रास के अधीन है। वहाँ प्रवासी भारतीयो के साथ अपमानजनक व्यवहार तो नही होता, फिर भी उनकी वह स्थिति नही है जो होनी चाहिए। जो उपनिवेश डच तथा पुर्तगाली लोगों के अधीन है, उनमे भी भारतीयो की स्थिति सन्तोषप्रद नही है। जजीबार नाममात्र के लिए सुलतान के हाथों मे है, उसके शासन-प्रबध मे अग्रेजो का प्रभाव है। हाल मे जजीबार मे लौग-व्यापार के सबध म जो नया कानून बना था, उससे भारतीयो मे बडा असन्तोष पैदा होगया। भारतीय राष्ट्रीय महासभा—काग्रेस—ने भारत मे इसी कारण लौंग का वहिष्कार किया था।

प्रवासी भारतीयो की समस्या सचमुच वडी विकट है। प्रारम्भ मे जिन भारतीयो ने अपनी पूंजी और श्रम मे ब्रिटिश उपनिवेशों को इस

योग्य बनाया कि वे मनुष्यो के रहने योग्य बन सके और उन्हे व्यापारिक दृष्टि से उन्नत बनानें मे पूरा योग दिया, आज उन्ही भारतीयों को श्वेतांग यह कहते हैं कि उन्हे उपनिवेशो मे प्रवास का कोई अधिकार नही है। प्रवासियों की इस दयापूर्ण दशा का एक मात्र कारण है भारत की परतन्त्रता। परन्तु स्वाधीनता-प्राप्ति के साथ प्रवासियो के वे संकट दूर हो जायेगे।

साम्राज्य-विरोधी संघ

ससार भर में साम्राज्यवाद का आतक इतना बढ़ गया है कि उसका विरोध करने के लिए सन् १९२७ ई० मे ब्रसेल्स में अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य-विरोधी सघ (League Against Imperialism) की स्थापना की गयी। सस्था का मूल उद्देश्य साम्राज्यवाद की सभी विरोधी शक्तियो को एक सूत्र मे बाँधना है, क्योकि साम्राज्यवादियो से सघर्ष के लिए यह आवश्यक है कि उसकी विरोधी शक्ति को संगठित किया जाये। इस सस्था का कार्य उपनिवेशो मे साम्राज्यवाद के विरुद्ध होरहे युद्ध को चलाये रखना है। भारतीय राष्ट्रीय महासभा (काग्रेस) और भारतीय व्यवसायी-सघ का इस सस्था से सबन्ध है।

ब्रसेल्स (जर्मनी) मे जो स्थायी सघ स्थापित किया गया उसका सभापतित्व इंग्लैंड के प्रसिद्ध मजदूर नेता जार्ज लेन्सबरी ने ग्रहण किया था। प० जवाहरलाल नेहरू ब्रसेल्स की साम्राज्य-विरोधी परिषद् मे सम्मिलित हुए थे। इसके सम्बन्ध मे उन्होने 'मेरी कहानी' मे लिखा है—

"काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के संरक्षक हैं। उनमें एक तो मि० आइन्स्टीन हैं और दूसरी श्रीमती सनयातसेन और मेरा खयाल है रोम्यां रोलां भी। कई महीने बाद आइन्स्टीन ने इस्तीफा दे दिया, क्योकि फिलिस्तीन में अरबो और यहूदियों के जो झगडे हो रहे थे उनमें लीग ने अरबो का पक्ष लिया था और यह बात उन्हें नापसन्द थी।"

प० जवाहरलाल नेहरू का इस सघ से पहले सम्पर्क था, परन्तु सन् १९३१ से काग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली मे जो समझौता हुआ और उसमे नेहरूजी ने जो भाग लिया उसपर साम्राज्यवाद-विरोधी सघ उनसे नाराज होगया और उसने उन्हे अपनी सदस्यता से अलग करने के लिए प्रस्ताव भी पास किया ।

पी० ई० एन० और भारत

पी० ई० एन०[1] क्लब कवियों, पत्रकारो, नाटककारो, सपादको और उपन्यास-लेखको की एक अन्तर्राष्ट्रीय-सस्था है। इग्लैड की प्रसिद्ध विदुषी लेखिका श्रीमती केथरिन ए० डासन स्कॉट ने लन्दन मे अक्टूबर १९२१ मे इसकी स्थापना की थी । पर इस समय इस सस्था की समस्त ससार मे ४० देशो मे शाखाएँ है । सुविख्यात अग्रेजी उपन्यास-लेखक जॉन गैल्स-वर्दी प्रारम्भ से अपनी मृत्यु तक इस सस्था के प्रधान रहे । उसके बाद यह सम्मान सुप्रसिद्ध अग्रेज इतिहासवेत्ता श्री एच० जी० वैल्स को दिया गया। इस समय वही इस सस्था के प्रधान है । पी० ई० एन० का उद्देश प्रत्येक स्थान के लेखको मे पारस्परिक सद्भावना और सहानुभूति पैदा करना है । पी०ई०एन० वास्तविक अर्थ मे एक विश्व-सस्था है । यह उन लेखकों के विरुद्ध नही है जो उसके सदस्य नही है । उसमे जाति, रग, राजनीति तथा राष्ट्रीयता के आधार पर कोई भेद-भाव नही है । ससार के प्रमुख लेखक चाहे वे पुरुष हो या स्त्री, श्वेताग हो या पीताग, जवान हो या वृद्ध गरीब हो या धनी, अथवा चाहे जिस धर्म, जाति या राष्ट्र के हो, इस सस्था के सदस्य हो सकते है—

भारत मे भी पी० ई० एन० की शाखा सन् १९३३ ई० मे बम्बई मे स्थापित हो चुकी है । जब पी० ई० एन० की तेरहवी अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस मई १९३५ मे बार्सीलोना नगर मे हुई थी तो उसमे भारत की ओर से

---

[1] P=Poets Playwrights (कवि, नाटककार), E=Editors : Essayist (सम्पादक निबधकार), N=Novelits (उपन्यासकार)

श्रीमती सोफिया वाडिया प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुई थी। इस सस्था के द्वारा -समस्त प्रसिद्ध भारतीय लेखकों को परस्पर एक दूसरे को जानने और समझने का ही सुयोग नही मिलता, प्रत्युत उनका अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक सम्पर्क भी होता है। यह सस्था दो दिशाओ मे भारत मे साहित्य की प्रगति के लिए कार्य करती है —

(१) अपने अन्तर्राष्ट्रीय सगठन द्वारा सदस्य लेखकों की अग्रेजी रचनाओ को ससार भर मे प्रसिद्ध करना।

(२) अपने सदस्यो की भारतीय भाषाओ मे लिखी गयी रचनाओं को समस्त भारत मे प्रसिद्ध करना और भारत की विविध-भाषा-सबन्धी सस्कृतियो के सबन्ध में ज्ञान का प्रसार करना। इसी उद्देश से एक अखिल भारतवर्षीय भाषा-समिति भी स्थापित की गयी है जिसमे अनेक भारतीय भाषाओ के प्रमुख प्रतिनिधि हैं।

इस शाखा की ओर से 'इण्डियन पी० ई० एन०' नामक एक मासिक पत्रिका भी निकल रही है, जिसमे सस्था की गतिविधि और लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

भारतीय शाखा की प्रबध-समिति इस प्रकार है —

(१) डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर	प्रधान
(२) श्री० रामानन्द चट्टोपाध्याय (३) श्रीमती सरोजिनी नायडू (४) सर स० राधाकृष्णन्	उपप्रधान
	सगठनकर्त्री

: ७ :

राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता क्या है ?

राष्ट्रीयता पर विशद रूप से विचार करने से पहले यह जान लेना उचित होगा कि राष्ट्रीयता है क्या ? 'राष्ट्रीयता' शब्द की उत्पत्ति 'राष्ट्र' शब्द से हुई है। राजनीतिक भाषा मे राष्ट्र, राज्य और जाति इन तीनों मे अन्तर है। 'राज्य' के कई आवश्यक तत्त्वो मे से 'राष्ट्र' भी एक है, परन्तु 'राष्ट्र' को हम 'राज्य' नही कह सकते। 'राज्य' मे 'राष्ट्र' शामिल है, क्योंकि वह उसका एक अग है। जाति को भी हम राष्ट्र नही कह सकते। हाँ, हम ऐसी कल्पना कर सकते है कि एक ही जाति से बना कोई राष्ट्र हो। ससार मे ऐसे अनेक राष्ट्र है जो कई जातियो के समूह से बने है। जैसे कनाडा मे दो जातियाँ—फ्रासीसी और अग्रेज—है। स्वीजरलैड में तीन जातियाँ है—जर्मन, इटेलियन और फ्रासीसी। भारतवर्ष मे मुख्यतया दो जातियाँ है हिन्दू और मुसलमान। परन्तु हिन्दू या मुसलमान स्वय कोई राष्ट्र नही है। आजकल ऐसा प्रचार हो रहा है कि हिन्दू हिन्दू-समाज को हिन्दू-राष्ट्र और मुसलमान मुसलमानो को मुस्लिम-राष्ट्र कहते है। परन्तु वास्तव मे यह धारणा भ्रमपूर्ण और युक्तिहीन है।

राष्ट्र एक ऐसा जन-समुदाय है जो विशिष्ट सम्बन्धो से बँधा हुआ है और ये सम्बन्ध इतने शक्तिशाली और मजबूत है कि जिनके कारण वह सामूहिक रूप से सुखी रह सकता है और जब उसके सम्बन्ध अस्त-व्यस्त कर दिये जाते है तब वह असन्तोष और अशान्ति का अनुभव करता है। ऐसे जन-समूह का प्रत्येक व्यक्ति परस्पर एकता का अनुभव करता है और वह जिस देश मे रहता है उसे अपनी मातृभूमि मानता है। ये सम्बन्ध वास्तव मे उसमे मातृभूमि के प्रति भक्ति की भावना उत्पन्न करते है और वह इस भक्ति-भावना के कारण

उसके लिए वडे-से-वडा वलिदान करने मे तत्पर रहता है।

वे सम्बन्ध, जिनके कारण एक जन-समूह राष्ट्र कहलाता है, कई प्रकार के है--भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, धार्मिक और जातीय। इनमे सबसे प्रमुख भौगोलिक सम्बन्ध है। एक देश मे रहने के कारण व्यक्तियों मे देशभक्ति की भावना पैदा होजाती है और वे उसे अपनी मातृभूमि समझते है। एक ही सस्कृति एव ऐतिहासिक परम्परा भी व्यक्ति-समूह के पारस्परिक बन्धनो को मजबूत बनाती है। एक धर्म के अनुयायियो में भी एक प्रकार का बन्धुत्व स्थापित होजाता है। आर्थिक हितो की समानता भी ऐसे सम्बन्धों को पैदा करने मे सहायक है। अन्त मे जातीय एकता--रक्त-सम्बन्ध--भी राष्ट्र का एक बन्धन है। परन्तु उसपर अधिक जोर देने आवश्यकता नही है। सच तो यह है कि आज ससार की कोई भी जाति अपने रक्त की पवित्रता का दावा नही कर सकती। परन्तु तो भी यूरोपियन जातियाँ अपनी जातीय भावना के कारण ससार मे अन्याय और अनाचार कर रही है। अमरीका जैसे सभ्य और सुसस्कृत देश मे हब्शियों पर भीषण अत्याचार किये जा रहे है। उनका 'लिंचिग' किया जाता है। अफ्रीका मे भी काली जातियों के साथ गोरो के बर्बरतापूर्ण अत्याचार आज भी होरहे है। जर्मनी मे जातीय पवित्रता की भावना ने ऐसा उग्र और भयकर रूप धारण किया कि हिटलर ने अपने देश से यहूदियो को निकाल दिया। हिटलर की यह धारणा है कि केवल जर्मन ही पवित्र आर्य है। यहूदियो के ससर्ग मे रहने से जर्मनों का आर्यत्व नष्ट होजायेगा, इसलिए उन्हे जर्मनी मे न रहने दिया जाये। विदेशो मे गोरी जातियाँ प्रवासी भारतीयो को 'कुली' कहकर उनके साथ कैसा अन्याय करती है, यह तो सबको भलीभाँति विदित ही है।

प्रोफेसर रामजे म्यूर ने सिद्ध किया है कि जातीयता की भावना (अर्थात् यह विश्वास कि हमारी जाति ही संसार मे सर्वश्रेष्ठ है और दूसरी जातियाँ अपवित्र या वर्ण-सकर है) ससार की जातियों में घृणा, रग-द्वेष, प्रतियोगिता और अशान्ति पैदा करनेवाली है।

ससार मे राष्ट्रीयता ने इतनी अशाति पैदा नही की जितनी कि जातीयता की भावना ने की है।[१]

राष्ट्र के लिए भाषा की एकता भी जरूरी है। जबतक जनसमूह म भाव-प्रकाशन सामान्य भाषा द्वारा न होगा, तबतक उसमे विचार की एकता भी पैदा नही होसकती, और जब विचार-एकता पैदा नही होगी, तो उसमे सास्कृतिक एकता पैदा नही हो सकती। भारत मे राष्ट्रीय नेताओ ने इस आवश्यकता को अनुभव किया है और इसी लिए सामान्य-भाषा—राष्ट्रभाषा—के निर्माण के लिए प्रयत्न होरहा है।

राष्ट्र की ऐतिहासिक परम्परा के सबध मे प्रोफेसर रामजे म्यूर का मत है —

"वीरो के महान् कृत्य और वीरता के साथ किया गया बलिदान ऐसा श्रेष्ठ और पौष्टिक भोजन है जिससे राष्ट्र की आत्मा को शक्ति और स्फूर्ति मिलती है। इसीसे अमर और पवित्र परम्परा और इतिहास का निर्माण होता है, और फलत राष्ट्र-निर्माण का मार्ग भी साफ होता है। इनके मुकाबिले धन-सम्पदा, जन और भूमि हेय प्रतीत होती है। जिस राष्ट्र के पास ऐसी स्मृतियो का अक्षय भण्डार है, उसके देश के आस-पास रहनेवाले लोग, जिनका उससे न कोई जाति-सबध है और न धर्म तथा भाव का संबध उसमें मिल जाने में आत्मगौरव अनुभव करेंगे।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता एक भावना है। जिस देश की जनता मे सामान्य भावना हो, वहाँ राष्ट्रीयता का पौदा पनपने लगता है।

राष्ट्रीयता के उदय के कारण

आज हम राष्ट्रीयता का उदय उन सभी देशो मे देख रहे है जो विदेशी-शासन के नियत्रण मे है, और जो देश स्वाधीन है उनमे तो राष्ट्रीयता का विकास ऐसी भयकर दिशा मे हुआ है कि आज विद्वानो

---

१. रामजे म्यूर · 'नेशनलिज्म एण्ड इण्टरनेशनलिज्म" (१९१९) पृ० ३४-३५

का यह मत है कि राष्ट्रीयता ही ससार मे अशान्ति का मूल है। स्वाधीन और पराधीन दोनों प्रकार के देशो मे राष्ट्रीयता के विकास के भिन्न-भिन्न कारण है।

स्वाधीन देशो मे विज्ञान, आविष्कार और औद्योगीकरण ने उग्र राष्ट्रीयता को जन्म दिया। पाश्चात्य देशो मे औद्योगिक क्रान्ति ने जनता के सामाजिक जीवन मे आश्चर्यजनक क्रान्ति पैदा करदी। पहले लोग छोटे-छोटे साधारण कस्बो और ग्रामो में रहते थे। अधिकांश लोग मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट पालते थे। कृषि ही उनका मुख्य व्यवसाय था। यातायात तथा पत्र-व्यवहार के साधन वैज्ञानिक ढग के न होने से परस्पर मेल-मिलाप भी कम होता था। साक्षरता एव शिक्षा का बडा अभाव था। इन कारणों से उनमे राष्ट्र-भावना का विकास नही हो सका। यदि आप ३० वर्ष पूर्व की रूस, चीन, ब्रह्मा तथा भारत की स्थिति का अध्ययन करे तो आपको यह स्पष्ट होजायेगा कि भारत मे भी पहले राष्ट्र-भावना नही थी। परन्तु जब उद्योग-धन्धों का विकास हुआ, नवीन आविष्कारो के कारण नयी-नयी मशीने, यत्र तथा औजार तैयार किये गये, तब उद्योगवाद का जन्म हुआ। उद्योगवाद ने पूंजीवाद को विकसित किया। पूंजीवाद ने अपनी रक्षा और वृद्धि के लिए देश मे राष्ट्रीय भावना का प्रचार किया और उसका मनमाना उपयोग किया।

आज सभ्य तथा स्वाधीन देशों मे शिक्षा तथा समाचारपत्रों द्वारा रा ट्रीयता का प्रचार किया जा रहा है। स्कूलो और कालेजो मे प्रत्येक राष्ट्र ऐसी शिक्षा की योजना काम मे ला रहा है जिससे अपने राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठता की छाप छात्रो के हृदय पर पड़े। पूंजीपतियों द्वारा सचालित समाचारपत्र भी राष्ट्रीयता का प्रचार कर रहे है।[१]

जो देश पराधीन है, उनमे राष्ट्रीयता के उदय के कारण इनसे भिन्न है। पराधीन राष्ट्रो में साम्राज्यवादी राष्ट्रो के द्वारा जो आर्थिक

---

१ डब्ल्यू बी करी : 'दि केस फॉर फेडरल यूनियन' (१९४०) पृष्ठ ५३।

शोषण किया जाता है तथा उनके आर्थिक जीवन को नष्ट कर दिया जाता है, उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अर्थात् अपने आर्थिक सर्वनाश से रक्षा पाने के लिए राष्ट्रीय भावना पैदा होती है। समस्त दलित और पीडित जनता मे वैदेशिक नियन्त्रण से मुक्ति पाने के लिए एकता का भाव पैदा होता है और वह इस आधार पर आन्दोलन उठाती है कि विदेशी बन्धन से मुक्त होजाने पर समस्त जनता का कल्याण होगा। बस इस प्रकार राष्ट्रीय भावना उत्पन्न होजाती है।

राष्ट्रीयता की भावनाएँ

आज के युग मे हम राष्ट्रीयता की तीन भावनाएँ मुख्य रूप मे पाते है। जनतत्रीय देशो मे पूँजीवादी राष्ट्रीयता अपनी चरम-सीमा को पहुँच चुकी है। अधिनायकतन्त्रवाले राज्यो मे फैसिस्ट राष्ट्रीयता हिसा और युद्ध का प्रचार ही नही कर रही है बल्कि यूरोप की सभ्यता और स्वाधीनता के नाश के लिए युद्ध-क्षेत्र मे सलग्न है। एक तीसरी राष्ट्रीयता की भावना का उदय स्वाधीनता के साधक भारत मे हो रहा है, जिसके प्रवर्त्तक ससार के अद्वितीय शान्तिवादी महात्मा गांधी और पडित जवाहरलाल नेहरू है। इसे हम मानववादी राष्ट्रीयता का नया नाम देगे।

(१) पूँजीवादी राष्ट्रीयता

फास की राज्यक्रान्ति के बाद ब्रिटेन, फास, बेलजियम तथा अन्य देशो मे प्रजातन्त्र का उदय हुआ। स्वाधीनता, समता तथा बन्धुता के भावों का जनता मे बड़ा प्रचार हुआ। सबसे पहली बार जनता ने एकतन्त्र-शासन से मुक्ति पायी और प्रजा की स्वाधीनता की स्थापना की। इस क्रान्ति के बाद प्रजातन्त्र के नाम पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का घोर प्रचार किया गया। इसका परिणाम यह निकला कि प्रसिद्ध अग्रेज राजनीतिज्ञ मिल, स्पेसर, सिज्विक, ग्रीन और बोजाक्वेट ने खुल्लमखुल्ला व्यक्ति-वाद का समर्थन किया।

व्यक्तिवाद का मतलब यह है कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति की

उन्नति उसकी आवश्यकता और योग्यता के अनुसार होनी चाहिए। इसलिए भिन्न-भिन्न प्रकार के सब व्यक्तियो के लिए एक-सा कानून बनाना ठीक न होगा। सरकार को व्यक्तियो के कार्यो मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। उन्हे स्वतन्त्र रीति से अपनी उन्नति और विकास का अवसर देना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिवाद सरकार के कार्यो को बहुत ही मर्यादित मानता है। ग्रीन ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि सरकार दमन या सुशासन के द्वारा समाज के आत्म-निर्णय के अधिकार मे कोई बाधा न डाले। सब लोगो को अपने-अपने रास्ते से चलने देना उचित है।

व्यक्तिवाद का विकास उन्नीसवी सदी मे यहाँतक हुआ कि व्यक्तियो को कानून की दृष्टि मे समान समझा जाने लगा। प्रत्येक (बालिग) व्यक्ति को समान मताधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र मे समता का सिद्धान्त स्थिर किया गया।

राजनीतिक समता के कारण नागरिको को अपने देश के शासन मे भाग लेने का अधिकार मिला। प्रतिनिधि-सस्थाओ का विकास हुआ। प्रतिनिधि-सस्थाओ की यह विशेषता है कि राज्य का शासन जनता-द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के हाथ मे होता है। अत इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचको का अधिक महत्त्व है। जिस दल का पार्लमेण्ट मे बहुमत होता है, उसी दल का नेता मन्त्रिमण्डल बनाता है और इस तरह वह सारे देश का शासन करता है। परन्तु पूंजीवाद के प्रभाव के कारण निर्वाचक स्वतन्त्र रूप से अपने मताधिकार का प्रयोग नही करते। चुनाव पूंजी-पतियो के हाथ मे होता है। वे जिसे ठीक समझते है, उसीको चुनाव मे खडा करते है और उसे कामयाब बनाने के लिए निर्वाचको को तरह-तरह के प्रलोभन देते है। इस प्रकार निर्वाचको और प्रतिनिधियो का पतन किया जाता है। देश के बडे-बडे प्रभावशाली पत्रो के स्वामी भी पूंजीपति ही होते है, जिससे समाचारपत्र भी ऐसे ही उम्मीदवारो का समर्थन करते है। अत शोषित समाज के लिए राजनीतिक समता व्यर्थ सिद्ध होती है। वह स्वतन्त्रता से अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता।

इस तरह, ऐसे चुनावो के फलस्वरूप, पार्लमेण्ट मे पूँजीपतियो का बोलबाला होता है और वे अपनी सरकार बनाते है । फिर शासन-सत्ता हाथ मे आजाने से पूँजीपति स्वच्छन्दता से अपने स्वार्थों की सिद्धि करते है । अपने तैयार माल की बिक्री के लिए वे दूसरे देशो मे बाजारो की खोज करते है, पिछडे देशो मे अपना आधिपत्य जमाते है, नये उपनिवेश बसाते है, और इन कामों मे पूँजीवादी राष्ट्रीय सरकार उनकी पूरी मदद करती है । सरकार की पूरी शक्ति—पुलिस, फौज और बैंक आदि—इन पूँजीपतियो के पीछे रहती है । पूँजीपति अपने वर्गीय स्वार्थो को राष्ट्रीयता का रग देकर अपने देशबन्धुओ को धोखा देते है । उनके सामने अपने स्वार्थो को 'राष्ट्रीय हित' के नाम से पुकारते है । ये पूँजीवादी अपने देश मे यह आन्दोलन करते है कि हमारे देश की जन-सख्या मे वृद्धि हो गयी है, देश मे स्थान की कमी है । इसलिए हमे और देश चाहिएँ । हमारे देश मे बेकारी है, आर्थिक सकट है, इसलिए हमें अपने उद्योग-धधो की वृद्धि करनी चाहिए । हमे दूसरे देशो से खतरा है, इसलिए हमे अपने देश मे शस्त्रो तथा युद्ध-सामग्री की वृद्धि करनी चाहिए ।

(२) फासिस्ट राष्ट्रीयता

फासिज्म मूलरूप में इटली का राष्ट्रवादी आन्दोलन है, जिसका प्रवर्तन १९१९ मे इटली के अधिनायक (डिक्टेटर) बेनितो मुसोलिनी ने किया था । इस आन्दोलन का कार्यक्रम राष्ट्रवादी, प्रभुतावादी, साम्य-वाद-विरोधी और पार्लमेण्ट-विरोधी था । फासिज्म दावा करता है कि न तो वह पूँजीवादी है न समाजवादी । उसकी भावना और सगठन सैनिक ढग का है ।

इस समय यूरोप मे फासिस्ट राष्ट्रीयता का घोर आतक है । फासिस्ट राष्ट्रो ने यूरोप मे उग्र राष्ट्रीयता का विकास इस सीमा तक किया है कि यूरोप के वर्तमान युद्ध मे आज सारी यूरोपीय सभ्यता, सस्कृति और स्वाधीनता नष्ट हुई जा रही है ।

वेनितो मुसोलिनी ने उग्र राष्ट्रीयता का प्रचार आरम्भ से ही किया है। मुसोलिनी ने अपने एक लेख मे लिखा है—

"......फासिज्म जितना अधिक सामयिक राजनीतिक दृष्टिकोण को अलग रखकर, मानवता के भविष्य और उसके विकास पर विचार एव चिन्तन करता है, उतना अधिक न तो वह स्थायी शान्ति की उपयोगिता में विश्वास करता है और न ऐसा सम्भव ही है। इस प्रकार वह शान्तिवाद के उस सिद्धान्त को अस्वीकार करता है जिसको उत्पत्ति संघर्ष के परित्याग और आत्मत्याग के सामने कायरता से हुई है।...

"सिर्फ युद्ध ही मानवीय शक्तियो को सबसे अधिक उत्तेजना प्रदान करता है और मानवों के हृदय पर श्रेष्ठता की छाप लगाता है।' अत जो सिद्धान्त शान्ति की इस हानिप्रद कल्पना पर स्थिर है, वह फासिज्म का विरोधी है।

"वह (फासिज्म) मानव-समाज को आदिकाल के कबीले के जीवन से ऊँचा उठाकर मानव-शक्ति की सर्वोच्च अभिव्यक्ति की ओर ले जाता है--जिसे साम्राज्य कहते है।

"फासिज्म के लिए साम्राज्य का विकास—अर्थात् राष्ट्र का विस्तार—शक्ति का आवश्यक प्रदर्शन है और इसका विपरीत अव पतन का लक्षण है। जो जातियाँ उठ रही है, वे सदैव साम्राज्यवादी ही होती है। इसका परित्याग ही पतन और मृत्यु का लक्षण है।"[१]

हिटलर की ओर से भी एक दशाब्दी से जर्मनी में हिंसा, युद्ध और दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा तथा विद्वेष का प्रचार हो रहा है। उन्होंने भी अपने आत्मचरित 'मेरा सघर्ष' मे लिखा है—

"यथार्थ में शान्तिवादी-मानववादी भावना पूर्णत अच्छी है, परन्तु इस शर्त पर कि सबसे पहले सर्वोच्च मानव-वर्ग ने संसार को इस सीमा तक जीत लिया हो कि वह संसार का एकमात्र स्वामी बन जाये।......

---

१. सीन्योर मुसोलिनी 'द पोलिटिकल एण्ड सोशल डॉक्ट्रीन ऑव फ़ैसिज्म इन इन्साइक्लोपीडिया इटैलियाना' (१९३२)

इसलिए हमें पहले युद्ध करना चाहिए—शान्तिवाद शायद भविष्य में देखा जायगा।"

हिटलर ने जर्मन जनता मे सामरिक भावना पैदा करने के लिए ही लिखा है —

"जर्मनी की सत्ता को पुन. प्राप्त करने के लिए तुम्हे यह न पूछना चाहिए कि 'हम किस तरह शस्त्रास्त्र बनावें ?' बल्कि वह भावना पैदा करनी चाहिए जिससे मनुष्यों में शस्त्र-धारण की क्षमता प्राप्त हो जाये। यदि ऐसी भावना लोगों में पैदा होजाये, तो उनकी इच्छा-शक्ति सहस्रों ढंग से प्रकट होसकेगी, जो उनमें से किसी को भी शस्त्रीकरण की ओर ले जायेगी। यों एक कायर व्यक्ति को १० पिस्तौल दे दिये जायें, तो भी जब उसपर आक्रमण होगा तो वह एक गोली भी न छोड़ सकेगा।"

"ऐसे राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन को धिक्कार है, जो केवल विरोध पर निर्भर रहता है और युद्ध की तैयारी नहीं करता।"

उपर्युक्त अवतरणो से यह स्पष्ट है कि 'राष्ट्रीय समाजवाद' का आधार सैनिकवाद और हिंसा है। इस फासिस्ट राष्ट्रीयता का जर्मनी मे समाचारपत्रों और स्कूलो द्वारा भी प्रचार किया जाता है। जर्मनी मे हेर हिटलर ने उग्र राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए हर उपाय से काम लिया है। साहित्य, कला, काव्य, सगीत, सिनेमा, रेडियो आदि सबका उपयोग युद्ध और हिंसा के भाव को जगाने के लिए किया गया है।

जर्मनी मे प्रचलित गीतो मे भी फ्रास, रूस और यहूदियो के प्रति जर्मनो के हृदय मे पाशविक, घृणापूर्ण और प्रतिहिंसा के भावो को काव्यमयी भाषा में जगाने की प्रबल चेष्टा है।

यहूदियो पर जो भयकर और हृत्कम्पनकारी अत्याचार जर्मनो द्वारा किये गये है उनसे द्रवित होकर अहिंसा के पुजारी महात्मा गाधी ने लिखा है :—

"जर्मनों ने यहूदियो पर जो अत्याचार किये है, उनकी कहानी इतिहास में बेजोड़ है। प्राचीन काल के अत्याचारी इतने पागल नहीं हो

गये थे जितने कि हिटलर पागल होगये प्रतीत होते हैं। वह ऐसा धार्मिक जोश के साथ कर रहे हैं, क्योंकि वह उग्र राष्ट्रीयता के नवीन धर्म का विकास कर रहे हैं जिसके नाम पर किया गया कोई भी अमानवीय कार्य मानवीय बन सकता है। और जिसके लिए इहलोक और परलोक में पुरस्कार मिलेगा।"

यह है इस उग्र राष्ट्रीयता का स्वरूप। इसका अधिक उल्लेख करने की आवश्यता नही कि फासिज्म ससार मे स्थायी शान्ति का विरोधी है। वह अन्तर्राष्ट्रीयता मे विश्वास नही करता। उनका आधार उग्र राष्ट्रवाद, सैनिकवाद और साम्राज्यवाद है। फासिज्म स्वदेश के अभ्युदय के लिए अन्य देशो पर आधिपत्य को मानवता की शक्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन मानता है। वह युद्ध को प्रोत्साहन देता है, क्योंकि साम्राज्य-विस्तार युद्ध के बिना सम्भव नही है। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि वर्तमान् युद्ध यूरोप मे बढती हुई पूंजीवादी और फासिस्ट राष्ट्रीयता का ही भयकर परिणाम है।

(३) मानववादी राष्ट्रीयता

महात्मा गाधी की राष्ट्रीयता अहिंसा और विश्व-प्रेम पर स्थिर है। वह सबसे पहले मानव हैं और अन्त मे भी मानव हैं। उनके हृदय मे मानव-मात्र के लिए प्रेम है, आदर है और सकुचित जातीयता को वह घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अहिंसा के अनन्य पुजारी होने के कारण वह किसी भी राष्ट्र की जनता को किसी प्रकार की हानि पहुंचाने की भावना को अपने सिद्धान्त के विरुद्ध मानते हैं। वह वास्तव मे एक आदर्श मानव-वादी हैं।

गांधीजी स्वदेश के नागरिको मे एकता चाहते हैं—समन्वय चाहते हैं—सघर्ष नही। भारत में उनका लक्ष्य यह है कि उसके आन्तरिक मतभेदो और विवादो को मिटाकर जनता को स्वराज्य के लिए सगठित किया जाये, स्त्रियो को उठाकर पुरुषो के समान राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक धरातल पर विठाया जाये, राष्ट्र को विभक्त करनेवाले धार्मिक

घृणा-द्वेषो का अन्त कर दिया जाये, और हिन्दू धर्म को अस्पृश्यता के सामाजिक कलक से मुक्त कर दिया जाये।[१] गाधीजी की यह धारणा है कि 'यदि मेरा पुनर्जन्म हो, तो मै अछूत होकर जन्मना चाहूंगा, ताकि मै उनके दुःख-दर्द और अपमान में भाग ले सकूं और अपने-आपको तथा उनको उस दयनीय दशा से छुड़ाने का यत्न कर सकूं।"[२]

उनकी दृष्टि मे हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि मे कोई भेद नही है। वह यद्यपि हिन्दू-धर्म का पालन करते है और हिन्दू होने का उन्हे गर्व है, तथापि ससार के अन्य धर्मो के प्रति उनके हृदय मे अगाध श्रद्धा है। इसका कारण यह है कि गाधीजी धर्मो की एकता में विश्वास करते है। उनका विचार है कि ससार के सब धर्मो मे तात्त्विक एकता है—उनके मूल सिद्धान्त एक-से है। गाधीजी नागरिक समानता को भारत मे स्थापित करना चाहते है। उन्होने अपने एक लेख म लिखा है—

"जब युद्ध के बादल बिखर जायेंगे और भारत अपनी स्वाधीनता का अधिकार पा लेगा, तब मुझे शक नहीं कि कांग्रेसी लोग किसी मुसलमान, सिक्ख, ईसाई या पारसी को अपने प्रधान-मंत्री के तौर पर वैसे ही सहर्ष स्वीकार करेंगे जैसे कि एक हिन्दू को। इतना ही नहीं, वह कांग्रेसी न भी हो, तो भी वैसे ही और किसी प्रकार के धर्म या वर्ण के भेद बिना उसे अधिकार देंगे।"[३]

महात्मा गाधी प्रजातत्र के प्रबल समर्थक है। वह राष्ट्र के विविध वर्गो, हितो और समुदायो मे सहयोग और एकता चाहते है। वह किसी एक वर्ग का शासन नही चाहते। बहुमत के निर्णय मे उनका विश्वास है। फासिज्म और नाजीवाद की उन्होने सदैव निंदा की है और उन्हे सभ्यता एव संस्कृति का शत्रु कहा है।

---

१ गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : सम्पादक—श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन (१९३९) पृ० १०

२-३ 'हरिजन-सेवक' (पूना) : 'मेरा अन्याय' (गांधीजी) २८ सितम्बर १९४०

वह मानव-सेवा के सबसे महान् समर्थक हैं। सार्वजनिक जीवन मे शुद्धि तथा सदाचार पर वह जोर देते है। उनमे मातृभूमि के लिए बडे-से-बडा त्याग और बलिदान करने की शक्ति है। परन्तु उनकी देशभक्ति उग्र एव दूसरे राष्ट्र के लिए विघातिनी नही है। वह अपनी जन्म-भूमि के प्रति अनुराग रखते हुए भी मानवता-प्रेमी है, विश्व-शान्ति के समर्थक है।[१]

गाधीजी का विश्वास है कि भारत की प्राचीन सस्कृति से ससार के विकास मे सहायता मिल सकती है। नीचे गिरा हुआ भारत मानव-जाति को आशा का सन्देश नही दे सकता। जाग्रत स्वतंत्र भारत ही पीड़ित ससार की सहायता कर सकता है। गाधीजी कहते है कि यदि अंग्रेज लोग न्याय, शान्ति और व्यवस्था की अपनी भावना मे सच्चे हो, तो आक्रान्ता शक्तियो को दबा देना और वर्तमान परिस्थिति को ही कायम रखना उचित नही है। हमारे माने हुए आदर्शो के विपरीत जो परिस्थिति हो उसे सुधारने से इन्कार करना भी हिंसा है। न्याय और स्वतन्त्रता के हमारे प्रेम मे इस निष्क्रिय हिंसा से बचने का बल होना चाहिए। यदि साम्राज्यो का निर्माण मनुष्य की तृष्णा, क्रूरता और घृणा ने किया है, तो ससार को न्याय तथा स्वतन्त्रता की शक्तियो का साथ देने के लिए कहने से पहले हमे उनको बदलना होगा। हिंसा या तो सक्रिय होगी या निष्क्रिय। आक्रान्ता शक्तियाँ इस समय सक्रिय हिंसा कर रही है; वे साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी हिंसा की उतनी ही अपराधिनी और स्वातन्त्र्य

---

१ My patriotism is both exclusive and inclusive It is exclusive in the sense that in all humility I confine my attention to the land of my birth, but it is inclusive in the sense that my service is not of a compatitive or antagonistic nature.

—'महात्मा गांधीज स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स' (चतुर्थ संस्करण): जी० ए० नटेशन कं०, मद्रास

तथा प्रजातन्त्र की विरोधिनी है, जो भूत-काल की हिंसा द्वारा प्राप्त अन्यायपूर्ण कामो का उपयोग करने में आज भी सलग्न है। जबतक हम इस मामले मे ईमानदारी से काम न लेगे, तबतक हम सबसे अच्छी विश्व-व्यवस्था स्थापित नही कर सकेगे, और ससार मे युद्ध तथा युद्धो का भय जारी रहकर, अनिश्चय की व्यवस्था स्थायी होजायेगी। भारत को स्वतन्त्र कर देना ब्रिटिश ईमानदारी की अग्नि-परीक्षा है।[1]

मार्च १९३९ के विश्व-सकटकाल मे 'न्यूयार्क टाइम्स' के एक सवाद-दाता ने गाधीजी से ससार के लिए सन्देश मांगा, तब उन्होंने कहा कि सब प्रजातन्त्रों को एकदम नि शस्त्र होजाना चाहिए। उन्होने बतलाया कि इसी एकमात्र हल से युद्धों का अन्त किया जा सकता है। उन्होंने कहा—"मुझे यहाँ बैठे-बैठे ही निश्चय है कि इससे हिटलर की आँखें खुल जायेंगी और वह आप नि शस्त्र होजायेंगे।"

संवाददाता ने पूछा—क्या यह चमत्कार नहीं है?

गांधीजी ने जवाब दिया—शायद। परन्तु इससे संसार की उस रक्तपात से रक्षा होजायेगी जो अब सामने दीख रहा है।···कठोरतम धातु काफी आंच से नरम होजाती है; इसी प्रकार कठोरतम हृदय भी अहिंसा की पर्याप्त आँच लगने से पिघल जाना चाहिए और अहिंसा कितनी आँच पैदा कर सकती है उसकी कोई सीमा नहीं···अपने आधी शताब्दी के अनुभव में मेरे सामने एक भी ऐसी परिस्थिति नहीं आयी जब मुझे यह कहना पड़ा हो कि मै असहाय हूँ और मेरी अहिंसा निरुपाय होगयी।[2]

गाधीजी का अहिंसा की शक्ति मे कितना गहरा विश्वास है, यह उनके उपर्युक्त कथन से साफ प्रकट होजाता है। यह सन्देश उन्होने वर्त्तमान यूरोपीय युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले दिया था जबकि ससार

---

१ सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन : 'गांधी-अभिनन्दन ग्रथ' (१९४१) पृष्ठ १५

२ वही : पृ० २४

के राष्ट्रो का शस्त्रीकरण बेहद बढ़ चुका था और युद्ध के बादल आकाश मे मँडरा रहे थे।

वर्तमान यूरोपीय युद्ध शुरू होने पर भारत में उसको स्वाधीन राष्ट्र घोषित करने की राष्ट्रीय माँग कांग्रेस की ओर से ब्रिटिश सरकार के सामने रखी गयी। आज दो वर्ष से अधिक समय बीत गया, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय माँग को स्वीकार नही किया। एक ओर तो ब्रिटिश सरकार की यह वृत्ति है, दूसरी ओर महात्मा गाधी भारत की स्वाधीनता के लिए युद्ध-काल मे कोई ऐसा उग्र कार्य करना अहिंसा के सिद्धान्त के विरुद्ध समझते है जिससे अग्रेज जाति सकट मे पड जाये। गाधीजी बराबर सत्याग्रह के प्रश्न को इसी दृष्टि से टालते रहे थे। उनका कहना है कि अग्रेजों की सकट-पूर्ण स्थिति से लाभ उठाकर हमें स्वाधीनता प्राप्त करना शोभा नही देता। ऐसा करना भारतीय आर्य-मर्यादा के विरुद्ध है।

गाधीजी को वर्तमान युद्ध से इतनी दारुण व्यथा पहुँची कि उन्होंनें घोर युद्ध-काल मे, जबकि ब्रिटेन के लिए जीवन-मरण का सवाल था— अग्रेजो से यह अपील की थी —

"राष्ट्रो के परस्पर के संबंध और दूसरे मामलों का निर्णय करने के लिए युद्ध का मार्ग छोड़कर अहिंसा का मार्ग स्वीकार करें। ' मैं आपसे यह कहता हूँ कि इस युद्ध के समाप्त होनें पर विजय चाहे जिस पक्ष की हो, प्रजातंत्र का कहीं नामोनिशान भी नहीं मिलेगा। यह युद्ध मनुष्य जाति पर एक अभिशाप और चेतावनी के रूप में उतरा है। यह युद्ध शापरूप है, क्योंकि आज तक कभी मानव मानवता को इस कदर नहीं भूला था, जितना कि वह इस युद्ध के असर के नीचे भूल रहा है।"[1]

यद्यपि महात्मा गाधी भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के सचालक और कांग्रेस के प्रधान नेता है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कट्टर

१. हरेक अंग्रेज के प्रति (महात्मा गांधी) :: 'हरिजन-सेवक', १३ जुलाई १९४०

विरोधी है, तो भी वह एक आदर्श मानववादी है। आज भी गाधीजी ब्रिटेन के प्रति मैत्री का निर्वाह कर रहे है—"मै दावा करता हूँ कि मै ब्रिटेन का आजीवन और निस्वार्थ मित्र रहा हूँ। एक वक्त ऐसा था कि मै आपके साम्राज्य पर भी आशिक था। मै समझता था कि आपका राज्य भारत को फायदा पहुँचा रहा है। मगर जब मैने देखा कि वस्तु-स्थिति तो दूसरी ही है, इस रास्ते से भारत की भलाई नही हो सकती, तब मैने अहिसक तरीके से साम्राज्यवाद का सामना करना शुरू किया और आज भी कर रहा हूँ। मेरे देश के भाग्य में आखिर कुछ भी लिखा हो, आप लोगों के प्रति मेरा प्रेम वैसा ही कायम है और रहेगा। मेरी अहिसा सारे जगत के प्रति प्रेम मांगती है और आप उस जगत के कोई छोटे हिस्से नही है। आप लोगो के प्रति मेरे उस प्रेम ने ही मुझसे यह निवेदन लिखवाया है।"[२]

यह है गाधीजी की मानववादी राष्ट्रीयता। वह भारत के लिए स्वाधीनता चाहते है, परन्तु वह यह स्वाधीनता किसी दुर्बल राष्ट्र का शोषण करने या साम्राज्य की स्थापना करने के लिए नही चाहते।

यूरोप मे युद्ध आरम्भ होने के बाद भारतीय राष्ट्रीय महासभा (काग्रेस) की कार्य-समिति ने १४ सितम्बर १९३९ को भारतीय माँग के सम्बन्ध मे अपना जो ऐतिहासिक वक्तव्य प्रकाशित किया, उसमे यह स्वीकार किया गया है कि ससार मे युद्ध का कारण फासिज्म और साम्राज्यवाद है। ऐलान किया गया था कि ब्रिटेन यूरोप मे स्वाधीनता व प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए लड रहा है, परन्तु क्या ये स्वाधीनता एव प्रजातत्र के सिद्धान्त यूरोप तक ही सीमित रहेगे अथवा भारत मे भी लागू किये जायेगे? बस इसी प्रश्न के स्पष्टीकरण के लिए यह वक्तव्य प्रकाशित किया गया था। वक्तव्य मे स्पष्ट शब्दो मे कहा गया था—

"यदि इस युद्ध का उद्देश्य साम्राज्यवादी प्रदेशो, उपनिवेशो और

---

२ हरेक अंग्रेज के प्रति (महात्मा गांधी) : : 'हरिजन-सेवक' : १३ जुलाई १९४०

स्थापित स्वार्थों की वस्तुस्थिति को कायम रखना है, तो भारत को ऐसे युद्ध से कोई सरोकार नहीं है। अगर सवाल प्रजातन्त्र और प्रजातन्त्र के आधार पर स्थित समाज की व्यवस्था का है, तो भारत की उसमे बडी दिलचस्पी है।...यदि ब्रिटेन प्रजातन्त्र की रक्षा और विस्तार के लिए युद्ध में लड रहा है, तो उसे अपने अधिकृत देशों में से साम्राज्यवाद का अन्त कर देना चाहिए और भारत में पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना करनी चाहिए। अतएव भारत की जनता को बिना बाहरी हस्तक्षेप के अपनी निर्वाचित विधान-निर्मात्री परिषद् से अपना शासन-विधान बनाने का अधिकार मिलना चाहिए और स्वयं ही अपनी नीति का संचालन करना चाहिए।

"स्वतन्त्र प्रजातन्त्रवादी भारत दूसरे स्वतन्त्र राष्ट्रो के साथ आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक रक्षा तथा आर्थिक सहकारिता के लिए खुशी से सहयोग करेगा। हम एक सच्ची विश्व-व्यवस्था की स्थापना के लिए काम करेंगे जिसका आधार स्वाधीनता और प्रजातन्त्र होगा और संसार के ज्ञान-विज्ञान और साधनों को मानवता के विकास और प्रगति में उपयोग किया जायेगा।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय सघटन के विरुद्ध नही है। वह उसमे पूर्ण सहयोग देने के लिए प्रस्तुत है। परन्तु ऐसा करना उसी समय सफल हो सकता है जब पहले वह साम्राज्यवाद के बन्धन से मुक्ति पा ले।

भारतीय राष्ट्रीयता और पण्डित जवाहरलाल नेहरू

पडित जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीय रग मे रँगकर वास्तव में राष्ट्र की एक महान् सेवा की है। आज भारत मे नेहरूजी से बढकर कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थक नही है। भारतीय राष्ट्रीयता को उग्र और सकुचित हो जाने से बचाने मे नेहरूजी ने जो योग दिया है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

पडित जवाहरलाल नेहरू की विचारधारा पूर्णत समाजवादी है, परन्तु उनपर महात्मा गान्धी के सिद्धान्तो और विशेषरूप से उनके

अहिंसा-सिद्धान्त का गहरा प्रभाव पड़ा है। महात्माजी की अहिंसा मे उनका पूरा विश्वास है। वह साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी है और फासिज्म को साम्राज्यवाद का ही भयंकर रूप मानते है। उनकी यह धारणा है कि भारत का कल्याण समाजवादी व्यवस्था से होगा। वह शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता के सबसे बड़े समर्थकों मे से है। उन्होंने स्वयम् अपने सबन्ध में लिखा है—

"फासिज्म और साम्यवाद इन दोनो मे से मेरी सहानुभूति बिल्कुल साम्यवाद की ओर है। इस पुस्तक के इन्हीं पृष्ठों से यह मालूम हो जायेगा कि मैं साम्यवादी होने से बहुत दूर हूँ। मेरे संस्कार शायद एक हदतक अब भी उन्नीसवीं सदी के है और मानववाद की उदार परपरा का मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा है कि मैं उससे बिल्कुल बचकर निकल नहीं सकता।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है—

"मैं नहीं जानता कि हिन्दुस्तान जब राजनीतिक दृष्टि से आजाद हो जायेगा, तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा? लेकिन मैं इतना जरूर जानता हूँ कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वाधीनता के समर्थक है, व्यापक से व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी समर्थक है। एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ नहीं है, लेकिन बहुतेरे कांग्रेसी, जो समाजवादी नहीं है, लेकिन आगे बढ़े हुए है, वे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता के पुजारी है। स्वाधीनता हम इसलिए नहीं चाहते कि हमें सबसे अलग होकर रहने की इच्छा है। इसके बिपरीत हम तो इस बात के लिए बिल्कुल राजी है कि दूसरे देशो के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ अंश छोड़ दें कि जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम हो सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली, चाहे उसका नाम कितना ही बड़ा रख दिया जाये, ऐसी व्यवस्था की शत्रु है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोग या शान्ति कभी स्थापित नहीं हो सकती।"[2]

---

१ 'मेरी कहानी' (१९४१): पण्डित जवाहरलाल नेहरू; पृ० ९३६
२ उपर्युक्त, पृष्ठ ६६२

प० जवाहरलाल नेहरू ससार मे सच्ची और स्थायी शान्ति चाहते हे। उनकी यह ध्रुवधारणा है कि साम्राज्यवादी राष्ट्रो द्वारा शान्ति-व्यवस्था स्थापित नही की जा सकती। शान्ति-व्यवस्था के लिए सबसे पहले साम्राज्यवाद का अन्त कर देना जरूरी है। इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय सघटन के लिए प्रत्येक स्वाधीन राज्य को अपनी प्रभुता का कुछ अश छोडना पड़ेगा। जबतक ससार मे राष्ट्रीय राज्य कायम रहेगे तबतक कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय सघटन सफल नही हो सकता। नेहरूजी इसे भली भाँति अनुभव करते है।

भावी समाज की रूपरेखा खीचते हुए नेहरूजी लिखते है—

"हमारा अन्तिम ध्येय तो यह हो सकता है कि समान न्याय और समान सुविधापूर्ण एक वर्ग-रहित समाज हो, ऐसा समाज जिसका निर्माण मानव-समाज को भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और उसमें सहयोग, निःस्वार्थ सेवाभाव, सत्य-निष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणो की वृद्धि करने के सुनिश्चित आधार पर हुआ हो, और अन्त में एक ऐसी संसार-व्यापी व्यवस्था हो जाये।"[१]

यह है भारतीय राष्ट्रीयता का समुज्ज्वल स्वरूप और उसके उच्च मानवीय आदर्श जिनपर वास्तव मे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता की आधार-शिला रखी जा सकती है।

---

१ 'मेरी कहानी' : पं० जवाहरलाल नेहरू; पृ० ८७७

: ८ :

नागरिक-स्वाधीनता

ससार के सब विद्वानो का यह मत है कि नागरिक-जीवन का विकास और उत्कर्ष केवल स्वतन्त्र वातावरण मे ही हो सकता है । नागरिक-स्वाधीनता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। स्वाधीनता के बिना मानव न तो अपना आत्म-विकास कर सकता है, और न दूसरो की भलाई ही। राज्य सुसगठित नागरिको की एक सस्था ही है। उसका विकास नागरिको के हित ही के लिए है। नागरिको से रहित राज्य की कल्पना सभव नही। राज्य की उत्पत्ति इसी कारण हुई कि सब नागरिक निर्बाध रूप से स्वाधीनता का लाभ उठा सके, क्योकि अराजक दशा मे मनुष्य न्याय का आश्रय न लेकर शक्ति के बल पर शासन करने लगते है।

राज्य मानवो के हित के लिए है। अत राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति अथवा नागरिक की सुख-सुविधा के लिए समान रूप से सम्यक् व्यवस्था होनी चाहिए। नागरिक-स्वाधीनता के उपभोग के लिए राज्य ने नागरिकों को विशिष्ट और निर्धारित अधिकारो की व्यवस्था की है। प्रोफेसर हैराल्ड लास्की के अनुसार 'नागरिक-स्वाधीनता ऐसे अधिकार है जो सामाजिक जीवन की उन अवस्थाओ की रक्षा के लिए जरूरी है जिनके अभाव में सामान्यतया कोई भी मानव अपना आत्म-विकास नहीं कर सकता।' सुप्रसिद्ध समाज-विज्ञानवेत्ता श्री हॉब्हाउस के मतानुसार 'सच्चा अधिकार उसके अधिकारी के वास्तविक मंगल का एक तत्व है, स्थिति है जो सामजस्य के सिद्धान्त के आधार पर सार्वजनिक मगल का ही एक प्रमुख अंश है।'[1]

इटली के महापुरुष और वीर देशभक्त मेज़िनी नागरिक-स्वाधीनता को कर्त्तव्य-पालन के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते थे। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे लिखा है—

---

१ हॉब्हाउस एलीमैण्ट्स ऑब सोशल जस्टिस, पृ० ४१

"स्वाधीनता के बिना आप अपने किसी भी कर्त्तव्य को पूरा नहीं कर सकते। इसलिए आपको स्वाधीनता का अधिकार है और आपका यह कर्त्तव्य है कि जो कोई सत्ता स्वाधीनता का निषेध करती हो, उससे उसे किसी भी उपाय से प्राप्त कर लो।"

राज्य और विशेषत प्रजातन्त्र-राज्य का लक्ष्य है नागरिको के जीवन-विकास तथा उत्कर्ष के लिए सामान सुयोग एव सुविधाएँ प्रदान करना। राज्य नागरिको के प्रति इस महान् कर्त्तव्य का पालन उसी दशा मे कर सकता है जब कि उसे नागरिको की स्थिति, अभाव एवं आवश्यकताओ का पूर्ण और सच्चा ज्ञान हो। राज्य को नागरिक-जीवन की अवस्थाओं का पूर्ण और सच्चा ज्ञान तभी हो सकता है जब कि नागरिकों को अपनी आकाक्षाओ के अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतत्रता हो। जबतक सब नागरिको को किसी प्रकार के भेद-भाव के बिना अपने मनोभाव एव विचार व्यक्त करने का अधिकार नही होता, तबतक राज्य उनकी आकाक्षाओ का सच्चा ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। इस प्रकार सामाजिक जीवन में स्वाधीनता का मूल्य सुस्पष्ट है। उदाहरणार्थ, किसी राज्य मे किसानो को बडा कष्ट है, उनसे बेगार ली जाती है, जमीदार अधिक लगान वसूल करते है, चाहे जब मनमाने ढग से उन्हें जमीन से बेदखल कर दिया जाता है और उनकी मवेशी को चारा नही मिलता क्योकि चरागाहो पर भी जमीदार खेती कराते है। अब यदि राज्य-शासन की ओर से कृषि-सुधार के लिए कोई योजना या कानून बनाया जाये और उसके सम्बन्ध मे किसानो को अपने विचार प्रकट करने का अधिकार न दिया जाये, सिर्फ जमीदारो की सम्मति से ही योजना या कानून बना लिया जाये, तो इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे नियम या योजना से किसान-समाज का हित नहीं होगा। इसी प्रकार धारा-सभा मे यदि कोई महिलोपयोगी कानून बनने जा रहा है, और उसपर पहले से राष्ट्र की महिलाओ के लोकमत को जानने का प्रयत्न नही किया जाता, तो ऐसे कानून के बन जाने से महिलाओ का क्या हित-साधन होगा? सच तो यह है कि जिस व्यक्ति को कोई अभाव या आवश्यकता

है, वही भलीभाँति अपनी आवश्यकता प्रकट कर सकता है।

अधिकार और कर्त्तव्य

नागरिकता एक महत्वपूर्ण सामाजिक अधिकार है। वह किसी व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-समूह की वैयक्तिक सम्पत्ति नही है। नागरिक समाज का एक अग है और उसे जो नागरिक-अधिकार प्राप्त है, वे केवल इसलिए कि वह उनका प्रयोग इस ढग से करे कि जिससे अपना हित-साधन करते हुए वह समाज के अन्य सदस्यो को हानि न पहुँचा सके। यदि किसी मनुष्य के नागरिक अधिकारो के प्रयोग से दूसरे को हानि पहुँची तो उससे समाज का कल्याण नही हो सकता और जिस लोक-सग्रह की दृष्टि से राज्य ने नागरिक स्वाधीनता प्रदान की है, उसका अभिप्राय भी सिद्ध नही होता।

इससे यह सिद्ध होता है कि समाज मे अधिकारो के साथ-साथ कर्त्तव्यो का भी उतना ही मूल्य है। यदि किसी व्यक्ति को कोई अधिकार राज्य ने दिया है, तो दूसरे व्यक्तियो के लिए वही अधिकार कर्त्तव्य वन जाता है। उदाहरणार्थ, एक नागरिक अपने भाषण-स्वाधीनता के अधिकार का प्रयोग करता है, तो ऐसी दशा मे दूसरे नागरिको का यह कर्त्तव्य है कि वह उसकी इस स्वाधीनता मे वाधा न डाले जवतक कि उसका भाषण कानून-विरुद्ध अथवा मानहानिकर न हो।

वास्तव मे नागरिको की पारस्परिक सहयोग की भावना और कर्त्तव्य-परायणता ने ही नागरिक-अधिकारों को जन्म दिया है। यदि नागरिक सहयोगपूर्वक नागरिक-स्वाधीनता की रक्षा व उसका उपभोग न करे और उन अधिकारो द्वारा जो कर्त्तव्य निर्धारित हुए है, उनका तत्परता से पालन न करे, तो हम समाज मे अधिकारो की कल्पना नही कर सकते।

डॉ० वेनीप्रसाद का यह मत उचित है कि अगर उपयुक्त जीवन-निर्वाह की अवस्थाओ को सवके लिए सुरक्षित रखना है, तो प्रत्येक व्यक्ति को उनके उपयोग की आशा करनी चाहिए और साथ-ही-साथ हरएक

आदमी को इस प्रकार काम करना उचित है कि दूसरे लोगो के उपभोग मे किसी प्रकार की बाधा न पड़े। यही नही प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि ऐसी परिस्थितियों को सबके लिए सुलभ करने मे निश्चित रूप से प्रोत्साहन दे। एक व्यक्ति के सम्बन्ध मे जो अधिकार है, वह दूसरों के लिए कर्त्तव्य है। इस प्रकार अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के आश्रित है। वे एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। अगर कोई उनको अपने दृष्टिकोण से देखता है तो वे अधिकार हैं और अगर दूसरों के दृष्टिकोण से देखता है तो वे कर्त्तव्य हैं। दोनो सामाजिक है और दोनो असल मे उपर्युक्त प्रकार के जीवन की अवस्थाएँ हैं, जिन्हे समाज के सभी व्यक्तियो के लिए सुलभ बनाना चाहिए।[1]

नागरिक समानता

इंगलैण्ड के सुविख्यात राजनीतिशास्त्री श्री हेरल्ड लास्की ने लिखा है —

"जिस राज्य में नागरिक स्वाधीनता को अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है वहाँ समानता होना भी जरूरी है।...राज्य में नागरिकों में जितनी अधिक समानता होगी सामान्यतया उतना ही अधिक वे अपनी स्वाधीनता का उपभोग कर सकेंगे।"[2]

नागरिक-स्वाधीनता और समानता एक ही वस्तु नही है। दोनो मे अन्तर है। यदि राज्य मे कुछ निश्चित समानताएँ प्राप्त न हो तो यह संभव नही कि हम नागरिक-स्वाधीनता का उपभोग कर सके।

समानता और असमानता के संबध मे यह स्पष्ट रूप से जान लेना आवश्यक है कि विश्व मे प्राकृतिक समानता का कही भी अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक वस्तु मे रचना, आकृति और रंग-रूप के कारण भिन्नता होना स्वाभाविक है। एक पिता की दो सन्तानो में भी आकृति, रूप-रंग,

---

१. डॉ० बेनीप्रसाद. 'नागरिक-शास्त्र'; पृ० ४१

२. लास्की 'लिबर्टी इन द मॉडर्न स्टेट' (१९३०); पृ० १६-१७

आचार-विचार और स्वभाव की समानताएँ नही होती। अत' जब समाज या राज्य समानता की आवश्यकता पर जोर देता है तब उसका तात्पर्य इस प्राकृतिक समानता से नही होता।

ससार मे दो प्रकार की असमानताएँ दिखायी देती है। एक प्रकार की असमानताएँ वे है जो प्राकृतिक योग्यता की विभिन्नताओं से उत्पन्न होती है और दूसरे प्रकार की वे है जो समाज या राज्य द्वारा प्रदत्त सुविधाओ की असमानताओ द्वारा पैदा हुई है।

अत नागरिक-समानता का यह अभिप्राय नही कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक रूप से समान बना दिया जाये या शिक्षा की दृष्टि से सब नागरिको को समान बना दिया जाये। प्रत्युत नागरिक-समानता का अर्थ तो यह है कि आत्म-विकास के लिए समाज या राज्य द्वारा जो सुयोग एव सुविधाएँ प्राप्त है, उनके उपभोग का प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार होना चाहिए। स्पष्ट शब्दो मे इसका मतलब यह है कि समाज या राज्य की ओर से ऐसी विभिन्नताओं एव भेदभाव की व्यवस्था नही होनी चाहिए कि जिसके कारण व्यक्ति आत्म-शक्तियो का सम्यक् विकास न कर सके। इसका फलितार्थ यह है कि राज्य मे किसी वर्ग-विशेप के लिए 'विशेषाधिकार' या 'विशेप रियायते' नही होनी चाहिएँ। विशेपाधिकार तो समाज मे विपमता को जन्म देते है।

यदि राज्य की ओर से ऐसा कानून हो कि उत्तरदायित्वपूर्ण उच्च सरकारी पदो पर केवल जमींदार या पूँजीपति वर्ग के उम्मीदवारो को ही नियुक्त किया जायेगा, वैश्यो, ब्राह्मणो अथवा दलित-वर्ग के व्यक्तियो को सेना मे भरती नही किया जायेगा, या ब्राह्मणो तथा कायस्थ जातियो के व्यक्तियों को उच्च शिक्षा की अधिक सुविधाएँ दी जायेगी तो, ऐसी व्यवस्था का दुष्परिणाम यह होगा कि शासन-सचालन के कार्य से जनता का एक बहुत बडा भाग वचित रह जातेगा। ब्राह्मण, वैश्य तथा दलित-वर्ग के सेनाओ में भरती न होने से उनमे वे गुण पैदा न हो सकेगे जो सैनिक-जाति मे होते है। फलत एक विशेप सैनिक जाति बन जायगी और धीरे-धीरे देश की अन्य जातियाँ उसके अयोग्य हो जायेगी। यदि केवल ब्राह्मणो या

कायस्थो के लिए ही शिक्षा की अधिक सुविधा रही, तो समाज के दूसरे वर्ग शिक्षा मे पिछडे रह जायेगे। इसी प्रकार किसी वर्ग-विशेष को शासनाधिकार अथवा शिक्षा की सुविधाओ से जातपाँत, धर्म या रँग आदि के कारण वचित रखना भी उसके साथ घोर सामाजिक अन्याय होगा।

अत समाज में कुछ वर्गो के लिए 'विशेषाधिकार' और कुछ वर्गो के लिए 'प्रतिवन्ध' दोनों ही विषमता को जन्म देनेवाले हैं। इनसे नागरिक जीवन में सामजस्य, सहयोग और शान्ति की जगह सघर्ष, स्पर्द्धा और अशान्ति के भाव पैदा होंगे। प्रोफेसर हैराल्ड लास्की का यह कथन सत्य ही है कि "प्रत्येक व्यक्ति को यथासम्भव समान सुयोग देना चाहिए जिससे वह उन शक्तियों का उपयोग कर सके जिन्हे उसने प्राप्त किया है।"

भारत का शासन-विधान और मौलिक अधिकार

भारत के शासन-विधान मे नागरिकता के मौलिक अधिकारो का कही उल्लेख नहीं है। आज के युग मे प्रत्येक प्रजातन्त्र-राज्य के विधान में नागरिकता के मौलिक अधिकारो की घोषणा को सबसे पहले महत्त्व का स्थान प्राप्त है। ऐसी दशा मे भारत के शासन-विधान मे यह अभाव, वास्तव मे, नागरिक-स्वाधीनता के लिए एक खतरा है। यद्यपि नागरिको के मौलिक अधिकार प्रत्येक राज्य के स्वरूप पर निर्भर है, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक राज्य मे नागरिको को अधिकार होने चाहिएँ। जो राष्ट्र प्रजातन्त्रवादी है, उनमे उन राष्ट्रो की अपेक्षा अधिक नागरिक अधिकार होते है जो फासिस्ट है। समाजवादी राज्यो मे व्यक्तियो को और भी अधिक अधिकार होते है।

प० जवाहरलाल नेहरू का मत है कि

"भविष्य में भारत का सामाजिक संगठन चाहे जैसा हो, व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा के लिए कुछ ऐसे मौलिक अधिकार है, जिन्हें हम विधान में स्थान देना चाहते है। ये अधिकार इस प्रकार के है—धार्मिक स्वाधीनता, मत-प्रकाशन की स्वाधीनता, सभा-संगठन की

स्वाधीनता, सस्कृति और भाषा की रक्षा, क़ानून की दृष्टि में सभी नागरिको की समानता और इसी प्रकार शासनाधिकार में, व्यवसाय-व्यापार में धर्म, जाति या 'सेक्स' के भेदभाव के बिना समानता और इसी प्रकार के अधिकार।"

"हमारी यह धारणा है कि देश में समस्त अल्प-संख्यक जातियों के आश्वासन के लिए भारतीय शासन-विधान में इन मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में एक गारंटी होनी चाहिए।

"इसके लिए कांग्रेस का कराची-प्रस्ताव और पाश्चात्य शासन-विधानो की नागरिक-स्वाधीनता-सम्बन्धी धाराएँ नमूने के तौर पर ली जा सकती है।"[1]

वर्तमान शासन-विधान की धारा २९८ मे नागरिकों का यह अधिकार तो स्वीकार किया गया है कि सरकारी पदो पर नियुक्ति के सम्बन्ध मे या किसी सम्पत्ति के प्राप्त करने या बेचने अथवा व्यवसाय-व्यापार करने मे केवल धर्म, जाति, जन्म-स्थान, रग या इनमे से किसी के कारण कोई भी नागरिक अयोग्य न माना जायेगा।

विधान की धारा २७५ मे यह उल्लेख किया गया है कि कोई भी व्यक्ति लिंग-भेद के कारण ब्रिटिश भारत मे किसी 'सिविल सर्विस' या 'सिविल पोस्ट' पर नियुक्त होने के अधिकार से वचित न किया जायेगा। परन्तु गवर्नर जनरल, गवर्नर और भारत-मन्त्री अपने विशेष आर्डर द्वारा स्त्रियो को सरकारी पदो पर नियुक्त होने के अधिकार से वचित कर सकेगे।

शासन-विधान की २९८ वी धारा के होते हुए भी भारत मे ऐसे अनेक वर्ग है, जिन्हे जातिभेद के कारण, शासनाधिकार मे व्यावहारिक समानता प्राप्त नही है। 'दलितवर्ग' जो हिन्दू-समाज का ही अग है, आज भी उच्च सरकारी पदो पर नियुक्त नही किया जाता। यही नही इस वर्ग के सदस्यो को व्यापार-व्यवसाय मे भी समानता प्राप्त नही

---

१ प्रो० के० टी० शाह : 'फेडरल स्ट्रक्चर' (१९३७), पृ० ५१६

है। इस वर्ग के लोग बाजारो मे कोई ऐसी दूकान नही खोल सकते जिसमे खाने-पीने की चीजें बिकती हो।

भारत में पदाधिकार के सम्बन्ध मे लिंग-भेद की व्यवस्था शुरू से कायम है। आज भी विधान की २७५ वीं धारा के होते हुए महिलाओ को इडियन सिविल सर्विस, प्रान्तीय सिविल सर्विस आदि की प्रतियोगिताओ मे बैठने की आज्ञा नही है। सेना में तो उनके लिए कानूनी प्रतिबन्ध है। यह वास्तव में विधान का एक बड़ा दोष है।

आर्थिक समानता

यदि राज्य मे नागरिको को आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त है और आर्थिक समानता नही है, तो इसका परिणाम यह होगा कि समाज मे आर्थिक विषमता पैदा हो जायेगी और ऐसे वातावरण मे सच्ची आर्थिक स्वाधीनता का उपभोग भी नही किया जा सकेगा।

जबतक आर्थिक समता की स्थापना नही हो जाती, तबतक राजनीतिक समता—नागरिको का समान मताधिकार—व्यर्थ है। उससे वे आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त नही कर सकते। आधुनिक राज्य का केवल इतना यही कार्य नहीं है कि वह चोर और डाकुओ से नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति की और इस प्रकार नागरिक-स्वाधीनता की रक्षा करे, उनके लिए प्रजातन्त्र-शासन-पद्धति तथा अन्य नाना प्रकार के नागरिक सुखो के लिए सुविधाएँ प्रदान करे। आज के युग मे इन सबसे नागरिक-जीवन का उत्कर्ष सम्भव नही। यह आर्थिक युग है। इसलिए राज्य को ऐसी आर्थिक व्यवस्था भी स्थापित करनी चाहिए जिसमे सभी नागरिक पूरी तरह सुखी रह सकें और अपने जीवन को ऊँचा बना सकें। यदि राज्य में भयकर बेकारी होगी, बेहद गरीबी होगी, कुछ मुट्ठी भर लोग लखपति और करोडपति, मिलो और कम्पनियो के मालिक तथा भूमि के स्वामी होगे और शेष विशाल जन-समुदाय को नागरिक जीवन की समस्त सुविधाएँ तो दूर भरपेट अन्न भी दोनों वक्त न मिलेगा, तो क्या यह आशा की जा सकती

है कि अधभूखे और अर्द्धनग्न जन आर्थिक स्वाधीनता भोग सकेगे ?

आज ससार के सभी प्रजातन्त्रो मे अधिकाश नागरिक आर्थिक दृष्टि से दुखी है। वहाँ भयकर बेकारी गरीबी बढती जा रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन पाश्चात्य प्रजातत्रो ने आज तक आर्थिक न्याय या आर्थिक समता की स्थापना के लिए ईमानदारी से कोई प्रयत्न नही किया। ससार मे सोवियट रूस ही एक ऐसा राष्ट्र है जिसने अपने शासन-विधान के मौलिक अधिकारो की घोषणा मे यह स्वीकार किया है कि **"सोवियट रूस के नागरिको को परिश्रम करने का अधिकार है अर्थात् उन्हे काम के परिमाण तथा उसकी किस्म के अनुसार अपने परिश्रम के लिए नियत वेतन पर पारिश्रमिक का अधिकार है।"**

सोवियट रूस मे राज्य की ओर से प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यतानुसार काम माँगने का अधिकार है और उसके लिए नियत वेतन भी।

आर्थिक समता की स्थापना के लिए समाज को आर्थिक ढाँचा नये ढग से खडा करना होगा। इसमे मौलिक परिवर्तन की जरूरत है। समस्त व्यवसायो, कम्पनियो, कारखानो, रेलो, बैंको आदि पर राज्य का नियत्रण या अधिकार होना चाहिए। श्री श्रीनिवास अयगार ने लिखा है —

"संसार की आर्थिक व्यवस्था में सबसे अधिक संकट ज्वाइंट स्टाक कम्पनियो ने पैदा किया है, इसलिए इनका पूर्णत परित्याग किया जाये, साझेदारी भी मर्यादित कर दी जाये, उसके साझेदारो की संख्या कम कर दी जाये तथा उसका क्षेत्र भी सीमित कर दिया जाये। बैंक, बीमा, जहाज तथा यातायात आदि राज्य के अधिकार मे हो। नहर आदि का निर्माण बडे पैमाने पर राज्य की ओर से किया जाये। शस्त्रादि बनानेवाली कम्पनियो का नियंत्रण भी राज्य के अधिकार में हो। इस प्रकार राज्य की ओर से राष्ट्रीय व्यवसाय-धन्धो को इतना प्रोत्साहन दिया जाये कि जिससे बेकारी व गरीबी दूर हो जाये और वेतन तथा पारिश्रमिक का मान-दण्ड बढ़ जाये। सक्षेप में, एक नियोजित

आर्थिक योजना, जो जनता की समस्त श्रेणियों की मौलिक मानवीय आवश्यकताओ को पूरा कर सके, आज भारत में प्रजातंत्र की सफलता के लिए सबसे पहली शर्त है; क्योकि वह (प्रजातन्त्र) उसी सीमा तक स्थायी होगा जिस सीमा तक वह जनता को यह गारण्टी दे सके कि जनता की आर्थिक उन्नति उसका प्रमुख लक्ष्य है।''[१]

वैयक्तिक स्वाधीनता

वैयक्तिक स्वाधीनता का अर्थ है व्यक्ति की स्वाधीनता। प्रत्येक व्यक्ति स्वतत्र है इसलिए उसका कर्त्तव्य है कि वह दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता की भी रक्षा करे। आत्म-रक्षा का नियम भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ही एक फलितार्थ है। समाज या राज्य के निर्माण मे नागरिकों का योगदान होना है, इसलिए नागरिको की वैयक्तिक स्वाधीनता सामाजिक जीवन के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति को यह विश्वास न हो सके कि वह राज्य में वैयक्तिक स्वाधीनता का उपभोग कर सकता है, तो वास्तव में उसका जीवन दूभर हो जायगा।

मनुष्य का जीवन वैयक्तिक दृष्टि से ही मूल्यवान् नही है, बल्कि समाज और राज्य के दृष्टिकोण से भी वह बहुमूल्य है। यही कारण है कि राज्य मानव-जीवन की रक्षा को अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता है। मानव-जीवन की रक्षा के लिए सेना और पुलिस का राज्य की ओर से प्रबन्ध जरूर होता है। परन्तु पुलिस के लिए हर समय और हर स्थान मे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की रक्षा करना सम्भव नही है। इसलिए राज्य ने प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-रक्षा का अधिकार दे रखा है। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की हत्या करने के प्रयोजन से उसपर साघातिक आक्रमण करे, तो वह अपनी रक्षा के लिए प्रत्येक सम्भाव्य साधन को काम मे ला सकता है। यहाँ तक कि यदि वह आक्रमणकारी के

---

१ श्री श्रीनिवास अयंगार : 'प्रॉब्लैम्स ऑफ डेमोक्रेसी इन इण्डिया' (१९३९); पृ० ६९

जीवन का अन्त भी कर दे तो राज्य उसे इसके लिए दण्ड नही देगा। प्रत्येक देश मे आत्म-रक्षा के लिए नागरिको को अस्त्र-शस्त्र धारण करने का भी अधिकार है।

साथ ही चूंकि राज्य का यह परम कर्त्तव्य है कि वह समस्त नागरिको और व्यक्तियों के जीवन की रक्षा करे, इसलिए यदि कोई व्यक्ति आत्मघात द्वारा अपने जीवन का अन्त करने का प्रयत्न करे, तो राज्य उसे इसके लिए दण्ड देगा।

शरीर-स्वाधीनता

शरीर-स्वाधीनता का अभिप्राय यह है कि वह राज्य मे अपने गृह मे स्वतन्त्रता से रह सके। उसकी स्वीकृति, इच्छा या आज्ञा के बिना कोई व्यक्ति उसके गृह मे प्रवेश न कर सके और जबतक कि राज्य के कानून के अनुसार मजिस्ट्रेट ने उसकी गिरफ्तारी के लिए वारण्ट न जारी किया हो अथवा पुलिस को यह सन्देह न हो कि उसने राज्य के कानून के विरुद्ध ऐसा अपराध किया है जिससे वह बिना वारण्ट के भी गिरफ्तार किया जा सके तबतक राज्य भी उसे गिरफ्तार न कर सके। जबतक कोई भी नागरिक कानून के अनुसार न्यायालय मे दोषी प्रमाणित न हो जाये और यह निस्सन्देह सिद्ध न हो जाये कि उसने वह अपराध ऐसे समय किया था जबकि वह कानूनन अपराध था, तबतक केवल सन्देह के आधार पर कोई भी व्यक्ति अनिश्चित काल के लिए नजरबन्द नही किया जा सकता और न हवालात मे २४ घटे से ज्यादा रखा जा सकता है। जबतक वह दोषी प्रमाणित न हो जाये, तबतक उसे कोई शारीरिक दण्ड नही दिया जा सकता।

भारतवर्ष मे नागरिको को शरीर-स्वाधीनता पूर्ण रूप से प्राप्त नही है। यहाँ आज भी ऐसे दमनकारी कानून मौजूद है जिनके अस्तित्व में उन्हे शरीर-स्वाधीनता नही है। मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता मे आज से एक शताब्दी से भी अधिक पुराने 'रेग्यूलेशन' (१८१८) आज भी प्रचलित है, जिनके अनुसार किसी भी व्यक्ति को बिना किसी न्यायालय

मे दोषी प्रमाणित किये वर्षो तक राजवन्दी बनाकर रखा जा सकता है। सन् १९३१ के सत्याग्रह-आन्दोलन में महात्मा गाधी को बम्बई रेग्यूलेशन (१८१८) के अनुसार राजवन्दी बनाकर पूना-जेल मे रखा गया। जनवरी सन् १९३२ मे श्री सुभाषचन्द्र वसु को इसी रेग्यूलेशन के अनुसार राजवन्दी बनाकर रखा गया था।

भारत के हर एक प्रान्त में क्रिमिनल लॉ एमेण्डमेट एक्ट जारी है। इसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को सदेह मे गिरफ्तार करके राजबदी बनाया जा सकता है। पजाब और बगाल प्रान्त मे राष्ट्रीय जागरण को दवाने के लिए घोर-से-घोर दमनकारी कानून आज भी प्रचलित है। वर्तमान् युद्ध के कारण तो यह दमन अपनी चरम-सीमा को पार कर चुका है। सन् १९३७ मे बगाल के आतककारी-दमन-कानून के अनुसार वहाँ १६ हज़ार व्यक्ति नजरवन्द थे। वाद मे महात्मा गाधी के प्रयत्न से कुछ नज़रवद रिहा कर दिये गये।

नागरिकता का मौलिक सिद्धान्त यह है कि जबतक कोई व्यक्ति दोषी सिद्ध न हो जाये तबतक उसे दण्ड नही दिया जा सकता। केवल सन्देह मे किसी को वन्दी बनाकर रखना तो कानून की दृष्टि मे भी अन्याय है। ऐसा करने का अर्थ तो यह हुआ कि जिन लोगो के हाथ में कार्यकारिणी सत्ता है, वे ही न्यायाधीश बन गये।

विचार-स्वाधीनता

विचार-स्वाधीनता नागरिक-जीवन के विकास और उत्कर्ष के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है। जिस राज्य के नागरिक विचार-स्वाधीनता (अर्थात् मत-प्रकाशन की स्वाधीनता) का बेरोक-टोक उपभोग करते है, उसमे साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान की आश्चर्यजनक प्रगति और प्रसार होता है। विचार किया जाये तो वास्तव मे विचार ही मनोभाव प्रकट करने का अमोघ साधन है। जिन देशो मे विचार-स्वाधीनता नही उन देशो में न विचार-मौलिकता को प्रोत्साहन मिलता है और न विचार-क्रान्ति के लिए उपयुक्त क्षेत्र ही मिलता है। जिस प्रकार तालाव का रुका हुआ जल सड

जाता है, उसमें रोग के जीवाणु पैदा हो जाते है और जल की स्वास्थ्यप्रद शक्तियाँ नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस राज्य मे विचार तथा उसके प्रकाशन की स्वाधीनता नही है, उसके नागरिको का मानसिक विकास भी पूर्ण रूप से नहीं हो सकता। विचार-स्वाधीनता का उपभोग करनेवाले नागरिको का विचार-प्रवाह उसी प्रकार विमल और पवित्र होता है जिस प्रकार नदी का जल।

कुछ लोगो का विचार यह है कि विचार स्वाधीनता पर इसलिए प्रतिबन्ध लगाना जरूरी है कि ग़लत और भ्रान्तिपूर्ण विचार जनता में न फैलने पावें। परन्तु विचारों में तो भिन्नता उसी समय पैदा होती है जब किसी प्रश्न पर सन्देह हो। ऐसी दशा मे यह आवश्यक है कि प्रश्न के दोनों पहलुओं पर विचार कर लिया जाये।

ब्रिटेन के प्रसिद्ध शिक्षा-विज्ञ श्री डबल्यू. बी. करी का मत है कि "मत-संघर्ष मे ही ज्ञान और विद्वत्ता का जन्म होता है और मनुष्य अपने विचारों को भी उस समय तक भलीभाँति कभी नही समझ सकता जबतक कि उसने अपने विरोधी के विचारों को भली भाँति न समझ लिया हो। यह कहा जा सकता है कि विचार तो स्वतंत्र ही होता है, केवल भाषण पर ही प्रतिबंध लगाया जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप से नजरबन्दी की दशा में एक व्यक्ति चाहे जैसा विचार कर सकता है, परन्तु उसका विचार उसी समय फलप्रद हो सकता है, उसी समय वह अधिक विचार कर सकता है, जब उसे अपनें विचारों पर बहस करने और उन्हें प्रकाशित करनें का अधिकार हो और उसके विचारो में इतनी शक्ति हो कि वे कार्य्यान्वित भी हो सकें।"[१]

विचारों की प्रगति और उसके साथ अन्य सभी प्रकार की उन्नति नये-नये विचारो के ही आधार पर निर्भर है। विचारों के विकास के लिए उनपर बहस और आलोचना के लिए पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।

प्रोफेसर लास्की का यह कथन वास्तव मे सच ही है कि—

---

१. डबल्यू बी. करी · 'द केस फॉर फेडरल यूनियन' (१९४०); पृ. ९२

"अधिकांश व्यक्ति जिन्हे निजी अनुभव के आधार पर विचार-मंथन करने की सुविधा नहीं मिलती, विचार करना ही बंद कर देते है। जो व्यक्ति विचार करना बन्द कर देते है, वे सच्चे अर्थ मे नागरिक नहीं रहते।"[2]

अत यह निर्विवाद है कि व्यक्तित्व के विकास, समाज के उत्कर्ष और राज्य की समृद्धि के लिए विचार और मत-प्रकाशन की स्वाधीनता अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्य अपने विचार मुख्यत दो रूपो मे प्रकट करता है—भाषण और लेखन। भाषण-स्वाधीनता का सभा-सगठन की स्वाधीनता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त मनुष्य अपने विचार समाचार-पत्र, पुस्तक, चित्र, सगीत, सकेत, कार्टून (व्यग्यचित्र), रेडियो, चित्रपट आदि द्वारा व्यक्त करता है।

राज्य मे प्रत्येक नागरिक को भाषण और लेखन की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिए। प्रत्येक नागरिक को सार्वजनिक प्रश्नो पर अपने विचार प्रकट करने एवं आलोचना करने का अधिकार होना चाहिए। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में भी उसे अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार है। परन्तु इस सम्बन्ध मे इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उसके सम्बन्ध मे केवल ऐसे विचार ही व्यक्त किये जाये जो सार्वजनिक महत्त्व के हो। किसी नागरिक या व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन को सर्व-साधारण के सामने केवल सामाजिक हित की दृष्टि से ही प्रकट करना उचित है। यदि उससे समाज का हित नही होता तो ऐसा मत-प्रकाशन व्यर्थ है।

नागरिक के मत-प्रकाशन के अधिकार पर राज्य की ओर से कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये जाते है। उन्हे ऐसे विचार प्रकट करने का अधिकार नही है, जो ईश्वर या किसी धर्म के अनुयायियो की धर्म-भावना पर आघात करे, अश्लील हो, अपमान-जनक हो, राजद्रोहात्मक हो अथवा हिंसा, अशान्ति या उपद्रव को उत्तेजन दे।

नागरिको को धर्म के सम्बन्ध मे स्वाधीनता है। वे दूसरे धर्म के

---

२ हे. जे. लास्की : 'लिबर्टी इन द मॉडर्न स्टेट' (१९३०); पृ. ९९

सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट कर सकते हैं; परन्तु उन्हे किसी के धर्म को चोट पहुँचाने का अधिकार नही है। इसका तात्पर्य्य यह नही है कि कोई धर्म-सुधारक धर्म के नाम पर प्रचलित अध-परम्परा एव अधविश्वासो को दूर करने का प्रयत्न न करे। यदि स्वतन्त्र रीति से धर्म पर विचार-विनिमय न किया जाये या प्रचलित अध-विश्वासो को मिटाने का उपाय न किया जाये, तो इसका भी परिणाम अत्यन्त भयकर होगा। जनता मे धर्म के नाम पर अनाचार, अन्याय और भ्रष्टाचार होने लगेगा।

अश्लील भाषण या लेख भी समाज के लिए हानिप्रद है। इनसे जनता का नैतिक पतन ही नही होता, बल्कि स्वास्थ्य पर भी घातक प्रभाव पडता है। अश्लील से तात्पर्य यह है कि कोई विचार या भाव अथवा लेख ऐसा हो जिससे श्रोता या पाठक के मन पर बुरा असर पडे—विकार उत्पन्न हो जाये। यदि विचार मानव के मन मे विमल और विशुद्ध भावो को जाग्रत नही कर सकते, तो उनसे समाज के उत्कर्ष मे क्या सहायता मिल सकती है? हाँ, प्रत्येक देश और समाज का नीति-शास्त्र भिन्न होता है—जो काम किसी देश मे अश्लीलता की कोटि मे माना जाता है, वही कार्य दूसरे देश मे श्लीलता मे गिना जाता है उदाहरणार्थ, भारत मे काम-विज्ञान जनता मे अश्लील माना जाता है, इस विषय की सार्वजनिक चर्चा असभ्यता या अशिष्टता मानी जाती है पर भारत मे अब एक ऐसा वर्ग पैदा होता जा रहा है जो काम-विज्ञान की शिक्षा को आवश्यक समझता है। तो भी यह वर्ग अत्यन्त अल्पमत मे है और नवीन संस्कृति के उपासक जनो तक ही सीमित है। यूरोप और अमरीका के देशो मे तो काम-विज्ञान एक लोकप्रिय विषय है। वस्तुत दाम्पत्य-विज्ञान मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए परम आवश्यक है। इसके वैज्ञानिक विवेचन मे विवाह, काम, प्रेम, सुहागरात, सन्तति-निरोध, तलाक आदि की समस्याएँ आ जाती है। परन्तु इनका विवेचन ऐसे ढंग से होना चाहिए कि उससे सुरुचिप्रिय व्यक्ति के हृदय मे ग्लानि का भाव पैदा न हो।

विचार-स्वाधीनता या मत-प्रकाशन की स्वाधीनता पर एक प्रतिबन्ध और भी है—किसी व्यक्ति के लिए कोई अपमानजनक वचन न कहा जाये और न लिखा जाये। जबतक अपमानजनक भाषण या लेख सत्य न हो और उसकी कोई सार्वजनिक उपयोगिता न हो, तबतक उसका प्रकाशन अनुचित है। यदि कोई व्यक्ति दुराचारी, भ्रष्टाचारी और पतित है और उसका सार्वजनिक जीवन मे प्रमुख स्थान है, तो उसके भ्रष्टाचार को, यदि वह सत्य है तो, जनता के सामने प्रकट करना सार्वजनिक हित मे होगा। इसलिए ऐसा मत-प्रकाशन अपमानजनक नही कहा जा सकता।

विचार-स्वाधीनता और मत-प्रकाशन पर एक बडा प्रतिबंध यह है कि भाषण या लेख राजद्रोहात्मक न हो। सामाजिक संगठन अथवा शासन-पद्धति के सम्बंध मे प्रत्येक नागरिक को अपना मत प्रकट करने का अधिकार है। भारत में सरकार के किसी कार्य की आलोचना तथा नीति की निंदा भी राजद्रोह माना जाता है। यहाँ राजद्रोह सबसे बड़ा राजनीतिक अपराध है। भारतीय-दण्ड-विधान की धारा १२४ अ का प्रयोग सदैव भारतीय राष्ट्रीय जागरण का दमन करने के लिए किया जाता रहा है। जुलाई सन् १९३७ मे जब भारत के सात प्रान्तों—मद्रास, बम्बई, संयुक्तप्रान्त बिहार, उडीसा, मध्यप्रान्त, सीमा प्रान्त और आसाम मे कांग्रेस-दल के मन्त्रि-मण्डलों की स्थापना हुई, तो जनता ने सबसे पहले अंग्रेजी राज्य मे नागरिक-स्वाधीनता का अनुभव किया। किसी भी व्यक्ति पर राजद्रोह का अपराध लगाना बन्द कर दिया गया। बम्बई-सरकार के तत्कालीन गृह-मंत्री श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने बम्बई-असेम्बली मे अपने (१५ सितम्बर १९३७ के) एक भाषण में कहा था—

"कांग्रेस व्यक्ति की स्वाधीनता का समर्थन करती है, क्योंकि उसका अहिंसा और प्रजातंत्र में अटल विश्वास है। हमारे लिए स्वाधीनता केवल भौतिक लाभ की चीज नहीं है। इसे हम इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की तुला में नहीं तोल सकते। स्वाधीनता हमारे लिए एक अपने ढंग का चमत्कार है। ईश्वर और कानून के राज्य में बोलना, काम

करना और साँस लेना एक पवित्र विशेषाधिकार है। उसके लाभो का विचार किये बिना ही उसमे हमारा विश्वास है। अन्तिम समय तक प्रत्येक कांग्रेसवादी जिसकी प्रजातंत्र में श्रद्धा है, स्वाधीनता का समर्थन करेगा।

"नागरिक-स्वाधीनता प्रजातंत्र की वास्तविक आधार-शिला है। प्रजातंत्र का मतलब है एक ऐसा धर्म जिसका समाज शनैः-शनैः विचार-विनिमय और आग्रह द्वारा विकास कर सकता है—एक दूसरे का सिर तोड़कर नहीं। किन्तु नागरिक-स्वाधीनता के लिए अहिंसक वातावरण आवश्यक है जिसमें नागरिक वैयक्तिक हिंसा, दबाव या सामूहिक हिंसा या दबाव से निर्भय रहते हुए परस्पर विचार-विनिमय कर सके। नागरिक-स्वाधीनता की यह एक मौलिक मर्यादा है। हिंसापूर्ण और उत्तेजित वातावरण में आप नागरिक-स्वाधीनता का उपभोग नही कर सकते।"

हम इसका उल्लेख कर चुके है कि प्रजातत्र मे प्रत्येक नागरिक को शासनाधिकार प्राप्त होता है। प्रजातत्र का अर्थ ही है जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की सरकार। ऐसी दशा मे यह स्वाभाविक है कि जनता को शासन पर अपना प्रभाव डालने का अधिकार हो। शासन की नीति एव कार्यो की स्वतंत्र रूप से आलोचना करना जनता का और एक मूल्यवान् अधिकार है। इससे एक बडा लाभ यह है कि शासन को जनता के मनोभाव व विचार विदित होते रहते है और उसे अपनी नीति और कार्यो मे उचित सशोधन या परिवर्तन करने मे सुगमता होती रहती है।

गृह-विद्रोह या युद्ध-काल में नागरिक-स्वाधीनता

यदि राज्य मे विद्रोह पैदा हो जाये अथवा राज्य किसी दूसरे राज्य के विरुद्ध युद्ध मे शामिल हो, तो ऐसे असाधारण अवसरों पर भी नागरिक-स्वाधीनता की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। जो व्यक्ति राज्य-विद्रोह मे भाग ले, उन्हे देश के सामान्य कानून के अनुसार दण्ड देना चाहिए। यह आवश्यक नही है कि किसी भाग मे विद्रोह या

आतंकवाद शुरू होजाने पर समूचे प्रान्त को नज़रबन्द-शिविर बना किया जाय या फौजी कानून (मार्शल लॉ) जारी कर दिया जाये। भारत मे सन् १९१९ में अमृतसर, लाहौर, कसूर, गुजरावाला, और शेखूपुरा मे फौजी कानून जारी किया गया। इस प्रकार नागरिक-स्वाधीनता का बुरी तरह दमन किया गया। सन् १९३० मे शोलापुर और पेशावर मे फौजी कानून का शासन रहा।

वर्तमान् युद्ध के प्रारम्भ होने के बाद तुरन्त ही भारत के गवर्नर-जनरल ने भारत-रक्षा-कानून जारी कर दिया। इस कानून का क्षेत्र इतना व्यापक है कि आज सारे देश की स्वाधीनता का दमन इसीके द्वारा हो रहा है जबकि भारत-रक्षा-कानून का लक्ष्य है ब्रिटिश भारत की रक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था की रक्षा, कुशलतापूर्वक युद्ध-संचालन, अथवा समाज के जीवन के लिए आवश्यक चीज़ो और सेवाओ की व्यवस्था।

सरकारे ऐसा क्यो किया करती है? इसका उत्तर देते हुए प्रोफेसर लास्की ने लिखा है—

"....जब न्याय-व्यवस्था का कार्य सामान्य न्यायालयो से लेकर शासन के किसी दूसरे अंग को सौंप दिया जाता है, तो उसका सदैव दुरुपयोग होता है। व्यक्ति की समुचित रक्षा के प्रश्न को इस विश्वास पर विस्मृत कर दिया जाता है कि आतंक के शासन से जनता की अश्रद्धा (Disaffection) कम हो जायेगी। इसका कोई प्रमाण नहीं कि ऐसा हो जाता है। यदि ऐसा हो सकता, तो रूसी क्रान्ति हो न होती और आज भारतीय स्वायत्त-शासन के लिए कोई आन्दोलन न हुआ होता।"[1]

भारत मे समाचार-पत्रो की स्वाधीनता पर भी कुठाराघात हो रहा है। नये-नये आर्डर जारी किये जा रहे है। इन सबके ऊपर सेंसर का एकछत्र राज्य है। सभाओ और सम्मेलनो पर प्रतिबंध लगा दिये गये है। पुलिस के अधिकारियो से पूर्व आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई सभा नही की जा सकती, चाहे उस सभा का युद्ध से कोई सम्बन्ध ही न हो।

---

१ हेरल्ड लास्की 'लिबर्टी इन द मॉडर्न स्टेट'

जुलूसो पर भी इसी प्रकार के प्रतिबध है। भारत-रक्षा-कानून के अन्तर्गत नियम ५८ के अनुसार स्वय-सेवकों, सेवा-दलो तथा वालटियर-दलों को प्रदर्शन करने तथा परेड करने से रोक दिया गया है। प्रेस तथा समाचार-पत्र जब्त किये जा रहे है। समस्त भारत मे हजारो पुस्तको और समाचार-पत्रो की जब्ती हो चुकी है। राष्ट्रीय एव समाजवादी साहित्य जिसका वर्त्तमान युद्ध के सचालन से तनिक भी सम्बन्ध नही, जब्त किया जा रहा है। इस प्रकार भारत की नागरिक-स्वाधीनता इस समय अत्यन्त सकट मे है।

युद्ध-काल मे नागरिक-स्वाधीनता पर सिर्फ इतना प्रतिबध होना चाहिए कि जिससे नागरिक-शत्रु को कोई सहायता न दे सके या कोई ऐसा कार्य न करे जिससे युद्ध-सचालन मे बाधा पडे। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि नागरिकों को मत-प्रकाशन की भी स्वाधीनता न दी जाये। युद्ध-काल मे शान्ति-काल की अपेक्षा नागरिको को मत-प्रकाशन की अधिक स्वाधीनता मिलनी चाहिए, क्योंकि युद्ध मे नागरिक देश-रक्षा के लिए न केवल धन और सम्पत्ति से ही सहायता देते है वरन् अपने प्राणो का भी होम करते है। इसलिए नागरिकों का सहयोग प्राप्त करने के लिए ही उन्हे अपने विचार स्वतन्त्रता मे प्रकट करने का अधिकार मिलना आवश्यक है।

समाचार-पत्रों की स्वाधीनता

समाचार-पत्रो की स्वाधीनता का अभिप्राय यह है कि समाचार-पत्र बिना किसी पूर्व-आज्ञा के समाचारो को वास्तविक रूप मे प्रकाशित करे तथा घटनाओ पर अपने विचार स्वतन्त्र रीति से प्रकट करे। वास्तव मे प्रजातन्त्र मे समाचार-पत्रो का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे केवल जनता को देश-विदेश की स्थिति से परिचित ही नही कराते बल्कि किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर लोकमत तैयार करने मे बडा प्रभाव डालते हैं।

समाचार-पत्र केवल लोकमत को प्रकट करने का साधन ही नही हैं,

प्रत्युत वह लोकमत बनाने का भी उतना ही शक्तिशाली साधन है। वास्तव मे प्रजातन्त्र की सफलता के लिए प्रगतिशील लोकमत की आवश्यकता है। उसके अभाव मे उसका जीवन सफल नही हो सकता। शान्ति-काल मे समाचार-पत्र स्वराष्ट्र की सरकारी नीति तथा कार्यों की आलोचना करते है जिससे जनता को सरकारी कार्यो का यथावत् ज्ञान हो सके। वे किसी भी सार्वजनिक प्रश्न को सरकार तक पहुँचाने के साधन है। परन्तु युद्ध-काल मे तो समाचार-पत्रो का उत्तरदायित्व और भी महान् एव गभीर हो जाता है। युद्ध के कारण देश मे जो भय और आतक एव गलतफहमियाँ तरह-तरह की अफवाहो के कारण पैदा हो जाती है, उनके दूर करने मे समाचार-पत्र बड़ी सहायता करते है। युद्ध-सचालन तथा देश-रक्षा के प्रयत्नो के सम्बन्ध मे प्रचार के लिए समाचार-पत्र से बढ कर कोई साधन नही है।

भारतवर्ष मे सरकार समाचार-पत्रो की स्वाधीनता का सदैव दमन करती रही है। इसका कारण यह है कि भारत के अधिकाश लोकप्रिय और प्रभावशाली अग्रेजी तथा प्रान्तीय भाषाओ के पत्र राष्ट्रीय है अथवा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सहानुभूति रखते है। उन्हे भारत मे अग्रेजी सरकार की नीति की आलोचना करनी पडती है इसलिए उनके सिर पर भी हर समय 'प्रेस एक्ट' सवार रहता है।

सन् १९३१ मे इडियन प्रेस (इमर्जेंसी पॉवर्स) एक्ट आतकवाद का नाश करने के लिए बनाया गया। वह उसी समय की विशेष परिस्थिति के कारण बनाया गया था। परन्तु वह आज तक मौजूद है। अब समाचार-पत्रो को इसी कानून के अनुसार राजद्रोह, जातीय या वर्गीय द्रोह, फौजी-भर्ती-विरोध तथा सैनिको को उत्तेजना देने आदि के लिए दण्ड दिया जाता है। इस कानून के अनुसार समाचार-पत्रो से जमानते माँगी जाती है। जब कोई नया समाचार-पत्र शुरू किया जाता है तो उसके प्रकाशन से पहले ही जमानत माँग ली जाती है। ये जमानते नकद होती है और ५०० रुपये से लेकर १० या १५ हजार तक की होती है। जमानते देने के बाद यदि समाचार-पत्र सरकारी नीति के विरुद्ध

कुछ लिखे तो जमानते जब्त कर ली जाती है। कानून-विज्ञान के अनुसार न्याय तो यह है कि सम्पादक, प्रकाशक या मुद्रक को पहले न्यायालय मे अपराधी प्रमाणित कर दिया जाये, तब उसे दण्ड दिया जाये। परन्तु आज अग्रेजी राज मे उसका अपराध प्रमाणित करने की आवश्यकता नही समझी जाती और उसे पहले से ही दण्ड दे दिया जाता है।

भारतवर्ष मे, जबसे युद्ध आरम्भ हुआ है तबसे तो भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत नियम ३८ व ४१ का प्रयोग समाचार-पत्रो की स्वाधीनता का नाश करने के लिए खुल्लम-खुल्ला किया जा रहा है।

कुछ महीने हुए भारत रक्षा-कानून के नियम ४१ के अन्तर्गत २५ अक्टूबर १९४० को सरकार ने निम्न लिखित आशय की आज्ञा प्रत्येक सम्पादक के पास भेजी —

"भारत-रक्षा कानून के नियमों की संख्या ४१ (१-ब) द्वारा प्रदत्त अधिकार से केन्द्रीय सरकार ने भारत में किसी भी मुद्रक, प्रकाशक या सपादक द्वारा ब्रिटिश भारत में किसी भी ऐसे विषय का प्रकाशन निषिद्ध कर दिया है जो युद्ध-सचालन के प्रति विरोध उत्पन्न करेगा, चाहे ऐसा प्रत्यक्ष रूप से किया गया हो या परोक्ष रूप में, या ऐसे विषय के प्रकाशन या मुद्रण को निषिद्ध किया गया है जो इस प्रकार युद्ध-विरोध के लिए की गयी किसी सभा के भाषण से सम्बन्धित हो।"

इससे बडी हलचल मच गयी। महात्मा गाधी ने युद्ध के विरुद्ध प्रचार करने के लिए जो व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया था, उसी के दमन के लिए ऐसी आज्ञा निकाली गयी थी। इसके फलस्वरूप महात्मा गाधी ने अपने तीनो साप्ताहिक पत्रों 'हरिजन', 'हरिजन-सेवक', 'हरिजन-बन्धु' का प्रकाशन स्थगित कर दिया। साथ ही अधिकाश सपादको ने भी अपने समाचार-पत्रो मे अग्रलेख तथा सम्पादकीय विचार लिखना बन्द कर दिया।

बाद मे १० नवम्बर १९४० को अखिल भारतवर्षीय सम्पादक-सम्मेलन हुआ जिसमे देश के सभी प्रमुख अग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, गुजराती बगला, तामिल, मराठी पत्रो के सपादको ने भाग लिया और प्रेस की

स्वाधीनता पर किये गये नये वार का विरोध किया। पत्रकारों और केन्द्रीय सरकार के बीच पारस्परिक विचार-विनिमय के बाद सरकार ने यह घोषणा कर दी है कि उपर्युक्त आर्डर रद्द कर दिया गया है। इस प्रकार समाचार-पत्रों की स्वाधीनता पर आया हुआ सकट एक सीमा तक दूर होगया।

सभा-संगठन की स्वाधीनता

विचार-स्वाधीनता के उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि विचारों के विनिमय तथा उनकी आलोचना के लिए भी स्वाधीनता हो। यदि एक व्यक्ति एकान्त मे बैठकर विचार करता रहे, और उसे अपने किसी मित्र के साथ या देशवासियो के साथ वार्तालाप करके भाषण द्वारा अपने विचारो को उनतक पहुँचाने की छूट न दी जाये, तो उसके विचारों से समाज कोई लाभ नही उठा सकता।

सामाजिक उत्कर्ष के लिए समाज को सगठन और सभा की जरूरत है। जब व्यक्ति सभाओ मे परस्पर मिलते-जुलते है, तब उन्हे अपनी विविध समस्याओ पर विचार और निर्णय करने का अवसर मिलता है। प्रत्येक देश मे नागरिकों के हितो की रक्षा के लिए तरह-तरह की राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक, व्यापारिक, व्यावसायिक, साहित्यिक वैज्ञानिक, धार्मिक, कला-और नाटच-विषयक सस्थाएँ होती है। भारत वर्ष में भी ऐसी सस्थाएँ बहुत है। इन्हे अपने कार्य-सचालन की आजादी होनी चाहिए। इनमे से धार्मिक, सास्कृतिक तथा साहित्यिक सस्थाओं पर कोई प्रतिबध नही है। परन्तु राष्ट्रीय, राजनीतिक तथा व्यावसायिक सस्थाओ पर सरकार की कडी दृष्टि रहती है। अराष्ट्रीय सरकार द्वारा ऐसी सस्थाओ को गैर-कानूनी घोषित कर दिया जाता है अथवा उनकी सम्पत्ति को जब्त करलिया जाता है। इनके द्वारा जो विशाल सभाओ और जुलूसो का आयोजन किया जाता है, उनपर भी प्रतिबध लगाये जाते है।

जो कानून एक सामान्य नागरिक के लिए है, वही इन सभाओ के लिए भी होना चाहिए। सरकार को किसी भी सभा या सम्मेलन को

रोकने या उसपर प्रतिबंध लगाने का उस समय तक कोई अधिकार नहीं है जबतक कि ऐसी सभा का उद्देश्य गैर-क़ानूनी न हो अथवा उससे शान्ति-भंग की आशंका न हो।

हाँ, यदि सभा के संयोजक शान्ति-पूर्वक क़ानून के अनुसार किसी सभा का आयोजन करे और कुछ उपद्रवी लोग उसमें आकर अनुचित रीति से व्यवहार करें, जिससे शांतिभंग होने की आशंका हो तो पुलिस का यह कर्त्तव्य है कि सभा की स्वाधीनता के अधिकार पर इस प्रकार आघात करनेवालों को गिरफ्तार करके उचित दण्ड दिलाने का उद्योग करे। सभा के संचालकों का भी यह सामान्य कर्त्तव्य है कि वे शान्ति-पूर्वक कानून के अनुसार अपना कार्य करें। सभा में भाषण देनेवालों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे कोई ऐसा भाषण न दें जो न्याय (क़ानून) के विरुद्ध हो। मजदूर-संघों का यह अधिकार है कि वे अपने हितों की रक्षा के लिए कारखानों या मिलों में काम करने की हड़ताल कर सकते हैं। मजदूरों को यह भी अधिकार है कि वह अपने सहयोगियों से शांति-पूर्वक हड़ताल करने का अनुरोध करें।

धार्मिक स्वाधीनता

धर्म का समाज और सामाजिक जीवन में एक विशेष स्थान है। इसलिए धार्मिक स्वाधीनता भी नागरिकों के लिए जरूरी है। धार्मिक स्वाधीनता का अर्थ यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपने विश्वास के अनुसार अपने धर्म-पालन का अधिकार है।

वह चाहे तो अपना धर्म छोड़कर दूसरा धर्म ग्रहण कर सकता है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों को पूर्ण धार्मिक स्वाधीनता का सुयोग दे। धर्म का सम्बन्ध आत्मा और ईश्वर से है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों को अपनी आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति के लिए समान रूप से सुविधाएँ एवं सुयोग प्रदान करे। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जबकि राज्य की ओर से प्रत्येक धर्म के अनुयायी के लिए उचित धार्मिक शिक्षा का भी प्रबन्ध हो।

इसके साथ-ही-साथ राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वह धर्म के नाम पर उसकी आड़ मे होनेवाले सामाजिक पापों के निवारण का प्रयत्न करे। हिन्दू-समाज में धर्म के नाम पर ऐसी अनेक कुप्रथाएँ प्रचलित है जो समाज के लिए हानिकर है—जैसे, बाल-विवाह, बाल-हत्या, सती-प्रथा, नरमेध, धार्मिक अंध-विश्वास, अस्पृश्यता, जातपाँत आदि। समाज-कल्याण के लिए इनके निवारण का भी राज्य की ओर से अवश्य प्रयत्न होना चाहिए। ऐसे प्रयास को धार्मिक हस्तक्षेप का नाम देना अविवेक है।

धर्म के सम्बन्ध मे राज्य की निष्पक्षता का मतलब यह है कि राज्य को किसी एक धर्म के साथ अपनी विशेष सहानुभूति नही रखनी चाहिए और न उसे राज्य-कोष से विशेष मदद ही देनी चाहिए। राज्य के द्वारा सब धर्मो और उनके अनुयायियो के साथ समानता का व्यवहार होना चाहिए। जब 'धर्म' नागरिक जीवन की शान्ति मे बाधक हो अथवा किसी धर्म के अनुयायियो की ओर से सरकार के सामने ऐसी माँगे रखी जायें जिनका मौलिक नागरिक अधिकारो से संघर्ष हो, तो राज्य को सार्वजनिक हितो का पूरा ध्यान रखते हुए ऐसे संघर्षो का निवारण करना चाहिए।

भारत में गो-वध, मसजिद के सामने बाजा बजाने, ताजिया और आरती आदि प्रश्नो को लेकर हिन्दू-मुसलमानो में विशेष रूप से त्यौहारो के समय बड़े दंगे हो जाया करते है। प्रत्येक नागरिक को राज-पथ का प्रयोग करने का अधिकार है। प्रत्येक धर्म के अनुयायी को अपने धर्म या समाज के जुलूस मे भी शामिल होने का अधिकार है। हिन्दुओ को मन्दिरो में पूजा-पाठ और आरती करने का उतना ही अधिकार है जितना कि मुसलमानो को नमाज पढने का। अब यदि मुसलमानो का यह आक्षेप है कि नमाज के वक्त सड़को पर बाजा न बजाया जाये या आरती न की जाये, तो क्या कभी मुसलमान भी यह सोचने का प्रयत्न करेगे कि यदि इसी प्रकार हिन्दू भी यह आक्षेप करे कि आरती के समय कोई नमाज न पढ़े या मुहर्रम के दिनो में ढोल न पीटे जाये क्योंकि इसमे मन्दिरो के देवता अप्रसन्न होते है अथवा नागरिको की नींद मे खलल

पडता है, तो मुसलमान क्या करेगे ? इस प्रकार के अविवेकपूर्ण और धार्मिकता कट्टरताभरे आक्षेपो का तो अन्त ही नही आयेगा। इसलिए सामाजिक शाति के लिए सहनशीलता और बधुभाव की आवश्यकता है।

प्रत्येक धर्म के अनुयायी को यह भी अधिकार है कि वह अपने धर्म का जनता मे प्रचार करे और दूसरे धर्मवालों को अपने धर्म मे दीक्षित करे। इस प्रकार यह धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन का कार्य शान्तिपूर्वक होना चाहिए। बलपूर्वक किसी को धर्म मे मिलाना उचित नही है। अनाथो, नाबालिगो और विधवाओ को धर्म-परिवर्तन का अधिकार नही होना चाहिए क्योकि इन्हे प्राय प्रलोभन देकर विधर्मी वना लिया जाता है।

व्यावसायिक स्वाधीनता

व्यवसाय का वैयक्तिक जीवन मे ही नही बल्कि सामाजिक जीवन मे भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यावसायिक स्वाधीनता का मतलब है प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि, योग्यता और स्थिति के अनुसार व्यवसाय स्वीकार करने का अधिकार। जिस मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार काम मिल जाता है, वह उसे बड़ी उत्तमता से करता है। इसीलिए प्रत्येक को अपने मन का व्यवसाय पसन्द करने का अधिकार होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति अपनी जाति, धर्म या समुदाय के कारण किसी भी व्यवसाय या सरकारी पद से वचित न किया जाये। यदि वह उसके योग्य न होगा तो स्वय ही असफल होगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यवसाय को अपने हितो की रक्षा के लिए सगठन करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

अन्य नागरिक अधिकार

उपर्युक्त मौलिक अधिकारो के अतिरिक्त निम्नलिखित अधिकार भी मानव-जीवन को सुखी वनाने के लिए जरूरी है—

प्राथमिक तथा उच्च-शिक्षा

राज्य की ओर से समस्त नागरिको के वालक-वालिकाओ की प्राथ-

मिक शिक्षा नि शुल्क हो, ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए । उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिए भी राज्य को प्रोत्साहन देना चाहिए । जो जातियाँ शिक्षा में पिछडी है उनके लिए शिक्षा का विशेष प्रबन्ध होना चाहिए जिससे वे शीघ्र-से-शीघ्र दूसरी शिक्षित जातियो के समान बन सके । छात्रवृत्तियो आदि द्वारा विश्वविद्यालयो मे उनके लिए सब प्रकार की सुविधाएँ दी जानी चाहिए ।

आवागमन की स्वतन्त्रता

प्रत्येक नागरिक को राज्य[1] की सीमा मे भ्रमण तथा प्रवास का अधिकार होना चाहिए । यदि राज्य की सीमा से बाहर जाना हो तो पासपोर्ट की सुविधा प्रत्येक नागरिक को मिलनी चाहिए ।

सम्पत्ति का अधिकार

प्रत्येक नागरिक का अपनी अर्जित या प्राप्त सम्पत्ति और निजी आवश्यकता की चीजों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होना जरूरी है, क्योंकि इसके बिना उसका जीवन कठिन हो जायगा । परन्तु बडे-बडे व्यवसायो, कारखानो, कम्पनियो, बैंको, रेलों, खानो, भूमि आदि पर राज्य या समाज का अधिकार होना चाहिए जिससे उत्पत्ति तथा वितरण के साधनो से समस्त समाज लाभ उठा सके और वे किसी व्यक्ति-विशेष या समूह की ही वैयक्तिक सम्पत्ति न रहे ।

न्याय-प्राप्ति

प्रत्येक नागरिक कानून की दृष्टि मे समान है । इसका अर्थ यह है कानून धनी-निर्धन, मजदूर-मालिक, शिक्षित-अशिक्षित मे भेद नही मानता । वह सबो के लिए एक-सा है । यदि कोई पूँजीपति भी हत्या का अपराधी है, तो कानून उसे प्राणदण्ड देगा और यदि कोई ग्रेजुएट भी चोरी का अपराधी है तो कानून उसे क़ैद की सजा देगा । किसी खास राज-

---

१ 'राज्य' की व्याख्या के लिए पहला अध्याय देखिए ।

-नीतिक दल से सम्बन्ध रखने से न्यायालय उसके साथ कोई रियायत नही करेगा।

भाषा, संस्कृति तथा साहित्य

प्रत्येक नागरिक को अपनी भाषा, मातृभाषा, तथा सस्कृति के विकास व प्रयोग का अधिकार है। वह चाहे तो अन्य भाषाओ का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसमे उसको बाधा नही दी जानी चाहिए।

आहार-विहार और आचार-विचार की स्वाधीनता

प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि यदि समाज के प्रति नैतिक या दूसरे प्रकार का अपराध न होता हो तो वह अपनी इच्छानुसार भोजन करे, वस्त्रालकार धारण करे, खेल-कूद तथा मनोरजन करे, तथा अपना रहन-सहन रखे। वह अपनी इच्छानुसार विवाह-शादी, सन्तान-पालन तथा सामाजिक जीवन का पूर्णतया उपभोग कर सकता है।

सार्वजनिक स्थानो और सम्पत्ति के प्रयोग का अधिकार

प्रत्येक नागरिक को सामाजिक नियमों का उल्लघन न करते हुए -सार्वजनिक पाठशाला, शिक्षणालय, विद्यालय, मन्दिर, मसजिद, गिरजा, नदी, तालाब, वाटिका, पार्क, कुआँ, समस्त सरकारी भवन, म्यूनिसिपल बोर्ड, जिला बोर्ड के दफ्तर आदि के प्रयोग का अधिकार है। किसी भी नागरिक को अपनी जाति, धर्म या रग के कारण उपर्युक्त सार्वजनिक सम्पत्ति के उपयोग से वचित नही रखना चाहिए।

-समाचारो की गोपनीयता

प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि डाक, तार या फोन द्वारा वह जो पत्र, सवाद या समाचार भेजे, वह गुप्त रहे। अर्थात् राज्य की ओर से डाक-तार-विभाग को प्रत्येक नागरिक के पत्र-व्यवहार की गोपनीयता की रक्षा करनी चाहिए। परन्तु युद्ध-काल मे 'सेसर' विभाग के -सामने इस गोपनीयता की रक्षा सभव नही।

राजनीतिक अधिकार

नागरिक-स्वाधीनता के अलावा नागरिको के लिए राजनीतिक अधिकार भी आवश्यक है। राजनीतिक अधिकारों और नागरिक-अधिकारो में कोई मौलिक अन्तर नही है क्योंकि दोनो की उत्पत्ति इसी सिद्धान्त के आधार पर हुई है कि राज्य नागरिकों को अपना जीवन सुखी बनाने के लिए समान सुविधाएँ प्रदान करे। राजनीतिक अधिकार मुख्यत तीन प्रकार के है—

(१) मताधिकार (२) प्रतिनिधित्व का अधिकार (३) पदाधिकार

(१) मताधिकार

प्रजातन्त्र राज्य मे प्रतिनिधि-सस्थाओं का सबसे अधिक महत्त्व है। एक प्रकार से प्रतिनिधि-सस्थाएँ ही प्रजातन्त्र का आधार है। इन सस्थाओ का निर्वाचन होता है। इन निर्वाचनों के लिए जो निर्वाचक होते है, उनकी योग्यताएँ कानून द्वारा निर्धारित होती है। जो निर्वाचक की योग्यता रखते है, उन्ही को मताधिकार प्राप्त होता है। जिन देशों में प्रजातन्त्र का अधिक विकास हो चुका है, उनमें प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त है। केवल नाबालिग और उन्मत्त व्यक्ति ही मताधिकार से वचित रखे जाते है, क्योंकि वे अपने अधिकार का समुचित प्रयोग नही कर सकते।

भारतवर्ष में प्रान्तीय एव केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाओ के लिए कुल ३½ करोड़ स्त्री-पुरुष मतदाता है। इस समय भारत की कुल जनसंख्या लगभग ४० करोड है। इस प्रकार ३६½ करोड जनता को यह महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही है। भारत में मताधिकार सम्पत्ति और शिक्षा के आधार पर है। यही कारण है कि मतदाताओं की सख्या इतनी कम है।

(२) प्रतिनिधित्व का अधिकार

प्रत्येक निर्वाचक, जिसकी आयु २५ और ३० वर्ष से अधिक हो,

क्रमश प्रान्तीय असेम्बली और कौसिल के लिए होनेवाले चुनावों में उम्मीदवार खडा हो सकता है। केन्द्रीय असेम्बली व राज्य-परिषद् के लिए भी सदस्य की आयु क्रमश २५ और ३० वर्ष होनी चाहिए।

प्रतिनिधि के लिए शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता का कोई नियम नही है। यही कारण है कि इन राज्य-सस्थाओ मे पिछले प्रान्तीय चुनावों द्वारा ऐसे भी प्रतिनिधि चुने जाकर गये जो नाममात्र के साक्षर कहे जा सकते है।

भारतवर्ष मे अब दलो की ओर से चुनाव लडे जाने लगे है। भारत मे काग्रेस-दल ही सबसे सुसगठित और शक्तिशाली है और उसका सग-ठन देश-व्यापी है ग्राम-ग्राम मे उसके कार्यकर्त्ता मौजूद है। यही चुनावों मे काग्रेस की विजय का रहस्य है।

(३) पदाधिकार

प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सस्थाओ के प्रतिनिधियो को, जो बहुमत-दल के होते है, अपना मत्रि-मण्डल बनाने का अधिकार है। भारत मे अभी केवल प्रान्तीय क्षेत्र मे ही यह अधिकार मिला है। केन्द्रीय शासन तो आज भी सन् १९१९ के शासन-विधान के अनुसार जारी है।

इसके अतिरिक्त नागरिको को राज्य की समस्त नौकरियो में नियुक्ति पाने का अधिकार है। प्रत्येक नौकरी के लिए सरकार ने योग्यताएँ निर्धारित कर दी है और जब उसे नियुक्तियाँ करनी होती है तब वह प्रान्तीय सर्विस के लिए प्रान्तीय पब्लिक सर्विस कमीशन तथा भारतीय सर्विस के लिए फेडरल पब्लिक सर्विस कमीशन की नियोजित की हुई प्रतियोगिता-परीक्षाओं द्वारा नियुक्ति करती है। प्रत्येक सर्विस मे साम्प्रदायिक ढग पर प्रतिनिधित्व की पद्धति प्रचलित है।

: ६ :

नागरिकों के कर्त्तव्य

अधिकार और कर्त्तव्य

पिछले अध्याय में नागरिको के अधिकारो के सवध मे हम विचार कर चुके है। परन्तु अधिकारो के साथ कर्त्तव्यो का भी घनिष्ठ सवध है, क्योकि बिना कर्त्तव्य-पालन के अधिकारो का उपभोग संभव और समुचित नही है।

प्रत्येक राज्य या राष्ट्र मे नागरिक को भाषण-स्वाधीनता का अधिकार होता है। वह देश के कानून के अनुसार मर्यादा का पालन करते हुए अपनी इच्छानुसार विचार प्रकट करने में स्वतत्र है। परन्तु उसके इस अधिकार के उपभोग के लिए यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि और दूसरे नागरिक उसकी विचार-स्वाधीनता में वाधा न डाले। उनपर किसी वाधा को उपस्थित न होने देनें का उत्तरदायित्व ही उस नागरिक के लिएं विचार-स्वाधीनता तथा भाषण-स्वाधीनता के अधिकार को जन्म देता है। यदि एक नागरिक एक सभा मे या किसी जन-समुदाय मे या अपने ग्राम की पचायत के सदस्यो के बीच अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करे और उसी समय दूसरे नागरिक उसके इस अधिकार के उपभोग में वाधा पहुँचाने के लिए किसी प्रकार से शान्तिभग करदें तो वह नागरिक अपने अधिकार का कभी उपभोग नही कर सकेगा।

इससे यह सिद्ध है कि जब किसी नागरिक को नागरिकता का कोई अधिकार प्राप्त होता है, तो यह अधिकार ही दूसरो के लिए कर्त्तव्य बन जाता है। दूसरो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसके प्रयोग मे किसी तरह की वाधा उत्पन्न न करे।

इस प्रश्न पर एक दूसरे पहलू से भी विचार किया जा सकता है। यदि समाज के सभी सदस्य केवल अधिकारों पर तो जोर दें पर अपने कर्त्तव्यो की उपेक्षा करे, तो इसका परिणाम होगा उनके अधिकार-प्रयोग

मे सघर्ष। इसके फलस्वरूप समाज का कोई भी व्यक्ति स्वतत्रतापूर्वक अपने अधिकार का प्रयोग न कर सकेगा।

भारतीय कर्त्तव्य-शास्त्र मे कर्त्तव्यो के साथ-साथ अधिकारो पर भी ज़ोर दिया गया है। जब नागरिक अपने कर्त्तव्यो का सच्चाई के साथ पालन करते है तभी वे ऐसा वातावरण पैदा करने मे सफल हो सकते है जिसमे वे अधिकारो का प्रयोग स्वतत्र रीति से कर सके।

कर्त्तव्य-परायणता की आवश्यकता

समाज सार्वजनिक कल्याण के लिए सगठित जन-समुदाय का नाम है। समाज का निर्माण सब व्यक्तियो के कल्याण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही हुआ है। अत. यदि समाज का कल्याण वाछनीय और अभिप्रेत है, तो व्यक्तियों को इसके लिए उद्योग करना होगा और समाज के अभ्युदय के लिए व्यक्तियो का जो उत्तरदायित्व है, वही उनका कर्त्तव्य है।

यदि समाज के व्यक्ति अपने कर्त्तव्यो का पालन न करे तो समाज का सगठन बना नही रह सकता। इसी प्रकार यदि किसी नगर या ग्राम के निवासी अपने ग्राम या नगर की व्यवस्था के लिए सगठित होकर अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो उसकी स्थिति बडी खराब हो जायेगी।

समाज मे जबतक सब व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहते है, तबतक समाज के लोग सभी प्रकार से सुखी और प्रसन्न रहते है और समाज भी उन्नतिशील बनता है। परन्तु जब समाज के व्यक्ति अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों के पालन की अवहेलना करके केवल अधिकारों पर ही ज़ोर देते है, तब उनका पतन शुरू हो जाता है और अन्त मे समूचे समाज की अधोगति हो जाती है।

भारत मे हिंदू-जाति के पतन और पराभव का कारण भी उसकी कर्त्तव्य-परायणता के प्रति उपेक्षा-भावना ही है। प्राचीन काल मे वैदिक वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणो के लिए ये कर्त्तव्य निर्धारित किये गये थे —

(१) वेद पढ़ना तथा पढ़ाना—अर्थात् गुरुकुलों द्वारा समाज में विद्या का प्रचार करना।

(२) यज्ञ करना तथा कराना—अर्थात् समाज के कल्याण के लिए उत्तम और शुभ कर्म करना।

(३) दान देना—अर्थात् ब्राह्मण ने अपनी साधना तथा तपस्या से जो ज्ञान सचय किया है, उसे जनता को देना। विद्या-दान सर्वोत्तम दान माना गया है।

इन कर्त्तव्यों के साथ-साथ ब्राह्मण को यह अधिकार प्राप्त था कि वह दान स्वीकार करे। जनता उसकी सेवाओ के पुरस्कार में अपने श्रद्धा के अनुसार ब्राह्मण को दान-दक्षिणा दे, उसकी भेंट-पूजा करे, उसका आदर-आतिथ्य करे। ब्राह्मण अपने इन सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों के पालन करने पर ही इनसे सम्बन्धित अधिकारो के भोग का अधिकारी बन सकता था। परन्तु जब ब्राह्मणो ने अपने इन कर्त्तव्यों की उपेक्षा करके सिर्फ दान-दक्षिणा ग्रहण करने पर ही जोर दिया, तब समाज का पतन हो गया। आज यह स्थिति है कि एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय या वैश्य अपने अधिकारो के निमित्त तो सदैव सघर्ष करने के लिए सन्नद्ध है, परन्तु अपने कर्त्तव्यो के बारे में वह कुछ भी नही सोचता। इसीलिए तो आज समाज में न नागरिकों को अपने अधिकारो का उपभोग करने की स्वाधीनता है और न समाज मे सगठन तथा सामंजस्य है।

कर्त्तव्यों के प्रकार

कर्त्तव्य अनेक प्रकार के है। उनका वर्गीकरण भी कई प्रकार से किया जा सकता है। हम यहाँ कर्त्तव्यों को पाँच भागो में विभक्त करते है—

(१) अपने प्रति कर्त्तव्य,
(२) अपने परिवार के प्रति कर्त्तव्य,
(३) नागरिकों के प्रति कर्त्तव्य,
(४) समाज के प्रति कर्त्तव्य,
(५) राज्य के प्रति कर्त्तव्य।

(१) अपने प्रति कर्त्तव्य

प्रत्येक नागरिक का सबसे पहले अपने प्रति कर्त्तव्य है। यह वाक्य

कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। प्रत्येक व्यक्ति का अपने प्रति भी कर्त्तव्य है। वह नागरिकों और समाज के प्रति कर्त्तव्य का पालन ही उसी समय कर सकता है जबकि उसने अपने प्रति कर्त्तव्यो का पालन कर लिया हो।

प्रत्येक नागरिक को श्रेष्ठ नागरिक बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यही उसका निजी कर्त्तव्य है। श्रेष्ठ नागरिक बनने के लिए आवश्यक है कि वह अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियो के सामजस्य और पूर्ण विकास के लिए प्रयत्न करे। इसके लिए उसे अपने शरीर का विकास करने की आवश्यकता है शरीर को स्वस्थ बनाते तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने चरित्र का निर्माण करना है। मानसिक शक्तियो के विकास के लिए उसे विविध ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए और आत्मिक-विकास के लिए आध्यात्मिक साधना तथा ध्यान एव चिंतन की आवश्यकता है।

इसमे तनिक भी सन्देह नही कि श्रेष्ठ नागरिक ही समाज का एक उपयोगी अग है, क्योकि वही समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने मे समर्थ हो सकता है।

(२) अपनें परिवार के प्रति कर्त्तव्य

समाज की इकाई व्यक्ति है और यदि समाज के सगठन पर विचार किया जाये तो यह स्पष्ट प्रकट होगा कि समाज का आधार परिवार-समूह है। प्रत्येक व्यक्ति का परिवार में जन्म होता है और परिवार मे ही वह पालन-पोषण पाता है तथा उसी मे रहकर उसके विचारों का निर्माण होता है तथा वह अपनें परिजनो की विचारधारा तथा सस्कारो को ग्रहण करके समाज मे उपस्थित होता है। इसप्रकार व्यक्ति के निर्माण मे परिवार का बहुत बडा योगदान है। प्रत्येक व्यक्ति का अपने माता-पिता के प्रति विशेष कर्त्तव्य है। हिन्दू-विधान के अनुसार प्रत्येक पुत्र का यह कर्त्तव्य है कि वह वयस्क होने पर अपने माता-पिता का भरण-पोषण करे, उनका यथावत् सत्कार करे तथा उनकी धर्म-सम्मत आज्ञाओं

का पालन करे। हिन्दू-शास्त्रो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जन्म लेते ही जो तीन प्रकार के ऋणों—पितृ-ऋण, देव-ऋण और ऋषि-ऋण को अपने ऊपर ले लेता है उनमे इस प्रकार उसे पितृ-ऋण चुकाने के लिए प्रयत्न करना पडता है।

पति और पत्नी परिवार के प्रमुख सदस्य है। पति के पत्नी के प्रति कुछ विशेष कर्त्तव्य है और पत्नी के भी पति के प्रति विशेष कर्त्तव्य है। पति को पत्नी के भरण-पोषण का भार वहन करना पड़ता है। पत्नी के प्रति उसे वैवाहिक कर्त्तव्यो को भी पूरा करना पड़ता है। पति का कर्त्तव्य है कि वह पत्नी के प्रति सच्चाई तथा प्रेम का व्यवहार करे और पत्नीव्रत का पालन करे। इसी प्रकार पत्नी को भी पति के प्रति भक्तिभाव रखकर पातिव्रत का पालन करना चाहिए। पत्नी गृह की स्वामिनी है और उसका कर्त्तव्य है कि वह घर की सब बातो की ठीक प्रकार व्यवस्था करे तथा सन्तान का यथोचित पोषण करे और उसे शिक्षा दे। पति-पत्नी का आपसी व्यवहार मैत्री के आधार पर होना चाहिए—अर्थात् पति पत्नी को दासी न समझे प्रत्युत उसे वास्तव में जीवन-सगिनी समझे।

माता-पिता के सन्तान के प्रति कुछ विशेप कर्त्तव्य है। उनका कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तान का पालन-पोषण करे और उन्हे शिक्षित बनावे। इसी प्रकार भाइयो व बहनों तथा अन्य सम्बन्धियो के साथ भी प्रत्येक व्यक्ति को यथोचित प्रेम-पूर्वक सद्व्यवहार करना चाहिए।

हिन्दू-विधान मे आचार्य की बडी पूजा की जाती है। आचार्य को एक प्रकार से बालक का आध्यात्मिक पिता ही कहा जाता है। आचार्य अर्थात् शिक्षको व अध्यापको के प्रति विद्यार्थियों को यथोचित व्यवहार करना चाहिए।

(३) नागरिकों के प्रति कर्त्तव्य

अपने या अपने परिवार के सदस्यो के प्रति नागरिक के जो कर्त्तव्य है उनका पालन करने मात्र से ही नागरिक के कर्त्तव्यो की सम्यक् पूर्ति

नही हो जाती। उसके अपने पड़ौसियो, बस्ती के वासियो, नगर-निवासियों, ग्रामवासियो तथा देश-वासियो के प्रति भी कई कर्त्तव्य है।

इनके साथ उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए—किन-किन परिस्थितियो एव अवसरों पर उसे कैसा-कैसा व्यवहार करना चाहिए—इसका पूर्ण विवेचन तो कर्त्तव्य-शास्त्र का विषय है। यहाँ इसका पूरा विवेचन सम्भव नही है। अत हम यहाँ केवल उन सामान्य और आधारभूत सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे ही विचार करने का प्रयत्न करेगे जिनके आधार पर इन नागरिको के साथ सम्बन्ध स्थिर करना उचित है।

समाज मे समता, प्रेम तथा सहानुभूति की प्रतिष्ठा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि एक नागरिक दूसरे नागरिकों के साथ भाई के समान व्यवहार करे। दूसरे शब्दों मे उसे भ्रातृभाव की वृद्धि के लिए उद्योग करना चाहिए। भ्रातृभाव के साथ-साथ नागरिक मे सेवा की भावना का होना भी उचित है। कोई भी कार्य इस भावना से नही करना चाहिए कि वह किसी दूसरे के साथ उपकार कर रहा है। ऐसा विचार ही मिथ्या अहकार का जन्मदाता है और अहंकार सच्ची सेवा के मार्ग मे एक बडी बाधा है। प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यता के अनुसार अपनी सेवा का क्षेत्र चुनने की सुविधा होनी चाहिए। नागरिक के व्यवहार मे शिष्टता तथा सहानुभूति का होना परम आवश्यक है। सहानुभूति के द्वारा ही वह नागरिकों व समाज की सेवा करने मे समर्थ हो सकता है। सेवा के लिए सहानुभूति एक प्रकार की मार्ग-प्रदर्शिका है। प्रत्येक नागरिक को ग्राम, नगर तथा अपने मुहल्ले में शान्ति तथा एकता कायम रखने का प्रयत्न करना चाहिए। साधारण-सी गलतफहमियो तथा घटनाओ को लेकर साम्प्रदायिक उपद्रव हो जाते है। यह बताने की आवश्यकता नही कि इन उपद्रवो से समाज की कितनी हानि होती है। नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे ऐसी गलतफहमियों को दूर करने का सगठित रूप से उद्योग करे तथा मामूली विवादो को शीघ्र ही आपसी समझौते द्वारा तय करदे जिससे वे भयकर उपद्रवों का रूप ग्रहण न कर सके। यदि नागरिक सहनशीलता से काम ले तो ऐसे झगड़े

और उपद्रव बडी आसानी से शान्त किये जा सकते है। सहनशीलता वास्तव में मानवता का एक अमूल्य रत्न है। इसके अभाव मे मानवीय सद्‌गुणों का विकास होना सम्भव नही और न इससे समाज का सगठन ही कायम रह सकता है। नागरिक का यह भी कर्त्तव्य है कि वह दूसरे नागरिको के जीवन तथा सम्पत्ति का भी वैसा ही आदर करे जैसा कि अपने जीवन व सम्पत्ति का करता है।

राज्य ने प्रत्येक नागरिक को आत्म-रक्षा (Self-defence) का अधिकार दिया है। परन्तु उस अधिकार के साथ यह कर्त्तव्य लगा हुआ है कि वह दूसरे के जीवन व सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा भी करे। जनता की जो सार्वजनिक सम्पत्ति हो—जैसे बाग, पार्क, तालाब, कूप पाठशाला, धर्मशाला—उसकी रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। जीवन में इस महत्त्वपूर्ण मौलिक सिद्धान्त का सदा, सर्वथा, सर्वत्र पालन होना आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक को दूसरे नागरिको के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसे व्यवहार की वह अपने प्रति उनसे आशा रखता है। इस नियम पर चलने से समाज के व्यक्तियो मे कभी किसी विषय पर सघर्ष नही हो सकता और जीवन के सब काम बडी सफलता से चलते रह सकते हैं।

(४) समाज के प्रति कर्त्तव्य

हमने नागरिको के कर्त्तव्यो के सबन्ध मे ऊपर जो निवेदन किया है, वह केवल व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक नागरिक के ही लिए हैं। नागरिक के कुछ कर्त्तव्य ऐसे भी है जिन्हे वह दूसरो के सहयोग से पूरा कर सकता है। ऐसे कर्त्तव्य समाजगत होते हैं। इनके पालन से समूचे समाज का कल्याण होता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरे नागरिकों के साथ सहयोग-पूर्वक समाज के सगठन में भाग ले। समाज के उत्कर्ष के लिए उसे राज्य की ओर से कई प्रकार के सगठन निर्माण करने का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार का प्रयोग वह समाज की सामाजिक, सास्कृतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, व्यावसायिक, व्यापारिक,

औद्योगिक, आर्थिक, मानसिक, स्वास्थ्य-विषयक आदि अनेक प्रकार की उन्नति के लिए कर सकता है।

नागरिको का कर्त्तव्य है कि वे विविध उन्नति के लिए समाज-सघ, स्वास्थ्य-सघ, साहित्य-परिषद्, नाट्य-परिषद्, शिक्षा-परिषद्, विज्ञान-परिषद्, व्यवसाय-परिषद्, उद्योग-सघ, नगर-सघ, ग्राम-सुधार-सघ मनोरजन-गृह, महिला-सघ, राजनीतिक परिषद्, और आध्यात्मिक परिषद् आदि सगठनो की स्थापना करे। इनमे उन्हे समान रूप से भाग लेना चाहिए और यथाशक्ति उनके उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अपनी योग्यतानुसार प्रयत्न करना चाहिए।

(५) राज्य के प्रति कर्त्तव्य

जिस प्रकार राज्य ने नागरिकों की सुख-सुविधा के लिए उन्हे अधिकार प्रदान किये है, उसी प्रकार नागरिको का भी यह कर्त्तव्य है कि वे उसके प्रति अपने दायित्वो को पूरा करने का प्रयत्न करे। राज्य और नागरिकों का सबन्ध पारस्परिक सहकारिता की भावना पर ही निर्भर है। राज्य का आविर्भाव ही इसलिए हुआ है कि नागरिक सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत कर सके। राज्य का विकास, इस प्रकार, नागरिकों के सहयोग तथा सामाजिक कल्याण की भावना का ही फल है।

राज्य मे शासन और नागरिक उसके सबसे महत्त्वपूर्ण अग है। शासन का आविर्भाव भी इसी कारण हुआ है कि नागरिकों की सामाजिक व्यवस्था का उचित रीति से नियमन और सचालन हो सके। प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली के अन्तर्गत शासन का निर्माण नागरिकों की आकाक्षा के अनुसार होता है। इसी आकाक्षा की अभिव्यक्ति के लिए प्रतिनिधियो के चुनाव की प्रणाली का विकास हुआ।

प्रतिनिधियो का चुनाव

प्रजातत्र-शासन-प्रणाली के अतर्गत प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को, जिसकी आयु १८ वर्ष या इससे अधिक हो, शासन-सस्थाओं के लिए प्रतिनिधि

चुनने का अधिकार प्राप्त है। संसार के अनेक देशो मे जनता को वयस्क-मताधिकार प्राप्त है, परन्तु भारतवर्ष में ४० करोड़ की जन-संख्या में सिर्फ ३-४ करोड नागरिको को मताधिकार प्राप्त है।

मताधिकार एक बहुमूल्य अधिकार है; परन्तु अज्ञान के कारण नागरिक इसके महत्त्व को नही समझते। जो लोग वयस्क नही है, उन्हें यह अधिकार इसलिए नही दिया गया है कि उनकी विवेक-बुद्धि इतनी विकसित नही होती कि वे अपने कर्तव्य का उचित रीति से पालन कर सके। अत वयस्क मतदाताओं का यह कर्तव्य है कि वे लोगों की आकाक्षाओ का ध्यान रखते हुए ऐसे किसी उम्मीदवार को मत न दे, जो उसके अधिकारी नही है।

मतदाताओ का कर्त्तव्य है कि वे ऐसे देशभक्त, देश-हितैषी, विचारवान्, विद्वान, सदाचारी जनसेवक को अपना मत दें जो वास्तव में उनके सामूहिक हित के लिए कार्य करने मे समर्थ हो। चुनावों के समय नागरिक इस सबध मे जैसा व्यवहार करते हैं उसी का यह दुष्परिणाम है कि योग्य, विद्वान और सच्चे सेवक बहुत कम प्रतिनिधि चुने जाते हैं। देखने मे आता है कि स्वार्थी, चरित्रहीन या सामाजिक हितो के विरोधी उम्मीदवार प्रतिनिधि-सस्थाओ मे चुन लिये जाते है। चुनावो के समय उम्मीदवारो की ओर से बल-प्रयोग किया जाता है और मत-दाताओं को तरह-तरह के प्रलोभन दिये जाते हैं। इस प्रकार उम्मीदवार तो भ्रष्ट होते ही है, वे अपना दुष्प्रभाव मतदाताओ पर भी डालते है।

प्रतिनिधियो के कर्तव्य

प्रतिनिधियो का कर्त्तव्य है कि वे शासन-परिषदो तथा प्रतिनिधि-सभाओ मे जाकर समाज के हित के लिए उपयोगी कार्य करे। उन्हे अपने क्षणिक व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए सामाजिक हितो पर कुठाराघात नही करना चाहिए। प्रतिनिधियो का यह भी कर्त्तव्य है कि वे अपने-अपने निर्वाचन-क्षेत्रों मे समय-समय पर भ्रमण किया करे और अपने मतदाताओ ही नहीं प्रत्युत सभी नागरिकों की असुविधाओ, कष्टों

तथा शिकायतो की जाँच करके उनके निवारण का उचित प्रबध करे। इसप्रकार मतदाताओ तथा नागरिकों के साथ सम्पर्क स्थापित करके वे वास्तव मे उनकी आकाक्षाओ को जान सकेगे और तदनुसार धारासभाओ में कार्य भी कर सकेगे।

प्रतिनिधियो का मुख्य कर्त्तव्य तो यह है ही कि वे नागरिकों की सामाजिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक और औद्योगिक उन्नति के लिए उपयोगी कानून बनवाने के लिए प्रयत्न करे।

शासन-प्रबंध में सहयोग

प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली के अन्तर्गत शासन-प्रबन्ध नागरिको के लिए, नागरिको की इच्छा से, नागरिको द्वारा होता है। इसलिए प्रजा-तन्त्र में प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है और इसीलिए उसका यह कर्त्तव्य भी है कि वह शासन-प्रबन्ध के कार्य मे योग दे। शासन-प्रबन्ध के कार्य में तीन प्रकार से सहयोग दिया जा सकता है—

(१) प्रतिनिधि के रूप मे धारासभाओं में भाग लेकर और मन्त्रि-मण्डल का सदस्य बनकर शासनकार्य मे प्रत्यक्ष भाग लिया जा सकता है। धारासभा का सदस्य बनकर उपयोगी कानून बनाकर सहयोग किया जा सकता है।

(२) शासन-प्रबन्ध के विविध विभागों—शिक्षा-विभाग, स्वास्थ्य-विभाग, स्थानीय स्वायत्त-विभाग, अर्थ-विभाग, ग्राम-सुधार विभाग, पुलिस-विभाग आदि—मे पदाधिकार प्राप्त करके शासन-सचालन के कार्य मे योग दिया जा सकता है।

(३) सामान्य नागरिकों को चाहिए कि वे उपर्युक्त प्रतिनिधियो तथा पदाधिकारियो के वैध कार्यो मे योग दें।

क़ानून-निर्माण में नागरिकों का योगदान

कानून धारासभाओं में बनाये जाते है। इन सभाओं मे नागरिकों के चुने हुए प्रतिनिधि भाग लेते है। परन्तु प्रजातत्र-प्रणाली के अन्तर्गत

मतदाता-नागरिको को भी कानून वनाने का अधिकार प्राप्त है। इसे अग्रेजी में Initiative कहते है और धारासभाओं द्वारा स्वीकृत कानूनों पर भी नागरिकों को मत देने का अधिकार प्राप्त है। स्वीजरलैण्ड तथा अमरीका मे नागरिको को ये दोनो अधिकार प्राप्त है।

राज्य के क़ानूनों का पालन

नागरिको का यह कर्त्तव्य है कि वे राज्य के शासन-विधान के तथा दूसरे कानूनो का पालन करे। प्रजातन्त्र-राज्य में वहुमत द्वारा शासन होता है और धारासभाओ मे भी प्रत्येक कानून बहुमत की राय से वनाया जाता है। इसलिए समस्त देश उस कानून से वाध्य हो जाता है। जव कानून वन चुकता है तव समस्त जनता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसका सद्भावना के साथ पालन करे।

अव प्रश्न यह है कि यदि धारासभाओं और सरकार द्वारा कोई ऐसा कानूनवनाया गया है जो समाज के लिए या उसके किसी वर्ग के लिए घातक है, तो क्या उस कानून के विरोधियो का यह कर्त्तव्य है कि वे कानून की अवज्ञा करे? इसमे कोई सन्देह नही कि प्रत्येक प्रजातंत्र राज्य में नागरिकों को यह अधिकार है कि वे किसी भी कानून तथा सरकार के कार्य की आलोचना कर सकते हैं और उसके प्रति विरोध-प्रदर्शन भी कर सकते हैं। इस प्रकार के विरोध-प्रदर्शन वैध (न्यायोचित) माने जाते हैं। इन प्रदर्शनो का उद्देश्य है लोकमत द्वारा सरकार को यह वताना कि उसने जो कानून वनाया है वह समाज या किसी विशेष वर्ग के लिए घातक है जिससे सरकार उसमें संशोधन का प्रयत्न कर सके।

परन्तु कानून की अवज्ञा करना तो देश के विधान के अनुसार अपराध है। ससार के किसी भी सभ्य राज्य के विधान ने नागरिकों को यह अधिकार नही दिया है। सोवियत प्रजातन्त्र-सघ के शासन-विधान में भी संघ नागरिक-सघ के विधान और उसके कानूनो को मानने, श्रम के अनुशासन को कायम रखने, सार्वजनिक कर्त्तव्य का आदर करने और समाजवादी सभा (सोसाइटी) के नियमो का पालन

करने के लिए वाध्य है।[1]

परन्तु भारतवर्ष की स्थिति दूसरे प्रजातन्त्र-राज्यों से भिन्न है। न तो भारत में पूर्ण प्रजातन्त्र राज्य है और न यहाँ नागरिकों की आकाक्षा के अनुसार शासन ही होता है। इसलिए यह कहना कठिन है कि सरकार द्वारा जो कानून प्रचलित है वे प्रजा की आकाक्षा को अभिव्यक्त करते है।

इसीलिए महात्मा गाधी भारतवर्ष मे, २२ वर्ष से सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience) आन्दोलन का सचालन कर रहे है। उनका यह मत है कि यदि कोई कानून अनैतिक है, तो प्रजा को यह अधिकार है कि वह उसकी अवज्ञा करे। परन्तु अवज्ञा अहिंसात्मक होनी चाहिए। सन् १९१९ मे गाधीजी ने रौलट-कानून के विरुद्ध सत्याग्रह—सविनय अवज्ञा—आन्दोलन किया और सन् १९३० मे नमक-कानून, जगल-कानून आदि के विरोध मे। इस समय वह भारत-रक्षा-कानून (Defence of India Act) के विरोध मे युद्ध-विरोधी सत्याग्रह का सचालन कर रहे है। महात्मा गाधी ने लिखा है—

"यह तो हम अधम दशा में पडे हुए है इससे मान लेते है कि क़ानून मे जो कुछ हो उसे मानना हमारा कर्त्तव्य है। अगर मनुष्य एक बार इस बात को महसूस करले कि अनुचित जान पड़नेवाले क़ानूनो का पालन करना नामर्दी है, तो फिर किसी का जुल्म उसे मजबूर नहीं कर सकता। यही स्वराज्य की कुञ्जी है।"[2]

शान्ति-रक्षा में सहयोग

प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह देश की शान्ति की रक्षा मे राज्य के अधिकारियो की सहायता करे और उन्हे सहयोग दे। सरकार ने शान्ति-रक्षा तथा अपराधो के अवरोध तथा अपराधो की

---

१ 'सोवियट प्रजातंत्र-सघ' का विधान

२. महात्मा गांधी; 'हिन्द-स्वराज्य' (हिन्दी-संस्करण १९३९) पृ० १४८

जॉच के लिए पुलिस-विभाग की स्थापना की है। समस्त देश मे प्रत्येक ज़िले तथा तहसील और यहाँ तक कि ग्राम मे भी पुलिस के कर्मचारी होते है। परन्तु पुलिस के कर्मचारी नागरिको की सहायता के अभाव मे न तो शान्ति-रक्षा ही कर सकते है और न अपराधो की जाँच ही कर सकते है। अत नागरिको का यह कर्त्तव्य है कि वे शान्ति की रक्षा तथा राजद्रोह, पड्यत्र, हत्या, लूटमार, डकैती, चोरी, आग लगाना तथा अन्य अपराधो उनके अपराधियों की जाँच के मवध मे पुलिस को सहायता दे।

राज्य-कोप में कर तथा लगान आदि देना

राज्य के शासन का सचालन प्रजा द्वारा दिये गये कर, लगान आदि के रूप मे आये हुए धन से ही होता है। यदि राज्य के पास इन साधनो के द्वारा पर्याप्त कोष प्राप्त नही होता तो वह लोकोपयोगी कार्यो को ठीक प्रकार से करने मे असमर्थ रहता है। इसलिए नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे ठीक समय पर निर्धारित टैक्स, मालगुजारी आदि सरकार को देते रहे। यदि सरकार कोई ऐसा कर लगाती है जो प्रजा पर भार है अथवा जो उचित नही है तो प्रजा का यह कर्त्तव्य है कि वह उसका विरोध करे।

स्वदेश-रक्षा

प्रत्येक देश के नागरिको का यह कर्त्तव्य है कि वे वाह्य आक्रमणों से स्वदेश की रक्षा के कार्य में अपने देश की सरकार की धन, जन आदि से पूरी सहायता करे। इसीलिए वहुत-से देशो मे नागरिक सेनाएँ होती है। सोवियट राज्य में अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम है। इसी प्रकार युद्ध-काल मे प्रत्येक विग्रही राष्ट्र में अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम प्रचलित हो जाता है। इस सम्वन्ध में मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वानो का यह मत है कि अनिवार्य सैनिक-सेवा का नियम नैतिकता और नागरिक स्वाधीनता की भावना के विरुद्ध है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और

उससे जबरदस्ती फौज में सैनिक का काम कराना उचित नही।

दूसरा मत यह है कि देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए प्रत्येक नागरिक को सैनिक सेवा करनी चाहिए। ऐसा करना उसका कर्त्तव्य ही नही धर्म भी है। यदि अनिवार्य सेवा का नियम न रखा जाये तो नागरिक रक्षा के कार्य में सक्रिय भाग न लेना चाहेगे।

इस सम्बन्ध मे हमारा मत यह है कि नागरिको मे देशभक्ति की भावना इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वे स्वदेश के लिए सदैव प्राणोत्सर्ग करने को तत्पर रहे। ऐसी दशा मे वे स्वय-सेवक-सेना तैयार करने का प्रयत्न स्वय ही करेगे।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय

व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन मे ऐसे अनेक अवसर आते है जब नागरिको को यह निर्णय करना बडा कठिन जान पड़ता है कि क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है? ऐसे अवसरो पर उन्हे क्या करना चाहिए—यह एक बडा विचारणीय प्रश्न है।

जब कभी इस प्रकार की समस्या उपस्थित हो जाये तब उन्हे यह विचार करना चाहिए कि जिस कार्य के करने से अधिक हित-साधन हो, समाज का लाभ हो, वही करना उचित है। इसमें तनिक भी सन्देह नही कि इस प्रकार के निर्णय में त्याग तथा बलिदान की भावना का प्राधान्य होगा।

श्री भगवानदास केला ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

"जिन कार्यो में भेदभाव न रखकर, समता का आदर्श रखा जाता है, जिनमें हम अपनी आत्मा की विशालता का अनुभव करते है, जिनमें स्वार्थ-परार्थ का प्रश्न नहीं उठता, वे ही कर्त्तव्य ह। इसके विपरीत जिन कार्यों से भेदभाव की उत्पत्ति होती है, अपने पराये का विचार होता है; अपना सुख-दुःख मुख्य समझा जाता है, जिनमें आत्मा के विस्तार की भावना न रख कर, उसे परिवार या नगर आदि के सीमित क्षेत्र में परिमित रखा जाता है, वे अकर्त्तव्य हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि

हमारा अपने परिवार या नगर आदि के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है। नहीं नहीं जैसा कि अन्यत्र बताया गया है, हमारा कर्त्तव्य तो स्वयं अपने प्रति भी है। हाँ हमें दूसरों के हित को न भूलना चाहिए।"[1]

श्री केलाजी ने जो सिद्धान्त उपर्युक्त अवतरण मे स्थिर किया है, वह वास्तव में नागरिक जीवन के लिए एक उच्च मानवीय आदर्श है। इस सिद्धान्त के समुज्वल प्रकाश में नागरिकगण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय बडी आसानी के साथ कर सकेंगे।

---

१ श्री भगवानदास केला: 'नागरिक-शास्त्र' (१९३२) पृ० ३१४

: १० :

प्रजातन्त्र

प्रजातन्त्र क्या है ?

प्रजातन्त्र के सम्बन्ध मे विचार करने से पूर्व यह भली भाँति जान लेना चाहिए कि प्रजातत्र केवल राजनीतिक सिद्धान्त एव पद्धति ही नही है बल्कि वह एक सामाजिक सिद्धान्त और प्रणाली भी है। प्रजातत्र का अर्थ है वह सिद्धान्त या शासन-प्रणाली जिसके अनुसार राज्य की शासन-सत्ता उसके किसी एक व्यक्ति या वर्ग मे निहित न होकर समाज के प्रत्येक सदस्य मे निहित होती है।- इसका अर्थ यह है कि राज्य का शासन सम्पूर्ण समाज के सदस्यो की सम्मति से होना चाहिए। प्रसिद्ध राजनीतिक लेखक श्री जेम्स ब्राइस का कथन है कि सरकारो का सचालन लोकमत द्वारा होता है। चाहे शासन-प्रणाली प्रजातन्त्र हो अथवा एक-तन्त्र या अभिजात-तन्त्र अथवा अधिनायक-तन्त्र, सभी प्रकार की शासन-पद्धतियो मे शासन जनता की इच्छा से ही होता है।

प्रजातन्त्र और स्वेच्छाचारी शासन-तन्त्र मे अन्तर यही होता है कि पहली प्रणाली के अन्तर्गत प्रजा यह अनुभव करती है कि सत्ता उसके पास है, सरकार का निर्माण उसी ने किया है और शासक प्रजा के आदेश का पालन करते है—अर्थात् शासन प्रजा की इच्छा के अनुसार होना है। दूसरी प्रणाली में प्रजा शासक की आज्ञा का पालन करती है, वह यह अनुभव नही करती कि उसका निर्माण उसी ने किया है। इस प्रकार वह शासक की आज्ञाओ का पालन करती है। द नो मे लोकमत की इच्छा से ही शासन होता है। अन्तर केवल इतना है कि प्रजातन्त्र में लोकमत स्वतन्त्र होना है और वह अपनी इच्छा से शासन का निर्माण करता है, दूसरी ओर एक-तन्त्र या अधिनायक-तत्र में लोकमत अधिनायक या स्वेच्छाचारी शासक की सत्ता के भय या आतक से उसका समर्थन करता है।

प्रजातन्त्र भारत के लिए नयी वस्तु नहीं है। यद्यपि प्राचीन भारत में आधुनिक ढग की प्रजातन्त्र-प्रणाली का विकास नहीं हुआ था, तो भी यह प्रमाणित हो चुका है कि वैदिक राजा या हिन्दू नरेश स्वेच्छाचारी शासक नही होता था। प्राचीन काल में राजा का प्रजा की राज्य-समिति द्वारा चुनाव होता था।[1] राजा को मन्त्रि-परिषद् की सम्मति से शासन सचालन करना पडता था। मन्त्रि-परिषद् के बहुमत का राजा आदर करता था।[2] राजा के कर्त्तव्यो का विधान धर्म-शास्त्रो में प्रतिपादित होता था और उसके अनुसार ही उसे कार्य करना पडता था। प्रजा राजा की केवल धर्मयुक्त आज्ञाओं को ही मानने के लिए बाध्य थी।[3] प्रजा को राजा के चुनने का अधिकार था परन्तु वह उसे अधिकार-च्युत भी कर सकती थी। राजा को प्रजा की सम्मति से कर वसूल करने का अधिकार था और वह पुलिस, सेना, सिविल सर्विस तथा राज्य के अन्य कार्यो का सचालन जाति-सघ, परिषदो या पंचायतो द्वारा करता था। उस समय आज जैसी वैधानिक परम्परा, पार्लियमेंट्री प्रणाली और उत्तरदायी शासन नही था। परन्तु ऐसे प्रमाण मौजूद हैं जिनसे यह सिद्ध है कि प्राचीन काल में भारत में प्रजातन्त्र सस्थाएँ मौजूद थी और सघ-शासन-प्रणाली का भी विकास हो चुका था।[4]

प्रजातन्त्र के प्रकार

आधुनिक काल में प्रजातन्त्र के दो प्रकार है। एक प्रत्यक्ष प्रजातंत्र और दूसरा परोक्ष प्रजातन्त्र। प्राचीन यूनान और रोम में राज्य छोटे

---

१. 'अथर्व वेद'. हर्वर्ड ओरियण्टल सीरीज।

२. आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्। ६३
तत्र यद्भूयिष्ठा कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्। ६४
—कौटल्य अर्थशास्त्र : अधिकरण १; अ० १५

३. 'हिन्दू राजनीति': स्व० काशीप्रसाद जायसवाल।

४ उपर्युक्त

छोटे नगरों के रूप मे होते थे, इसलिए उस युग में यह सभव था कि राज्य के समस्त नागरिक स्वय शासन-प्रणाली मे भाग ले सके। परन्तु आज के राष्ट्र-राज्य मे जिनकी जनसख्या ६ करोड से ३५ और ४० करोड तक होती है, प्रत्यक्ष रूप से शासन मे भाग लेना सब नागरिको के लिए सभव नही। इसीलिए सदियो पूर्व प्रतिनिधि या परोक्ष-प्रजातन्त्र का विकास किया गया था।

प्रतिनिधि-प्रजातत्र का अर्थ यह है कि नागरिक अपने प्रतिनिधियो को अपना शासनाधिकार सौप देते है और प्रतिनिधि अपने निर्वाचनों द्वारा सौंपे गये अधिकार का प्रयोग उनकी इच्छानुसार करते है। इसलिए यह कहा जाता है कि प्रजातत्र मे प्रजा की इच्छा से शासन होता है। निर्वाचको द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि राज्य की धारासभाओंमें शासन-विधान का निर्माण करते है और फिर उसी के द्वारा राज्य का शासन होता है।

आधुनिक काल मे प्रजातत्र के दो मुख्य उदाहरण विद्यमान है—अंग्रेजी प्रजातत्र और अमरीकन प्रजातत्र। अंग्रेजी प्रजातत्र को पार्लिमेन्ट्री या उत्तरदायी शासन-प्रणाली कहा जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचित प्रतिनिधियों के बहुमत-दल द्वारा शासन का निर्माण होता है। जो पार्लिमेंट में बहुमत का नेता होता है, उसे सरकार बनाने का अधिकार होता है। अत सरकार बहुमत के द्वारा पार्लिमेंट के प्रति उत्तरदायी होती है। सयुक्त राज्य अमरीका में प्रमुख शासक (Chief Executive) समस्त राज्यो के निर्वाचको द्वारा चुना जाता है। उसे सयुक्तराज्य अमरीका की धारा-सभा (कांग्रेस) द्वारा सामान्यतया पद-च्युत नही किया जा सकता।

प्रजातंत्र का आधार

प्रजातत्र का आधार क्या है? ईश्वर ने मनुष्यो को स्वतत्र पैदा किया है। वे किसी बधन मे नही है। ईश्वर ने सब मनुष्यों को समान पैदा किया है। सभी मनुष्यो को पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

दी है। उन्हे मस्तिष्क और हृदय भी दिया ह। वे अपनी मानसिक एव शारीरिक शक्तियों के विकास से अपने जीवन को सुखी बना सकते है। यह तो स्वयसिद्ध है कि मनुष्य अपनी समस्त शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियो का सामजस्यपूर्ण विकास केवल स्वाधीन दशा में ही कर सकता है। यदि वे बधन में रहें, तो उनका विकास स्वाभ.विक ढंग से न हो सकेगा। यह भी स्वयसिद्ध है कि मानव-जीवन का लक्ष्य शाति और आनद की प्राप्ति है। अत राज्य और समाज को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिसमें रहकर समस्त मानव अपने इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरुशार्थ कर सके। जिस समाज मे कानून की व्यवस्था एव नियत्रण की सत्ता कुछ लोगों के हाथ मे होगी, उसमें शेष जनता आनन्द-प्राप्ति के प्रयास में सफलता प्राप्त नही कर सकती। अत. इसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने समाज, राष्ट्र या राज्य की नीतियों के निर्माण में योग देना आवश्यक है, क्योंकि जबतक सभी मनुष्यों को अपनी आकाक्षाओं की अभिव्यक्ति का सुयोग नही मिलेगा, तवतक समाज या राज्य यह निर्णय नही कर सकेगा कि समाज या राज्य के लिए कौनसे नियम हितकारी हैं अथवा किन नियमो के पालन न करने से समाज की हानि है? बस, प्रजातन्त्र का यही आधार है।[१]

अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा में जो सन् १७७६ ई० में की गयी थी यह घोषित किया गया था—

"हम इन सत्यो को स्वयं-सिद्ध मानते है कि सब मनुष्य समान पैदा किये गये है। सृष्टिकर्त्ता ने उन्हें कुछ जन्म-सिद्ध अधिकार प्रदान किये हैं। इन अधिकारों में जीवन-स्वाधीनता और आनन्द-प्राप्ति के अधिकार शामिल हैं। इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए सरकारों की स्थापना की गयी हैं। इन सरकारों को जो सत्ता प्राप्त है उसका आदि-स्रोत जनता ही है।"

---

१ 'प्रजातंत्र के मौलिक तत्त्व': रामनारायण 'यादवेन्दु': 'विश्वमित्र' मासिक, अगस्त १९४०

अगस्त सन् १७९१ ई०- मे फ्रास की राष्ट्रीय परिषद् ने मानव-अधिकारो की घोषणा इस प्रकार की—

"अपने अधिकारो के सम्बन्ध में मनुष्य समान पैदा हुए है।''' राजनीतिक समाज का उद्देश्य मनुष्य के जन्मसिद्ध तथा प्राकृतिक अधिकारो की रक्षा करना है। ये अधिकार है नागरिक-स्वाधीनता, सम्पत्ति की सुरक्षा और अत्याचारो का विरोध।"

"समस्त प्रभुता का सिद्धान्त राष्ट्र में निहित है। कोई भी व्यक्ति किसी ऐसी सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकता जो स्पष्ट रूप से राष्ट्र से प्राप्त न हुई हो।'''समस्त नागरिकों को व्यक्तिगत रूप से या प्रतिनिधियो द्वारा कानून बनाने के लिए इकट्ठे होने का अधिकार है। क़ानून की दृष्टि में बराबर होने के कारण वे समान है। वे उन समस्त पदो व सम्मानो के अधिकारी है।[1]

प्रजातंत्र के तत्त्व

प्रजातत्र के तीन मूल सिद्धान्त है—नागरिक-स्वाधीनता, समानता, और बधुत्व। वास्तव में नागरिक-स्वाधीनता प्रजातत्र का प्राण है। इसके बिना प्रजातंत्र की कल्पना सभव नही है। प्रजातत्र-राज्य मे नागरिक-स्वाधीनता को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त है कि उसके शासन-विधान में सबसे प्रमुख स्थान नागरिकता के मौलिक अधिकारो की घोषणा को दिया जाता है। नागरिक-स्वाधीनता मे निम्न-लिखित तत्त्व शामिल है—विचार-स्वाधीनता, मत-प्रकाशन की स्वाधीनता, भाषण-स्वाधीनता, सभा-सगठन की स्वाधीनता, व्यक्तित्व की स्वाधीनता, शरीर-स्वाधीनता, धार्मिक स्वाधीनता, आर्थिक स्वाधीनता, राजनीतिक स्वाधीनता। इनका विस्तृत विवेचन आठवें अध्याय मे किया जा चुका है।

प्रजातत्र का दूसरा प्रमुख तत्त्व है समानता। सब मनुष्य समान उत्पन्न हुए है। इसलिए राज्य को चाहिए कि वह भी कानून की दृष्टि मे सबको समान माने और उनके साथ समानता का व्यवहार करे।

---

१. जेम्स ब्राइस 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज' (१) (१९२९)

राज्य को अपने समस्त नागरिको की सुख-सुविधा के लिए समान अवसर व सुयोग देने चाहिएँ। समानता, के कई प्रकार हैं—राजनीतिक समानता, सामाजिक समानता, आर्थिक समानता आदि। राजनीतिक समानता से प्रयोजन यह है कि राज्य के समस्त नागरिकों को, जो योग्य हों, देश के शासन-सचालन में भाग लेने का समान अधिकार हो। शासन-संचालन किसी वर्ग-विशेष का एकाधिकार नहीं होना चाहिए। इसीलिए मताधिकार नागरिको को प्राप्त है। वह इसी के द्वारा शासन में भाग लेने के अधिकारी है। परन्तु राजनीतिक समानता की सफलता के लिए सामाजिक समानता भी जरूरी है। जबतक समाज मे प्रत्येक नागरिक को समान न माना जायेगा, तबतक उसका कोई राजनीतिक महत्त्व नही। इसी का एक फलितार्थ है—आर्थिक समता या आर्थिक न्याय। समाज में सब वर्गो के सुख के लिए आर्थिक समता जरूरी है। यदि पाश्चात्य देशों मे प्रजातन्त्र-प्रणाली विफल सिद्ध हुई है तो उसका एक मात्र कारण यही है कि प्रजातन्त्र-प्रणाली ने पूँजीवाद के साथ गठ-बन्धन करके समाज मे विषमता को जन्म दिया।

समाज मे सच्ची बन्धुत्व की भावना उसी समय उत्पन्न हो सकती है जबकि उसमें नागरिक-स्वाधीनता और समानता का सिद्धान्त पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया हो और नागरिकों ने अपने दैनिक जीवन मे उनके अनुसार आचरण करने का प्रयत्न किया हो।

प्रजातन्त्र के उपर्युक्त तीन तत्त्वों के अतिरिक्त राज्य के नागरिकों में सार्वजनिक शिक्षा की भी व्यवस्था हो। जबतक नागरिक सार्वजनिक प्रश्नों में दिलचस्पी न लेगे तबतक प्रजातन्त्र का सफल होना सभव नही। इसके लिए नागरिक-शिक्षा के प्रसार की जरूरत है। जनता में उच्च सार्वजनिक जीवन के प्रति आकर्षण पैदा किया जाये। चरित्रवान् लोग सार्वजनिक कार्यो का सपादन करे। प्रत्येक नागरिक को स्वतत्र रूप से सोचने का अभ्यास डाला जाये तथा उसका दृष्टिकोण गतिशील बनाया जाये। लोकमत भी प्रगतिशील एव शिक्षित होना चाहिए। मतलब यह है कि समस्त सामाजिक जीवन का पुनस्सगठन प्रजातंत्र के आधार पर

होना चाहिए और नागरिको को प्रजातंत्र के आदर्शों एव व्यवहारों का ज्ञान कराया जाये ।

इस प्रकार का प्रजातन्त्रवादी समाज ही सच्चे प्रजातन्त्र-राज्य का विकास सफलतापूर्वक कर सकता है ।

प्रजातन्त्र-शासन के गुण

(१) प्रजातन्त्र-शासन का सबसे बड़ा गुण तो यह है कि जनता का शासन जनता की इच्छा से उसके चुने हुए प्रतिनिधियों की राज्य-संस्थाओ द्वारा होता है । इस प्रकार राज्य-प्रबन्ध पर लोकमत का नियन्त्रण रहता है । राज्य के बहुमत-दल का शासन होता है, और यह दल पार्लमेंट के द्वारा प्रजा के प्रति उत्तरदायी होता है ।

(२) प्रजा की इच्छानुसार शासन होने के कारण यह शासन-पद्धति स्थायी है, राजतन्त्र या अधिनायक-तन्त्र की भाँति अस्थायी नही ।

(३) प्रजातन्त्र में जनता यह अनुभव करती है कि उसी ने शासन की रचना की है और जो कानून शासन-संस्थाओ द्वारा बनाये जाते हैं, वे उसी की इच्छा से बनाये जाते है । इसलिए जनता राज्य के कानून का स्वेच्छा से पालन करती है ।

(४) जनता मे राष्ट्र के प्रति प्रेम पैदा होता है । स्वराष्ट्र की रक्षा के लिए नागरिक स्वेच्छा से बड़े से बड़ा बलिदान करने को उद्यत रहते हैं ।

(५) प्रजातन्त्र-राज्य मे विविध राजनीतिक या सामाजिक वर्गों में सामंजस्य स्थापित होजाता है । अत. वे परस्पर संघर्ष नही करते ।

(६) प्रजातन्त्र मे जनता की इच्छा से शासन होता है, इसलिए भीषण राज्यक्रान्ति की सभावना कम होती है । रक्तपातपूर्ण क्रान्तियाँ सदैव ऐसे राज्यो मे होती है जिनमे लोकमत का दमन करके शासन चलाया जाता है ।

(७) प्रजातन्त्र मे शासन-कर्त्ता स्वेच्छाचारिता का प्रदर्शन नही कर सकते और न वे न्यायालय के कार्यो को छीनकर स्वय न्याय की व्यवस्था कर सकते हैं ।

(८) प्रजातत्र में जनता को नागरिक-शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग मिलता है। वह सार्वजनिक प्रश्नो के सबध में दिलचस्पी लेती है। उसमे सार्वजनिक हित के प्रश्न पर अपना स्वतंत्र मत प्रकट करने की क्षमता होती है।

प्रजातंत्र-शासन के दोष

प्रजातत्र-शासन मे जहाँ इतने गुण है वहाँ उसमें—उसकी प्रणाली में कुछ दोष भी है जिनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय है—

(१) प्रजातत्र की शासन-सस्थाएँ मन्द गति से ही अपना कार्य-सचालन कर सकती है। किसी प्रश्न पर, आवश्यकता के समय, शीघ्रता से निर्णय करने की सुविधा कम होती है।

(२) लोकमत की प्रगतिशीलता के कारण जनता के विचारो में परिवर्तन होता रहता है। किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर मन्त्रि-मण्डल में अथवा पार्लिमेंट में मतभेद होजाने से सरकारे त्यागपत्र दे देती है। फिर नये चुनाव होते है। इस प्रकार शासन-कार्य में अव्यवस्था बहुत होती रहती है।

(३) प्रजातत्र-प्रणाली में बहुमत जब अल्पमत के विचारो का आदर नही करता तब अल्पमत अनेक प्रकार के विवाद तथा उपद्रव पैदा करता है। यह विवाद और संघर्ष पार्लिमेंट या धारासभा के सदस्यो तक ही समिति नही रहता प्रत्युत अल्पमत जनता पर भी अपना प्रभाव डालता है और जनता में उपद्रव और विद्रोह खडे हो जाते है।

(४) प्रजातत्र में जनता में नवीन आदर्शो, नवीन भावनाओ तथा नयी विचारधाराओ के कारण नवीनता के प्रति विशेष आकर्षण हो जाता है। इस प्रकार जनता में प्राचीन सस्थाओ को नष्ट करने और उनकी जगह नयी सस्थाएँ खड़ी करने का एक रिवाज-सा चल पडता है।

(५) प्रजातत्र में प्रचार या प्रोपेगेंडा एक महान् शक्ति है। प्रत्येक

राजनीतिक दल नियमित रूप से अपने सिद्धान्तो एव कार्यो का जनता मे प्रचार करता है। जिस दल के पास प्रचार का अच्छा साधन होता है, वह, चाहे प्रजा का उतना हितैषी दल न हो, तब भी अपने प्रोपेगेंडा की बदौलत चुनावो मे विजय प्राप्त कर लेता है। प्रोपेगेंडा से जहाँ लाभ है, वहाँ हानियाँ भी अनेक है। प्रोपेगेंडा की अधिकता का जनता पर बुरा प्रभाव पडता है। वह किसी भी प्रश्न को स्वतत्र बुद्धि से सोचने की क्षमता खो बैठती है।

(६) प्रजातत्र मे शिक्षा के अभाव के कारण जब अधिकाश जनता अज्ञानी और अशिक्षित होती है तब अयोग्य, स्वार्थी तथा अवसरवादी व्यक्ति नेता बन बैठते है। जब ऐसे लोगों के हाथ मे शासन-सत्ता आ जाती है, तब वे अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिए उसका दुरुपयोग करते है। इस प्रकार हम देखते है कि निर्वाचनो मे रिश्वतखोरी का बडा आतक रहता है।

(७) प्रजातत्र राज्य-प्रणाली के साथ सारी जनता सहयोग करने को प्रस्तुत रहती है, तो भी अत्यन्त विचारशील पुरुष, तत्ववेत्ता, महान् धर्मात्मा अथवा अत्यन्त उच्च श्रेणी के महापुरुषो के लिए प्रजातत्र मे कोई खास आकर्षक या उत्तेजक बात नहीं होती।

प्रजातत्र मे जो उपर्युक्त दोष बतलाये गये है वे उसकी उस प्रणाली मे है जो पाश्चात्य देशों में स्थापित है। प्रजातत्र के आदर्श में कोई दोष नही है। ये दोष व्यवहार के है जो प्रयत्न करने पर दूर भी हो सकते हैं।

भारतवर्ष और प्रजातंत्र

भारत के सभी विद्वान और राजनीतिक दल इस विषय में एक मत है कि भारत के लिए प्रजातत्र-राज्यप्रणाली ही सबसे श्रेष्ठ और उपर्युक्त है। भारत-राष्ट्रीय महासभा का लक्ष्य भारत मे स्वाधीन प्रजातत्र-राज्य की स्थापना है। मुस्लिम लीग ने जब अपने लखनऊ अधिवेशन

(अक्टूबर, १९३७) में अपना लक्ष्य 'पूर्ण स्वाधीनता' को पाना मजूर किया तब उसके अध्यक्ष श्री मुहम्मदअली जिन्ना ने बडे ओजस्वी शब्दों में लीग के ध्येय की घोषणा करते हुए कहा—"मुस्लिम लीग भारत के लिए पूर्ण राष्ट्रीय प्रजातन्त्रात्मक स्वराज्य चाहती है।" सिक्ख, भारतीय ईसाई, दलितवर्ग, लिबरलदल, हिन्दू महासभा आदि सभी दल प्रजातन्त्र के आदर्श में विश्वास करते है।

पाकिस्तान

विगत लाहौर अधिवेशन (मार्च, १९४०) से मुसलिम लीग ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके यह कुप्रचार करना शुरू कर दिया है कि भारत में दो राष्ट्र है—हिन्दू और मुसलमान। इसलिए भारत में प्रजातन्त्र-प्रणाली उपयुक्त नही है। हिन्दू ओर मुसलमान दोनो के लिए अलग-अलग राज्य होने चाहिएँ। मुसलमानों का राज्य—पाकिस्तान—उत्तर-भारत मे रहे जिसमे सीमा-प्रान्त, बिलोचिस्तान, पजाब, सिन्ध, बगाल आदि शामिल हो। शेष भारत में हिन्दू-राज्य कायम किया जाये। मुसलिम लीग के नेता श्री जिन्ना ने यह पाकिस्तान की नयी योजना तैयार की है। परन्तु इस योजना को भारत के समस्त मुसलमानों ने तो क्या उनके बहुमत ने भी स्वीकार नही किया। काग्रेस, हिन्दू महासभा, सिक्ख, ईसाई तथा लिबरल सभी इस योजना का घोर विरोध कर रहे है। इस प्रकार भारत में पाकिस्तान की स्थापना राष्ट्र के लिए खतरनाक है। और इसकी स्थापना का स्वप्न भी पूरा नही हो सकता।

: ११ :

धार्मिक जीवन

नागरिक-जीवन और धर्म

मानव-जीवन मे धर्म का स्थान सदैव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। ससार मे कोई भी ऐसा देश नही जहाँ किसी-न-किसी धर्म के अनुयायी न हों किन्तु भारत तो धर्म-प्रधान देश ही कहलाता है। भारतीय जीवन के सब अगो—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक—पर धर्म का प्रभाव है। यहाँ 'धर्म' की परिभाषा है—यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः—जिससे अभ्युदय और नि श्रेयस की सिद्धि हो वही धर्म है। वह मत मजहब या 'रिलीजन' के सकुचित अर्थोवाला नही रहा। धर्म केवल योगियों या धर्माचार्यो की साधना की वस्तु नही है। वह जीवन के प्रत्येक अंग को स्पर्श करता है। हिन्दुओ के धर्म-ग्रथ वेद है। उनमे मानव-जीवन की पूर्णता के लिए नियम और साधन बतलाये गये है। वे केवल आध्यात्मिक ज्ञान के कोष ही नही है, भौतिक ज्ञान के भी अक्षय भाडार है। सभी विद्वानो ने यह स्वीकार किया है कि भारत की सस्कृति आध्यात्मिक है और भारतीय जनता की धर्म मे बडी श्रद्धा है। यहाँ धर्म ने ही मानव-जीवन को सुन्दर, श्रेष्ठ और पूर्ण बनाने और धर्म-भावना ने मानव के नैतिक धरातल को ऊँचा उठाने मे विशेष योग दिया है। धर्म हमें सामाजिक उत्कर्ष के लिए ही प्रेरित नही करता बल्कि हमारे वैयक्तिक जीवन मे भी आनन्द और शाति का सृजन करता है।

(१) वैदिक धर्म

हिन्दूधर्म ससार का सबसे प्राचीन धर्म है। इसी का वास्तविक नाम वैदिक धर्म है; परन्तु भारतवर्ष में विदेशियो के आगमन के बाद इस धर्म को 'हिन्दू धर्म' कहने लगे। यह नाम विदेशियों का रखा हुआ है। वेद, उपनिषद्, दर्शन तथा मनुस्मृति में 'हिन्दू' नाम का कही भी उल्लेख

नही मिलता। धार्मिक ग्रन्थों मे इस धर्म का नाम 'आर्य्य धर्म' लिखा है।

उत्तर भारत प्राचीन समय मे 'आर्यावर्त' के नाम से प्रसिद्ध था और उसके निवासियो को 'आर्य्य' कहा जाता था। 'आर्य्य' का अर्थ है श्रेष्ठ, उत्तम, मान्य पुरुष।

चारो वेद (ऋक्, यजु, साम, अथर्व) ससार के सबसे प्राचीन ग्रथ है और वैदिक धर्म ससार का आदि-धर्म है। जब ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पन्न की तो सबसे पहले उन्होने चार ऋषियो को ज्ञान दिया। यही ईश्वरीय ज्ञान 'वेद' है जो उन ऋषियो के द्वारा मानव-समाज के लिए सुलभ हो सका।

उपनिषद् वेदो की व्याख्याएँ है जो बाद मे ऋषियों ने कीं। इसी प्रकार दर्शनशास्त्र भी मुनियो द्वारा प्रणीत है। स्मृतियो मे धर्म के नियम है। वे एक प्रकार से कानून-सग्रह है। सबसे प्राचीन स्मृति मानवधर्म-सग्रह है। यह 'मनुस्मृति' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, शास्त्र, और मनुस्मृति सब सस्कृत भाषा में है। योगदर्शन के अनुसार वैदिक धर्मानुयायी को निम्न लिखित दस नियमों का पालन करना चाहिए। ये यम-नियम इस प्रकार है —

(१) अहिंसा—मन, वचन और कर्म से प्राणी-मात्र से प्रेम करना तथा किसी भी प्राणी को हानि न पहुँचाना।

(२) सत्य—मन, वचन कर्म से सत्य का पालन करना।

(३) अस्तेय—मन, वचन, कर्म से चोरी का त्याग।

(४) ब्रह्मचर्य्य—वीर्य-रक्षा करते और सयमपूर्ण जीवन बिताते हुए, ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म-प्राप्ति की साधना करना।

(५) अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक का सग्रह न करना तथा स्वाभिमान-रहित रहना।

(६) शौच—जलादि से शरीर तथा वस्त्रों की शुद्धि, पवित्र विचारो से मन की शुद्धि तथा ब्रह्म-ज्ञान से आत्मा की शुद्धि करना।

(७) सन्तोष—पुरुषार्थ करना तथा हानि-लाभ में शोक न करना।

(८) तप—कष्ट सहन करते हुए भी धर्मसम्मत कार्यों का अनुष्ठान करना।'
(९) स्वाध्याय—स्वय पढना तथा दूसरो को पढ़ाना।
(१०) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर की भक्ति में आत्म-समर्पण।

इस प्रकार सक्षेप मे, सूत्ररूप मे योगदर्शन-कार ने धर्म के दस नियम बतलाये है। इनके अनुसार आचरण करके मनुष्य न केवल लौकिक सुख ही प्राप्त कर सकता है, प्रत्युत मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

वैदिक धर्म के मौलिक सिद्धान्त इस प्रकार है .

(१) एकेश्वरवाद—इस विश्व और ब्रह्माण्ड का कर्त्ता केवल एक ईश्वर है। वह सर्वशक्तिमान्, निर्विकार, अजन्म, अनादि, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ आदि है।
(२) जीव चेतन है और अनन्त है। वह अमर है, अजन्म है और अनादि है। जीव मे इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न होता है। जीव जैसे कर्म करता है, वैसा ही उसे फल मिलता है। जब जीव श्रेष्ठ कर्म करता है और उसे मोक्ष मिल जाता है तब वह १५ खरब, ५५ अरब, २० करोड वर्ष बाद पुन शरीर धारण करता है।
(३) जीव एक शरीर का त्याग करके दूसरी योनि मे जाता है। इस प्रकार पुनर्जन्म में विश्वास वैदिक सिद्धान्त है।
(४) यह सृष्टि-रचना प्रकृति और जीव से हुई है। प्रकृति जड है। उसमे चेतनता का अभाव है। प्रकृति का कभी नाश नही होता। इसलिए वह अनादि है, अनन्त है।
(५) वैदिक धर्म के अनुसार मानव-जीवन चार आश्रमों मे विभाजित है—ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास।
(६) इसी प्रकार मानव-समाज गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर चार वर्णों में विभाजित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।
(७) वैदिक धर्म मूर्तिपूजा और अवतारवाद में विश्वास नही करता।
(८) वैदिक धर्म जात-पाँत और अस्पृश्यता की भी आज्ञा नही देता।

आज भारतवर्ष मे वैदिक धर्म के इस स्वरूप की झलक आर्य-समाज में ही विद्यमान है, परन्तु वह भी पूर्णतया इसका पालन नही करता।

शेष हिन्दू-समाज मे आज वैदिक धर्म का केवल विकृत रूप ही रह गया है। वैदिक धर्म के अनुयायियों मे अनेक धार्मिक पथ और प्रचलित है। हिन्दू-समाज के अन्तर्गत विविध प्रमुख मत इस प्रकार है—

(२) जैन मत

ईसा से ६ शताब्दियों पहले महावीर ने जैन मत की स्थापना की थी। जैन मत वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में उदय हुआ था। वह वैदिक धर्म के कुछ सिद्धान्तो को स्वीकार करता है। वस्तुत वह हिन्दू धर्म का ही एक रूप है।

जैन-मत जगत की उत्पत्ति का कर्त्ता ईश्वर को नही मानता और न वह वैदिक वर्ण-व्यवस्था को मानता है। जैन मत शरीर और मन की शुद्धता पर जोर देता है। इस मत के तीन मूल तत्त्व है—ज्ञान, भक्ति और सदाचार। इन तीनो के द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकती है।

विश्व मे दो शक्तियाँ है—प्रकृति और आत्मा। विशुद्ध आत्मा जब भौतिक शरीर मे आजाता है तव वह दु ख का कारण वन जाता है। इसलिए तपस्या द्वारा इस शरीर को कष्ट देना चाहिए जिससे आत्मा इसका परित्याग करके मोक्ष का आनन्द भोग सके। निर्वाण में अतीत के कर्मो का नाश हो जाता है और आत्मा शरीर-वन्धन से मुक्त हो जाता है। जैन मत के अनुसार श्रेष्ठ आचरण के लिए निम्नलिखित नियमों का पालन करना चाहिए—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) शौच (५) त्याग।

जैन मत की पुस्तके 'आगम' कहलाती है। जैनों मे दो सम्प्रदाय है—श्वेताम्वर और दिगम्वर। श्वेताम्वर श्वेत वस्त्र धारण करते है और दिगम्वर वस्त्र धारण नही करते, नग्न रहते है। यद्यपि जैनमत के प्रवर्तक महावीर नास्तिक और मूर्तिपूजा के विरोधी थे, तो भी आजकल जैन मतावलम्वी महावीर की मूर्तियाँ वनाकर उनकी पूजा करते हैं। अहमदावाद, इलोरा अजमेर. आवू और काठियावाड़ मे जैन-मन्दिरो की प्रधानता है। ये जैनो के तीर्थ-स्थान है। सन् १९३१

की जनगणना के अनुसार भारत में १२ लाख ५१ हजार १०५ जैन हैं।

यद्यपि हिन्दू धर्म जैन धर्म से भिन्न है परन्तु इसमे तनिक भी सन्देह नही कि जैन अपने को हिन्दू ही मानते है और हिन्दू भी जैन धर्मावलम्बियों को हिन्दू मानते है। वे गौ-पूजा करते हैं, हिन्दू देव-मन्दिरो मे जाते हैं, हिन्दू उत्तराधिकार कानून को मानते है, हिन्दू पर्वो और उत्सवों को मानते है और भाषा और संस्कृति की दृष्टि से भी वे हिन्दू ही है।

(३) बौद्ध मत

बौद्ध मत की प्रतिष्ठा ईसा से पूर्व पाँचवी शताब्दी मे गौतम बुद्ध ने की थी। महात्मा बुद्ध के मतानुसार जीवन दु.खमय है; समस्त दु खो का कारण मोह और तृष्णा है। अत इच्छाओ के दमन द्वारा ही दु खों का परिहार हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए बुद्ध ने निम्नलिखित नियमों के पालन पर जोर दिया है—(१) अहिंसा (२) अस्तेय, (३) ब्रह्मचर्य (४) सत्य (५) ईर्ष्या-त्याग (६) शिष्ट भाषण (७) प्रलोभन-त्याग (८) घृणा-परित्याग (९) अज्ञान-निवारण

बौद्ध मत मे मुक्ति के लिए ईश्वर-भक्ति और ज्ञान की आवश्यकता नही है। उसमे नीति-मार्ग पर अधिक जोर दिया गया है। उसकी दृष्टि मे आत्म-संयम ही मोक्ष का साधन है। बौद्ध मत मे अहिंसा को सबसे उच्च स्थान प्राप्त है। इस धर्म का प्रचार एशिया मे खूब हुआ। यद्यपि भारत मे तो बौद्ध-मतानुयायियों की संख्या बहुत ही कम है, परन्तु ब्रह्मा, लंका, तिब्बत, मंगोलिया, चीन और जापान मे बौद्ध मत का ही प्रचार अधिक है क्योंकि सम्राट अशोक ने बौद्ध मत का अनुयायी बनकर उसके विस्तार के लिए इन देशो मे महान् उद्योग किया था।

बौद्धमत के अन्तर्गत दो बडे सम्प्रदाय है—हीनयान और महायान। हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी बुद्ध के उपदेशों मे श्रद्धा रखते है, वे बुद्ध को एक शिक्षक के रूप मे मानते हैं जिसने दु.खो से मुक्ति पाने का मार्ग बतलाया। महायान सम्प्रदाय के अनुयायी

बुद्ध को भगवान् मानते है और उन्हे सर्वज्ञ एवं अमर मानकर उनकी पूजा करते है।

बुद्ध हिन्दुत्व के पुजारी थे। वह वास्तव में हिन्दू-समाज के एक महान् क्रान्तिकारी सुधारक थे। उनके महान् कार्य की विशेषता यह है कि उन्होने उपनिषदो के सिद्धान्तो और वेद के उपदेशो को व्यावहारिक जीवन मे ओतप्रोत कर उनकी सत्यता सिद्ध की। बुद्ध ने ईश्वर और आत्मा के सबंध पर भी उतना अधिक जोर नही दिया जितना लोक-कल्याण और सेवा-धर्म पर। उन्होने भारत में प्रचलित जाति-प्रथा की निस्सारता को सिद्ध करके मानव-बन्धुत्व की स्थापना की। उन्होने स्त्रियो की स्थिति मे भी सुधार किया। वास्तव मे बुद्ध विश्व-प्रेम के मानवीय उच्चादर्शो को जीवन मे चरितार्थ करनेवाले मानवता के महान् पुजारी थे। परन्तु आज बौद्धमतानुयायी बुद्ध के आदर्शो व सिद्धान्तो के सर्वथा विपरीत आचरण कर रहे है।

सिक्ख मत

सिक्ख मत नवीन मत है। यह हिन्दू-समाज मे सुधार करने के लिए एक ऐसे युग मे प्रचलित हुआ था जबकि हिन्दुत्व पतन की चरम-सीमा को पहुँच चुका था। जब हिन्दुत्व पर विजातीय शासको द्वारा आक्रमण हो रहा था, तब गुरु नानक (सन् १४६९-१५३८) ने सिक्ख मत की स्थापना की थी। गुरु नानक ने देश मे भ्रमण कर लोगो को यह सन्देश दिया कि सबको ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना चाहिए। कहा जाता है कि हिन्दुओ के अतिरिक्त मुसलमान भी नानक के भक्त बन गये। गुरु नानक का जातपाँत और अस्पृश्यता मे विश्वास नही था। सब मनुष्य समान है—यही उनका मूल सिद्धान्त था। सिक्खो का धर्म-ग्रन्थ 'आदि-ग्रन्थ' है। सिक्खमतानुसार ईश्वर एक और सर्वव्यापक है, वह अभय, अमर, अजन्म, स्वयम्भू, महान् और दयालु है। वह सत्य था, सत्य है और सदैव सत्य रहेगा। उसके सिवा दूसरा कोई नही। अनेक गुणो के कारण ईश्वर के अनेक नाम है, पर उसका मुख्य नाम

सतनाम है। सिक्ख मत मे इस जगत को अनित्य माना गया है और कहा गया है कि ईश्वर के ज्ञान से ही मोक्ष मिल सकता है, अत उसी का ध्यान करना चाहिए और उसके ही चरणो मे आत्म-समर्पण करना चाहिए। सिक्ख मत मूर्ति-पूजा मे विश्वास नही करता और न बलि देने मे ही उसका विश्वास है। सिक्ख गुरु-परम्परा को मानते हैं। उनके दस गुरु हुए हैं—(१) नानक (२) अगद (३) अमरदास (४) रामदास (५) अर्जुन (६) हरगोविन्द (७) हरराम (८) हरकिशन (९) तेगबहादुर (१०) गोविन्दसिंह। नानक के स्वर्गवास के बाद सिक्ख मत मे एक नये सम्प्रदाय का उदय हुआ जो दसवें गुरु के जीवन-काल मे पूर्णतया सुसगठित हो चुका था। सिक्खो को हिन्दुत्व की रक्षा के लिए विजातीय शासको से लोहा लेना पडा इसलिए सिक्ख-मत सैनिक सगठन मे परिणत हो गया। यह नवीन सम्प्रदाय 'खालसा पथ' कहलाता है। इसके विपरीत जो नानक के शान्ति के उपदेशो मे विश्वास करते है वे 'नानक-पथी' कहलाते हैं।

भारत मे सिक्खो की सबसे अधिक सख्या पजाब मे है। भारत में कुल सिक्ख ४३ लाख २५ हजार ७७१ हैं। सिक्ख पच ककार धारण करते हैं—केश, कच्छ, कडा, कृपाण और कघा।

हिन्दू-समाज के अन्य मत-मतान्तर

उपर्युक्त प्रमुख मतों के अतिरिक्त हिन्दू-समाज मे और भी विविध मत एव पथ हैं। हम सक्षेप मे इनका उल्लेख करते है।

हिन्दू-समाज मे अगणित मतो के प्रादुर्भाव का कारण यह है कि भिन्न-भिन्न देवताओ को ईश्वर का प्रतीक माना गया है—जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि।

अज्ञानवश लोगों ने अपने इष्ट देवता को ही सर्वोपरि प्रधानता देकर विविध पथो की कल्पना कर डाली। उन्होने अपने इष्ट-देवता को ईश्वर का अवतार माना और उसकी मूर्ति बनाकर पूजा करने लगे। विष्णु के माननेवाले वैष्णव और शिव के माननेवाले शैव कहलाये। यही

नहीं, लोगो ने देवियो की भी कल्पना की—जैसे सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती आदि। ब्रह्मा की देवी सरस्वती, विष्णु की देवी लक्ष्मी और शिव की देवी पार्वती या दुर्गा मानी गयी। इन तीनो देवियो को आदिशक्ति माना गया है और इनके उपासक शाक्त कहलाते है। इनके अलावा हिन्दू-समाज मे कबीर-पथ, दादू-पथ, गोसाईं सम्प्रदाय, माधव और नारायण सम्प्रदाय और वाममार्ग आदि अनेक पथ और सम्प्रदाय प्रचलित है जो किसी सत अथवा आचार्य के नाम पर कायम हुए है।

आर्यसमाज

उन्नीसवी सदी मे जब भारत म वैदिक धर्म के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा नष्ट हो रही थी, धार्मिक क्षेत्र मे पाखण्ड और दम्भ का जोर बढ रहा था और समाज नैतिक पतन की ओर तेजी से अग्रसर हो रहा था, तब धार्मिक हिन्दू जाति के अन्धविश्वास, और अज्ञान को दूर करने के लिए स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की। उन्होने समस्त भारत मे भ्रमण करके वैदिक-धर्म-विरोधी मत-मतान्तरो का खण्डन किया और वैदिक धर्म के सच्चे स्वरूप को जनता के सामने प्रस्तुत किया। स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज के १० नियम निर्धारित किये जो इस प्रकार है—

(१) सब सत्य विद्या का और उससे समझे जानेवाले सब पदार्थो का आदिमूल परमात्मा है।

(२) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करना उचित है।

(३) वेद सत्य विद्याओ की पुस्तक है। वेद का पढना-पढाना, सुनना-सुनाना आर्यो का परम धर्म है।

(४) सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोडने को सदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) सब काम धर्मानुसार सत्य और असत्य का विचार करके करना चाहिए।

(६) ससार का उपकार अर्थात् आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है।
(७) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य आचरण करना चाहिए।
(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
(९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
(१०) सब मनुष्यो को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने मे परतत्र और प्रत्येक हितकारी नियम मे स्वतत्र रहना चाहिए।

आर्यसमाज के द्वारा हिन्दू-समाज मे अनेक क्षेत्रो मे सुधार हुए। उसने वेद-कालीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की स्थापना की तथा कन्याओ की शिक्षा के लिए अलग कन्या-गुरुकुल खोले। स्त्रियों मे शिक्षा-प्रचार और पर्दा-प्रथा-निवारण के लिए खास तौर से काम किया। बाल-विवाह तथा वैवाहिक कुरीतियो के निवारण के लिए भी महान् प्रयत्न किया गया। मादक-द्रव्य-निषेध, हिन्दी-भाषा प्रचार विधवा-विवाह, अनाथो की रक्षा तथा शुद्धि-सगठन – ये आर्य-समाज के मुख्य आन्दोलन है। आर्यसमाज ने ऐसी सर्वतोमुखी क्रान्ति का प्रादुर्भाव किया कि जिससे मृतप्राय हिन्दू-जीवन मे जागरण, शक्ति और स्फूर्ति का सचार होगया। भारतवर्ष मे आज भी प्रत्येक नगर और जिले मे आर्य समाज कार्य कर रहा है। भारत के बाहर भी यूरोप, अमरीका और अफ्रीका मे जहाँ भारतीय प्रवासी रहते है, आर्यसमाज की सस्थाएँ है।

ब्राह्म-समाज

सन् १८२८ मे बगाल मे राजा राममोहन राय ने उपनिषदो के ब्रह्म की उपासना के लिए ब्राह्मसमाज' की स्थापना की। सन् १९३० मे सबसे पहले उसका मन्दिर स्थापित किया गया जिसमे सबको प्रवेश की आज्ञा दी गयी। ब्राह्मसमाजी मूर्तिपूजा, जातपाँत, अस्पृश्यता आदि कुप्रथाओ को नही मानते। इस प्रकार 'ब्राह्म-समाज' ने हिन्दुओ को विधर्मी होने से बचाया।

रामकृष्ण-मिशन

सन् १८३३ मे बगाल मे रामकृष्ण परमहस का जन्म हुआ। वे ईश्वर के अनन्य भक्त थे। सासारिक सुखों को त्याग कर उन्होने सन्यास-व्रत लिया और योग-समाधि द्वारा ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधना की। उन्होने यह अनुभव किया कि सब धर्मो मे एकता है। इसलिए उन्होने किसी धर्म का खण्डन नही किया। स्वामी विवेकानन्द, जो रामकृष्ण के महान् शिष्यो में से थे, वेदात के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होने वेदान्त का प्रचार विदेशो मे भी किया। स्वामी रामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करनेवाली सस्था 'रामकृष्ण मिशन' नाम से प्रसिद्ध है।

इस्लाम धर्म

इस्लाम या मुसलमान धर्म ससार के प्रमुख धर्मो में से है। इसके सस्थापक हज़रत मुहम्मद की जन्म-भूमि एशिया महाद्वीप के अरब देश में है। अरबवासियो के द्वारा ही यह धर्म भारत, अफगानिस्तान, मिश्र, तुर्की आदि देशो मे फैलाया गया। मुहम्मद साहब के उपदेशो का सग्रह 'कुरान' मे है। जब मुसलमानो का राज्य हिन्दुस्तान में हुआ तो उन्होने भी अपना धर्म यहाँ प्रचलित किया। कई मुसलमान बादशाहो ने धर्मप्रचार के लिए हिन्दू जनता पर बडे अत्याचार किये, किन्तु अकबर आदि ने जनता को पूर्ण स्वतन्त्रता दी। मुहम्मद साहब के उपदेशो का सार यह है—

(१) एक ईश्वर में विश्वास करो।
(२) कुरान मे विश्वास करो।
(३) खुदाई निर्णय, स्वर्ग और नर्क मे विश्वास करो।
(४) पैगम्बरों में भक्तिभाव रखो।
(५) प्रतिदिन यह पाठ करना चाहिए कि "अल्लाह के सिवा और कोई ईश्वर नही है। मुहम्मद अल्लाह का पैगम्बर है।"
(६) मक्का की ओर मुहँ करके दिन मे ३ से ५ बार तक नमाज पढनी चाहिए।

(७) दान-दक्षिणा देनी चाहिए ।

(८) रमजान के दिनो मे व्रत रखना चाहिए ।

(९) मक्का की तीर्थ-यात्रा करनी चाहिए ।

इस्लाम का मूर्तिपूजा मे विश्वास नही है । उसका भ्रातृभाव और समानता का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, और उसका द्वार सब मनुष्यो के लिए खुला हुआ है । मुहम्मद साहब ने कर्म पर अधिक जोर दिया है । उन्होने लिखा है—

"जो सच्चाई के साथ अपनी जीविका कमाते है, उन्हे ईश्वर प्रेम करता है ।"

"ईश्वर उन लोगों पर कृपा करता है जो अपनी मेहनत से कमाते है और भिक्षावृत्ति पर निर्भर नहीं रहते ।"

दान-दक्षिणा के सम्बन्ध मे मुहम्मद साहब ने लिखा है—

"दान देना प्रत्येक मुसलमान का धर्म है । जिसके पास दान देने के लिए कुछ नहीं, उसे चाहिए कि वह दूसरो के साथ भलाई करे और बुराई से अलग रहे । यही दान है ।

"भूखों को भोजन दो; रोगियो की सेवा करो । आपत्ति-ग्रस्त व्यक्ति की (चाहे वह मुसलमान हो या ग़ैर-मुसलमान) मदद करो ।"

सहनशीलता की भावना के सबंध मे मुहम्मद साहब का आदेश है—

"पूरा मुसलमान वही है जिसके वचन और कर्म से मानव-जाति सुरक्षित रहे । सावधान रहो ! वह मुसलमान नहीं जो व्यभिचार करता है, चोरी करता है, मदिरा-पान करता है या जो किसी के धन का अपहरण करता है ।"

"जो एकेश्वरवादी है और जो परलोक में विश्वास करता है, उसे अपने पडोसियों को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए ।"

"यदि तुम सृष्टि-रचयिता को प्रेम करते हो, तो पहले अपने सहयोगियो को प्रेम करो ।"

"ईश्वर उसके लिए दयालु नहीं जो मानव-जाति के प्रति ऐसा व्यवहार नहीं करता ।"

भारत मे मुसलमानो के दो मुख्य सम्प्रदाय है–शिया और सुन्नी। दोनो में सबसे अधिक सख्या सुन्नी मुसलमानों की है। शिया बहुत ही कम है। अरब तथा दूसरे देशो से भारत मे आये हुए मुसलमानों तथा उनके वशजों की सख्या भी बहुत कम है। शताब्दियो तक हिन्दू और मुसलमानों के साथ रहने से एक-दूसरे पर आचार-विचार का भी बहुत प्रभाव पडा है। कई मुसलमान और हिन्दू वेशभूषा, भाषा आदि की सकीर्णता से बहुत दूर हैं।

अधिकाश मुसलमानो के तो पूर्वज हिन्दू ही है। बम्बई में खोजा, गुजरात (काठियावाड) में कच्छी मेमन, हलाई मेमन और वांहरा तथा मलकाने आदि पहले हिन्दू थे। आज भी उनके उत्तराधिकार तथा विरासत और वसीयत के मामले हिन्दू-विधान के अनुसार तय होते है।

सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार भारत मे मुसलमानों की जनसख्या ७ करोड ७६ लाख ७८ हजार है।

ईसाई धर्म

ईसाई धर्म भी ससार के प्रमुख धर्मो मे से है। इसके प्रवर्तक महात्मा ईसा एशिया महाद्वीप मे गेलिली मे पैदा हुए थे, प न्तु उनका धर्म पहले यूरोप मे फैला। जब यूरोप के निवासी वाणिज्य-व्यापार करने या उपनिवेश बसाने के लिए दूसरे महाद्वीपो, देशों या टापुओ में पहुँचे तो अपने धर्म को वहाँ लेगये और उसे वहाँ प्रचलित किया।

ईसा ने धर्म के मूलतत्त्वो के रूप मे नीचे लिखे आदेश[1] दिये थे—किसी और देवता को मत मानो जल, थल और आकाश की किसी वस्तु की प्रतिमा या चित्र मत बनाओ, लोगो के आगे सिर न झुकाओ, न उनकी पूजा करो, सबके प्रति दया दिखाओ, अपने प्रभु का नाम बेकार मत लो, ६ दिन काम करके रविवार को पवित्रता से बिताओ, अपने माता-पिता का आदर करो। व्यभिचार मत करो; चोरी मत करो, अपने पडोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो और न उसकी किसी चीज पर जी ललचाओ।

---

१. 'एक्सोडस' (ओल्ड टेस्टामेण्ट) : अध्याय २०

भारत मे पुर्तगाल देशवासी व्यापार के लिए आये, तब उन्होने यहाँ ईसाई-धर्म का सूत्रपात किया। बाद मे यहाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य उसके शासकों द्वारा फैलाया जाने लगा और अंग्रेजी राज्य की स्थापना होजाने के बाद तो राजसत्ता की सहायता से यहाँ ईसाई-धर्म का जोरो से प्रचार किया गया। फलस्वरूप भारत में एक नया सम्प्रदाय पैदा हो गया जो 'इण्डियन क्रिश्चियन' कहलाता है। आजतक भारत मे यूरोप और अमरीका के विदेशी मिशन ईसाई धर्म का प्रचार करते आरहे हैं। नगर-नगर मे ईसाई और उनके पादरी और गिरजे दिखायी देते हैं। आरण्यक जातियो (जैसे भील, गोंड, सथाल, कोल आदि) मे ईसाई धर्म-प्रचारकों के विशेषरूप से केन्द्र बने हुए हैं, और उनमे नियमित रूप से प्रचार हो रहा है। ईसाई पादरी व प्रचारक शिक्षा, चिकित्सा आदि अनेक प्रकार से प्रलोभन भी देते हैं। सन् १९३१ मे भारत मे ईसाइयो की आबादी ६२ लाख ९७ हजार ७ थी।

पारसी धर्म

ईसा से पूर्व ८ वी सदी मे फारस मे पारसी मत की स्थापना हुई। जरथुस्त्र ने इस धर्म की प्रतिष्ठा की। यह फारस का राष्ट्रीय धर्म था। और समस्त फारस मे इस धर्म के अनुयायी थे। परतु जब सन् ५३७ में मुसलमानो ने फारस पर आक्रमण किया तो उन्होने बहुत-से पारसियो को मुसलमान बना लिया। जरथुस्त्र के कुछ अनुयायी भारत मे आकर बस गये। अब इस सम्प्रदाय के लोग केवल भारत में ही मिलते हैं। पारसी धर्म का आधार नीति-शास्त्र है। ये अहिंसा, दान, पवित्रता और परोपकार मे पूरा विश्वास रखते हैं। ये अग्निपूजक हैं। तपस्या और तपस्वी जीवन के लिए पारसी धर्म मे कोई स्थान नही है। इनकी धर्म-पुस्तक 'अवेस्ता है'। पारसियों मे कोई जाति-भेद नही है। वे धर्मान्धता और प्रचार मे विश्वास नही करते। पारसियों मे विद्या, वैभव और विद्वत्ता अधिक है। पारसी अधिकाश मे बम्बई प्रान्त मे हैं। भारत में इनकी सख्या ११ लाख के लगभग है।

: १२ :

सामाजिक जीवन

भारत के सामाजिक जीवन मे एकता का अभाव है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि धर्ममात्र ही नही है, बल्कि वे सामाजिक जीवन की भी व्यवस्था करते है। प्रत्येक धर्म के धार्मिक सिद्धान्त ही भिन्न नही होते प्रत्युत उनके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्थाएँ, आदर्श और सस्थाएँ भी भिन्न होनी है। सामाजिक जीवन मे रीति-रिवाजो का वडा महत्त्व है। सच तो यह है कि सामाजिक जीवन इन रीतियो के आधार पर ही स्थिर है। यूरोप के देशो में विविध धर्मो का पालन करते हुए भी लोग सामाजिक जीवन मे समता के आदर्श को स्वीकार करते है। इसके विपरीत भारत में प्रत्येक धर्म और मत ने अपना समाज-शास्त्र अपने ही ढग का गढ लिया है। एक हिन्दू का सामाजिक जीवन एक मुसलमान या ईसाई के सामाजिक जीवन से भिन्न है। यद्यपि इनमे परस्पर समन्वय करनेवाली प्रवृत्तियाँ भी काम कर रही है। भारतीय सामाजिक जीवन के प्रवान-प्रधान अगों की रूपरेखा यो है—

हिन्दू जीवन

हिन्दू-समाज की मुख्य विशेषता है सयुक्त परिवार तथा जाति-प्रथा। आर्यसमाज सैद्धान्तिक रूप में जातपाँत को नही मानता, परन्तु व्यावहारिक रूप में इसका घातक प्रभाव आर्यसमाज पर भी पडे बिना नही रह सका। आर्यसमाज भारत मे पुन वैदिक वर्ण-व्यवस्था की स्थापना करना चाहता है। अत सबसे पूर्व प्राचीन वर्ण-व्यवस्था पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना उपयुक्त होगा।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था

'वर्ण' शब्द के अर्थ है रूप, भेद, प्रकार, रग आदि। परन्तु इसका वैदिक अर्थ है श्रम-विभाजन।

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे वर्ण-व्यवस्था का विधान है। यजुर्वेद मे लिखा है—

"जो पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के समान सबमें उत्तम हो वह ब्राह्मण, जो बाहु की भाँति बलवीर्यवान् हो वह क्षत्रिय, जो उरू की भाँति अन्य सब अगों का पोषण करे वह वैश्य और जो पाँवों की भाँति सेवा करे वह शूद्र है।"[1]

इस वेद-मत्र मे सम्पूर्ण मानव-समाज को गुणों एव योग्यता के आधार पर चार भागों मे विभाजित किया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण की उपमा मस्तिष्क से दी गयी है। जिस प्रकार शरीर मे मस्तिष्क का स्थान सर्वोच्च है, उसी प्रकार समाज में ब्राह्मण का स्थान है। वह जैसे शरीर के कार्यों का सचालक है, उसी प्रकार ब्राह्मण भी समाज का नियामक है। क्षत्रिय की उपमा बाहु से दी गयी है। जिस प्रकार बाहु शरीर मे बल का सूचक है और शरीर की रक्षा करता है उसी प्रकार क्षत्रिय अपने बल से समाज की रक्षा करता है। उरू का कार्य है भोजन के पाचन आदि से शरीर का पोषण। उसी प्रकार वैश्य का भी कार्य पोषण करना है। वह धन-धान्य से समाज का पालन करता है। पाँव जिस प्रकार शरीर की सेवा करते हैं—उसी प्रकार शूद्र भी सारे समाज की सेवा करते हैं।

वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त मे यह कार्य-विभाजन बडी उत्तमता से किया गया है। समाज को बुद्धि, बल, पोषण और सेवा इन चार की जरूरत है ही। जबतक इनमे से एक का भी अभाव होगा समाज की व्यवस्था ठीक नही रह सकती। ब्राह्मण बुद्धि का प्रतीक है, क्षत्रिय बल का, वैश्य पोषण का और शूद्र सेवा का। यह वर्ण-व्यवस्था व्यक्तिगत गुण, कर्म और स्वभाव पर निर्भर है। जन्म के कारण ही न कोई ब्राह्मण हो सकता है न क्षत्रिय और न वैश्य। यही कारण है कि सामाजिक जीवन मे सस्कार का विशेष महत्त्व है। सस्कारो से ही एक शूद्र ब्राह्मण

**१ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः
उरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥यजुर्वेद ३१-११**

का पद पा सकता है एक वैश्य क्षत्रिय बन सकता है। यदि ब्राह्मण में उसके वर्ण के अनुसार गुण-कर्म न हों तो वह गिर जाता है।

(१) ब्राह्मण के कर्त्तव्य—वेद-शास्त्रो तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करना, उनकी जनता को शिक्षा देना, शुभ कर्म करना, तथा यज्ञ कराना, समाज को विद्यादि शुभ गुणो का दान देना और गृहस्थो से अपनी जीविका के लिए दान-दक्षिणा प्राप्त करना। गीता के अनुमार ब्राह्मण मे निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है—शम, दम, तप, शौच, क्षमा, निरभिमान, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकता।

(२) क्षत्रिय के कर्त्तव्य—वेद-शास्त्रो का अध्ययन, यज्ञ तथा शुभ कर्म करना, सुपात्रो को दान तथा प्रजा को अभयदान, प्रजा की रक्षा, जितेन्द्रिय रहना, वीरता के काम करना, तेजस्वी होना, आपत्ति के समय धैर्य्य से काम लेना, सैन्य-विद्या में निपुणता, युद्ध-कौशल, ईश्वर-भक्ति तथा प्रजा को पुत्र के समान मानना।

(३) वैश्य के कर्त्तव्य—वेद-शास्त्रो का अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, पशु-पालन, वाणिज्य-व्यापार करना, व्याजलेना तथा कृषि करना।

(४) शूद्र के कर्त्तव्य—मनुस्मृति के अनुसार परमेश्वर ने जो विद्याहीन हो जिसको पढने से भी विद्या न आ सके, जो शरीर से पुष्ट, सेवा मे कुशल हो उस शूद्र के लिए अन्य वर्गों की निंदा से रहित प्रीति-पूर्वक सेवा करना, यही एक कर्म करने की आज्ञा दी गयी है।

इन वर्णो का आधार व्यक्ति के गुण, कर्म एव स्वभाव है—इसके लिए मनुस्मृति का निम्नलिखित प्रमाण दिया जाता है—

"जो शूद्र कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के समान गुण, कर्म स्वभाववाला हो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो जाता है वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ और उसके गुण, कर्म और स्वभाव शूद्र के सदृश हो, तो वह शूद्र हो जाता है।"[१]

---

१ शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ मनु० अ० १० श्लोक ६५

आपस्तम्ब सूत्र मे लिखा है—

"धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है।"

शुक्रनीति का अध्याय १ श्लोक ३८ भी यही कहता है—

'जन्म से काई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या मलेच्छ नहीं किन्तु सारे वर्ण-भेद का आधार गुण-कर्म पर है।'

वर्तमान युग में वर्ण-व्यवस्था

वैदिक युग मे या उसके बाद किसी अन्य युग मे यह वर्ण-व्यवस्था, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, समाज मे बनी रही हो, परन्तु यह तो निर्विवाद है कि आज भारत मे वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण विनाश हो चुका है। आज न कोई ब्राह्मण वर्ण है, न क्षत्रिय वर्ण और न वैश्य वर्ण। महात्मा गाधी के शब्दों मे आज सब 'शूद्र' हैं। सम्भव है, कुछ व्यक्ति ऐसे निकल आये जो वैदिक परिभाषा के अनसार ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हों, परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आज 'वर्ण' वास्तविक रूप मे नही मिल सकते।

वर्ण-व्यवस्था आर्य-सभ्यता के विकास-काल मे किसी अवस्था के लिए उपयुक्त रही होगी, परन्तु आज के सामाजिक जीवन मे, जो पूर्व-कालीन जीवन से सर्वथा भिन्न है वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गयी है और श्रेय की ओर ले जाने के बदले हमे ह्रास की ओर ही ले जा रही है।

जाति-प्रथा

आज के हिन्दू-जीवन की दो प्रमुख विशेषताएँ है—जाति और परिवार। आज भारत मे ३००० से भी अधिक जातियाँ है और उनकी भी हजारों उपजातियाँ हैं। इस तरह हिन्दू-समाज जातियो के छोटे-छोटे दायरो मे बँटा हुआ है। वेदो मे ऐसा एक भी मन्त्र नही है जो जाति-प्रथा को सिद्ध करता हो। इस प्रकार यह तो सिद्ध है कि यह सस्था वेदविहित नही है और न धार्मिक ही है।

मनुस्मृति मे भी चार वर्णो का विधान है। यदि उसमे जातियो का

उल्लेख है तो वह यह सिद्ध नही करता कि जातियाँ धार्मिक संस्थाएँ है। स्मृतियाँ तो युग-विशेष के सामाजिक नियमो के संग्रह है। उनमें समय-समय पर परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

जातियो की उत्पत्ति वस्तुत हिन्दू-सामाजिक जीवन मे अराजकता के फलस्वरूप हुई है। हिन्दू समाज में, जो हजारो उपजातियाँ है, वे हिन्दू जीवन की अन्य विशिष्टताओ से सम्बन्धित है। इन विशिष्टताओ में से एक है सम्मिलित परिवार।[1]

जाति की तीन मुख्य विशेषताएँ है। वे इस प्रकार है —

(१) जन्मपरक अपरिवर्त्तनशील विषमता

इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है वह आजन्म उसी में गिना जाता है। वह अपनी जाति को बदल नही सकता। यदि वह 'महत्तर' के कुल में पैदा हुआ है तो वह चाहे जैसा विद्वान और पण्डित क्यो न हो जाये, उसकी जाति 'महत्तर' ही रहेगी और समाज उसके साथ उसी प्रकार का व्यवहार करेगा।

(२) व्यवसायो व उद्योगो का जाति के आधार पर वर्गीकरण और उनकी विषमता

प्रत्येक जाति के लिए जो व्यवसाय या पेशा निर्धारित है वह उसी को करती है और अपनी सन्तान को भी वही काम सिखाती है। एक ब्राह्मण कहलानेवाला व्यक्ति पुरोहित का काम करके अपनी जीविका कमाता है, वह अपने पुत्र को भी वही काम सिखाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति सफाई का काम करता है, वह अपनी सन्तान से भी वही काम कराता है।

(३) विवाह-सम्बन्ध तथा खानपान —

जाति की तीसरी विशेषता यह है कि वह विवाह-सम्बन्ध तथा खान-पान अपनी ही जाति तक परिमित रखती है। इस प्रकार जाति रक्त की पवित्रता पर अधिक जोर देती है।

---

१ के० एम० पणिक्कर . 'हिन्दूइज्म एण्ड दि मॉडर्न वर्ल्ड' . पृष्ठ २९

यह जाति-प्रथा हिन्दू-संगठन और एकता मे सबसे अधिक बाधक रही है। सभी समाज-सुधारको ने यह स्वीकार किया है कि जाति-प्रथा सामाजिक संगठन के लिए एक विकट बाधा है। आश्चर्य की बात है कि हिन्दू-महासभा, जो हिन्दू-संगठन पर जोर देती है, हिन्दू-समाज के इन अगणित विभागो के नाश के लिए कोई योजना नही सोचती। प्रोफेसर वाडिया ने जाति-प्रथा के सम्बन्ध मे लिखा है—

"उपनिषदो की उच्च कोटि की आध्यात्मिकता और गीता का नीति-शास्त्र जाति के अत्याचार के कारण कोरे शब्द-मात्र रह गये है। जिस भारत ने चेतन और जड़ जगत की एकता का सन्देश दिया उसी ने एक ऐसे सामाजिक विधान को जन्म दिया जिसने अपनी सन्तति को छोटे-छोटे दायरो में बांट दिया। उसी ने विदेशी सत्ता को यहां विजय प्राप्त करने का सुयोग दिया जिसके कारण वह न केवल गरीब और कमजोर ही हो गया है बल्कि अछूतपन का आगार बन गया है।[१]

हिन्दू-समाज मे प्रचलित जात-पांत की कुप्रथा का जो कुप्रभाव समाज के आचार पर पडा है उसके विषय मे विद्वान् बैरिस्टर डा० भीमराव अम्बेडकर ने लिखा है—

"जाति ने सार्वजनिक भावना का नाश कर दिया है। जाति ने सार्वजनिक दान-दक्षिणा की भावना का विनाश कर दिया है। जाति ने लोकमत को असभव बना दिया है। एक हिन्दू की जनता उसकी जाति ही है। उसकी जिम्मेदारी केवल उसकी जाति के प्रति है। उसकी भक्ति केवल उसकी जाति तक ही परिमित है। सदाचार पर जाति का बंधन है और नैतिकता भी जाति से प्रभावित है।[२]

जाति-प्रथा ने वास्तव में हिंदू-समाज का बड़ा अनिष्ट और अनर्थ किया है और वह उसके पतन के कारणों मे से एक है। परन्तु हर्ष की बात है कि विचारशील मनीषियो के द्वारा जात-पांत प्रथा मे अब परिवर्तन किये

---

१. प्रो० वाडिया : 'कंटेम्पोररी इण्डियन फिलॉसफी', पृ० ३६८
२. डॉ० भीमराव अम्बेडकर : एनिहिलेशन ऑव कास्ट', पृ० २४

जा रहे है और जाति-बधन भी ढीला होता जा रहा है। हिन्दू-समाज के नेता यह अनुभव कर रहे है कि हिन्दुत्व की रक्षा के लिए हिन्दू-सगठन जरूरी है। हिन्दुओ में एकता पैदा करने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता को अब वे अनुभव करने लगे है। अब जाति-प्रथा एक सामाजिक सस्था बन गयी है और उसका धर्म से तनिक भी सबंध नही है, इस तत्त्व को सभी हिन्दू नेता स्वीकार करते है। आजकल भारत मे केद्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं के रूप में एक ऐसी सत्ता मौजूद है जो सामाजिक सुधार करा सकती है। इन्हे हिन्दू-विधान मे परिवर्तन एव सशोधन करने का अधिकार मिला हुआ है। जनता के इन प्रतिनिधियो को 'स्मृति' बनाने का अधिकार है। इसलिए हिन्दू-समाज मे क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए इस सत्ता का प्रयोग किया जा सकता है और धारासभा द्वारा एक नयी स्मृति बनायी जा सकती है जो सर्व प्रकार से इस बीसवी सदी के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सके।

हिन्दू-समाज की सभी जातियो को राजनीतिक सत्ता मिली हुई है और वे सभी राज्य-सघटन पर अपना प्रभाव डाल सकती है। जिन जातियो को प्राचीन काल मे कोई व्यवस्था देने का अधिकार नही था वे भी आज धारासभा में जाकर देश के लिए उपयोगी कानून बनाने में हाथ बँटा रही है। तब तो केवल ब्राह्मणो ही को व्यवस्था देने का अधिकार था, परन्तु आज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा दलित जातियों और स्त्रियो तक को इन धारा-सभाओ में जाकर कानून बनाने का अधिकार है।

इस जमाने मे देश में जो राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा है उसका भी जाति पर स्वास्थ्यकर प्रभाव पड रहा है। राष्ट्रीय आन्दोलन दो प्रकार से पुरातन हिंदू-भावना पर कुठाराघात कर रहा है। उसके द्वारा राजनीतिक सत्ता को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और धार्मिक सत्ता तथा कट्टरता का राजनीतिक जीवन में कोई महत्त्व का स्थान नही है। दूसरा प्रभाव यह पड रहा है कि राजनीतिक सत्ता पाने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन यह सिद्ध कर रहा है कि समाज के निर्माता स्वय मानव है।

वह कोई दैवी विधान नही है जिसे ईश्वर ने हमपर लाद दिया हो। इस प्रकार यह भावना जाग्रत होती जा रही है कि मनुष्य ही समाज-व्यवस्था के निर्माता है।

कुटुम्ब का प्रयोजन

'कुटुम्ब' वह छोटे-से-छोटा मानव-समुदाय है जिसमे केवल पति-पत्नी और उनकी सन्तान हों अत विवाह के बाद ही कुटुम्ब का प्रादुर्भाव होता है।

कुटुम्ब मानव के जन्म के साथ ही पैदा हुआ और आज भी वह विद्यमान है। वास्तव मे कुटम्ब उतना ही प्राचीन है जितनी कि मानव-जाति। मानव के कौटुम्बिक जीवन का समाज से गहरा सम्बन्ध है। वास्तव मे मानव-सभ्यता का आधार कुटुम्ब ही है। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि कुटुम्ब के नाश होने ही मानव सभ्यता भी नष्ट होकर फिर उसी बर्बर दशा को प्राप्त हो जायेगी। विवाह, उत्तराधिकार, दत्त-विधान आदि सबका कुटुम्ब से सम्बन्ध है। कुटुम्ब और विशेष रूप से संयुक्त कुटुम्ब का आर्य-सस्कृति मे बडा महत्त्व है।

भारतवर्ष मे प्रारम्भ से ही सयुक्त कुटुम्ब-प्रथा पायी जाती है। भारत के अधिकाश मे पितृकुल ही है। दक्षिण मे कुछ ऐसी जातियाँ भी है जिनमे मातृकुल भी पाये जाते है। कुटुम्ब-प्रथा के पीछे दो विचार प्रमुख है—स्त्रियाँ पवित्र और साध्वी रहे और उत्तराधिकार का नियत्रण पुरुषो के हाथ मे हो। जबतक समाज मे इन दोनो विचारो का आदर होता रहेगा, तबतक कुटुम्व कायम रहेगा।

संयुक्त-कुटुम्ब-प्रथा

सयुक्त-कुटुम्व की प्रथा बहुत प्राचीन है। इसमे पति, पत्नी पिता, माता, पितामह, पितामही, बहन, भाई पुत्र पुत्री, दत्तक पुत्र आदि शामिल है। कुटुम्ब के विशेष नियम होते है। इन्हे कुलाचार कहते है। जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह, खान-पान, सामाजिक रीति-रिवाज, उत्तराधिकार और

सदाचार आदि इन कुलाचारों ही पर निर्भर होते हैं। सयुक्त-कुटुम्ब मे गृहपति का स्थान सर्वोच्च है और गृहिणी उसके अधीन रहती है।

हिन्दू-विधान के अनुसार आजकल कुटुम्ब के निम्नलिखित सदस्यो को सम्पत्ति के अधिकार विरासत में मिलते है—

(१) पुत्र (२) पौत्र (३) प्रपौत्र (४) पत्नी (५) पुत्री (६) नाती (धेवता) (७) मा (८) पिता (९) भ्राता (१०) भतीजा आदि। दायभाग-क़ानून के अनुसार बंगाल में यदि कोई हिन्दू किसी भी सम्पत्ति को छोडकर मर जाये या मिताक्षरा कानून के अनुसार कोई हिन्दू अपनी पृथक् सम्पत्ति छोडकर मर जाये तो उसकी एक या सब विधवा स्त्रियों को मिलकर उसके पुत्र के बराबर भाग मिलेगा। परन्तु उसका या उनका सम्पत्ति पर वैसा अधिकार न होगा जैसा स्त्री-धन पर होता है।

संयुक्त कुटुम्ब में स्त्री-पुरुष के अधिकार

सयुक्त-कुटुम्ब मे पुरुष को कुटुम्ब मे सबसे अधिक अधिकार प्राप्त हैं। पुत्र का अपने पिता की आधी सम्पत्ति पर अधिकार होता है। वह उसे अपने पिता के जीवन मे विभाजित करा सकता है। जबतक वह जीविकोपार्जन के योग्य नही हो जाता तबतक पिता से उसे भरण-पोषण का अधिकार है। पिता की मृत्यु के बाद उसकी पैतृक या अर्जित सम्पूर्ण सम्पत्ति पर उसका पूरा अधिकार हो जाता है। वह उसे वसीयत में दे सकता है, बेच सकता है या रहन रख सकता है। उसे सम्पत्ति क्रय करने का भी अधिकार है। वह उसे दान अथवा दहेज मे दे सकता है। उसके अधिकार पर बन्धन नही हैं। परन्तु यदि उसके कोई पुत्र है तो उसे उसके अधिकार पर आघात करने का अधिकार नही है। यदि पुत्र के आधे हिस्से को उसने भ्रष्ट कर दिया या उसे अनावश्यक ढग से खर्च किया तो पुत्र को उसे पुन प्राप्त करने का अधिकार है। पुरुष, सक्षेप मे, गृहस्वामी है। वह वास्तविक अर्थ मे गृह का स्वामी है, स्त्री गृह-स्वामिनी है। परन्तु उसके गृह में अधिकार बहुत सीमित हैं। कुटुम्ब मे स्त्रियो में केवल निम्नलिखित स्त्रियों को सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त है—

(१) विधवा पत्नी (२) पुत्र की विधवा पत्नी (३) पौत्र की विधवा पत्नी (४) पुत्री (५) मा (६) पितामही (७) बहन (८) पौत्री (९) पुत्र की पुत्री।

स्त्रियो के सम्पत्त्याधिकार दो प्रकार के है। एक को हम स्त्री-अधिकार (Woman's Estate) कहते है और दूसरे को स्त्री-धन। पुरुष से जो सम्पत्ति विरासत मे प्राप्त होती है, वह स्त्री-अधिकार है। उस सम्पत्ति को केवल भोगने का ही उसे अधिकार है। उस पर उसका पूर्ण स्वामित्व नही होता।

स्त्री-धन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता है। यहाँ स्त्री-धन का प्रयोग विशिष्ट अर्थ मे किया गया है। विशिष्ट स्त्री-धन मे निम्नलिखित सम्पत्ति सम्मिलित है--

१. सम्बन्धियों से प्राप्त दान या वसीयत।

२. वस्त्राभूषण।

३ विवाह-सस्कार के अवसर पर या उससे पूर्व अन्य पुरुषो से प्राप्त दान।

४ गैर सम्बन्धियो से प्राप्त दान।

५ कुमारावस्था या विधवावस्था मे कला-कौशल द्वारा अर्जित सम्पत्ति।

६. बम्बई प्रान्त मे जो सम्पत्ति स्त्री अपने पितृ-कुल मे वसीयत में प्राप्त करती है, वह चाहे पुरुष से प्राप्त की गयी हो या स्त्री से, स्त्री-धन है।

७ वृत्ति के बदले मे मिली सम्पत्ति।

८. विपरीत कब्जे द्वारा प्राप्त सम्पत्ति।

९ ग्राट, दान, समझौते या विभाजन द्वारा प्राप्त सम्पत्ति, यदि दाता का उद्देश्य स्त्री को पूर्ण अधिकार देने का हो।

१० स्त्री-धन द्वारा क्रय की हुई सम्पत्ति।

पुत्रियो के पालन-पोषण का भार कुटुम्ब पर होता है। सयुक्त कुटुम्ब के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रो के पालन-पोषण, उपनयन-सस्कार तथा विवाह का भार भी कुटुम्ब पर होता है। पुत्रियो व बहनो का विवाह भी कुटुम्ब

को करना पडता है। विधवा पुत्र-वधू का सरक्षक श्वसुर होता है। उसका धर्म है कि वह उसका पालन-पोषण करे। यदि कोई स्त्री पति से अलग हो जाये तो उसे विशेष अवस्थाओ मे वृत्ति पाने का भी अधिकार है।

मनुस्मृति के अनुसार स्त्री को बाल्यकाल मे माता-पिता, सधवावस्था म पति और विधवावस्था मे पुत्र के नियंत्रण मे रहना चाहिए। हिन्दू कुटुम्ब में स्त्री का मुख्य कार्य सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तान पालन के सिवा गृह-कार्य का प्रबन्ध करना है। पुरुष घर के बाहर जीविकोपार्जन में सलग्न रहता है और स्त्रियाँ घर का काम-काज करती है।[1] गृह की व्यवस्था में स्त्रियो का पूरा हाथ होता है। विवाह तथा जन्मोत्सव आदि अवसरो पर उनकी इच्छानुसार ही कार्य होता है।

हिन्दू पति को बहु-विवाह का अधिकार है। वह एक ही समय मे एक से अधिक स्त्रियो से विवाह-सम्बन्ध कर सकता है। परन्तु इसका उपयोग प्राय बहुत कम करते है क्योकि इसे अच्छी दृष्टि से नही देखा जाता। विधवा-विवाह की प्रथा अब पुन प्रचलित हो गयी है। पर फिर भी ब्राह्मणो आदि जातियो में, जो बहुत-ही कट्टर है, अपनी विधवा पुत्रियो को युवती होने पर भी अविवाहित रखते है; उनका पुर्नविवाह नही करते, जबकि पुरुषों को पुर्नविवाह का अधिकार है। सती-प्रथा तो बहुत पहले से गैर-कानूनी घोषित हो चुकी है। फिर भी आजकल कभी-कभी हिन्दू विधवाएँ सती हो जाती है। सती होने में मदद करना आज दण्डनीय अपराध है। बहु-विवाह के रोकने के लिए जुलाई १९३८ मे क्रमश 'बहुविवाह अवरोध कानून' तथा 'बहु-विवाह नियमन कानून' के मसविदे भारतीय राज्यपरिषद् (कौसिल ऑफ स्टेट) में प्रस्तुत किये गये थे, परन्तु अभीतक इनके सम्बन्ध मे कोई निश्चय नही हो सका।

हिन्दू-समाज में बाल-विवाह का भी अधिक प्रचार है। यद्यपि सन्

---

१. ब्रह्मा-देश मे पति को विवाहोपरान्त ससुराल में रहना पड़ता है। पत्नी बाहर जीविकोपार्जन करती है, बाजारों में दूकान पर बैठती है और पति गृह के काम-काज करते है।

१९३० से बाल-विवाह अवरोध कानून 'शारदा एक्ट' के नाम से भारत मे प्रचलित है जिसके अनुसार १८ वर्ष से कम आयु की कन्या और १८ वर्ष से कम आयु के लडके का विवाह करना दण्डनीय है। तोभी बाल-विवाह प्रतिवर्ष जहाँ-तहाँ होते सुने जाते है ।

विवाह बहुधा स्वजाति मे ही कुल या गोत्र बचाकर किया जाता है। विवाह मे दहेज देने का भी अधिक प्रचार है। इसके विरुद्ध कई जातियो में आन्दोलन चल रहा है। आर्यसमाज ने इस दिशा में अच्छा काम किया है। राष्ट्रीय विचारों के युवक भी इसके समर्थक है। लाहौर का जात-पाँत तोडक मण्डल भी अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन देता है। इन सब विचारधाराओ के फलस्वरूप सुसस्कृत तथा शिक्षित युवक-युवतियाँ प्राय जात-पाँत के बन्धनों को तोडकर विवाह करने में कोई बुराई नही मानते। परन्तु ऐसा 'स्पेशल मैरिज ऐक्ट' के अनुसार ही किया जा सकता है। स्पेशल मैरिज सशोधन ऐक्ट (१९२३) के अनुसार हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख तथा जैन जातपाँत को तोडकर विवाह कर सकते है उन्हे अब यह घोषणा करने की जरूरत नही कि वे हिन्दू-धर्म को नही मानते। ऐसा विवाह रजिस्ट्रार के सामने होता है। बाद मे धार्मिक सस्कार भी किया जा सकता है। इस विवाह का प्रभाव यह होता है कि पति-पत्नी सयुक्त-कुटुम्ब के सदस्य नही रहते। उनका उत्तराधिकार तथा विरासत हिन्दू-विधान के अनुसार नही बल्कि भारतीय उत्तराधिकार-कानून के अनुसार होता है। वह किसीको गोद नही ले सकता। उसका पिता चाहे तो गोद ले सकता है, मानो उसका यह पुत्र काल-कवलित हो गया हो।

आर्य विवाह-कानून (Arya Marriage Validation Act) के अनुसार अब प्रत्येक आर्यसमाजी को यह अधिकार है कि वह जातपाँत तोडकर विवाह कर सकता है। यह विवाह वैदिक रीति के अनुसार किया जा सकता है। विवाह की रजिस्ट्री कराने की जरूरत नही है।

हिन्दू-कानून के अनुसार स्त्री पति को तलाक नही दे सकती। केवल प्रथा के अनुसार ही कुछ जातियो मे स्त्री को तलाक का अधिकार है।

संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा का भविष्य

हिन्दू-जीवन पर पाश्चात्य सस्कृति तथा सभ्यता का भयकर प्रभाव पडा है। पाश्चात्य देशो मे सयुक्त कुटुम्ब की प्रथा नही है। वहाँ कुटुम्ब में पति-पत्नी होते है और जबतक उनके पुत्रों व पुत्रियो का विवाह नहीं होता तबतक वे भी उनके साथ रहते है। बाद में वे अलग रहते है। पाश्चात्य देशों मे स्त्री-स्वातत्र्य तथा व्यक्तिवाद की भावना के कारण सयुक्त कुटुम्ब का रिवाज नही है। आज भारत मे नवीन सभ्यता के उपासक युवक और युवतियाँ भी स्वतन्त्र जीवन बिताने के लिए सयुक्त-कुटुम्ब का त्याग कर देते है। यह प्रवृत्ति बढती जा रही है। देश के आर्थिक जीवन और औद्योगीकरण का भी सयुक्त कुटुम्ब पर प्रभाव पड रहा है।

अब जीवन-निर्वाह की समस्या इतनी जटिल हो गयी है कि एक व्यक्ति बडे-बडे कुटुम्ब का पालन करने में असमर्थ-सा रहता है। गाँवों के लोग शहरो में आकर बस जाते है और मिलो तथा कारखानो में मजदूरी करते है। शहरों में जीवन बिताना बडा कीमती पडता है। इसलिए ये मजदूर ग्राम से अकेले आते है या अपनी स्त्री-बच्चो को साथ ले आते है। इस प्रकार सयुक्त कुटुम्ब की प्रथा टूटती जा रही है।

आश्रम-व्यवस्था

पुराने समय मे भारतीय ऋषियो ने जिस प्रकार सामाजिक जीवन को चार वर्णो में बाँटा था, उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन को भी चार आश्रमो में बाँटा हुआ था। मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष मानी गयी है। इसीके आधार पर मानव-जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया था—ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। सबसे पहले २५ वर्ष तक मनुष्य को ब्रह्मचर्य्य का पालन करना चाहिए। इसके बाद विवाह करके अपनी सहधर्मिणी के साथ समाज-सेवा मे रत रहना चाहिए। ५० वर्ष की आयु तक गृहस्थ-जीवन बिताना चाहिए। बाद मे वानप्रस्थी बनकर बन मे योग-साधन और स्वाध्याय करना चाहिए।

इसकी अवधि ७५ वर्ष की आयु तक है। इसके बाद १०० वर्ष अर्थात् मृत्यु पर्यन्त सन्यासी रहना चाहिए।

परन्तु आज वर्ण-व्यवस्था के साथ यह आश्रम-व्यवस्था भी नष्ट हो-चुकी है। आज का हिन्दू-जीवन वैदिक-जीवन नही रहा। उसमे मौलिक परिवर्तन हो गया है। आज सिवा आर्य-समाज के गुरुकुलो के और कही 'ब्रह्मचारी' नही मिलेगे। गुरुकुलो मे २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य का पालन कर वेदादि शास्त्रो का अध्ययन किया जाता है।

सन्यासियो का हिन्दू-समाज मे बडा महत्त्व है। उनकी बडी 'पूजा' की जाती है। आज भारत मे ५२ लाख से भी ज्यादा साधु और सन्त है जो हिन्दू गृहस्थों के ७१ करोड से भी अधिक रुपये प्रतिवर्ष खाने-पीने, नशे, कपडे-लत्ते और भोग-विलास मे व्यय करते है। जिस देश मे रात-दिन मेहनत करनेवाले मजदूर दो वक्त मामूली खाना भी नही खा सकते, उस देश मे भारत के २३½ करोड हिन्दुओ के पसीने की कमाई पर ५२ लाख साधु महन्त और सन्तो का खाना, पीना और मौज उडाना हिन्दू-समाज की अध-श्रद्धा का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

अस्पृश्यता

'अस्पृश्यता' हिन्दू-धर्म का महान् पाप है, उसपर लगी हुई जग है। अत्यजो का तिरस्कार करना मनुष्यता को खोदेना है।[1]

'अस्पृश्यता' नाम का रोग हिन्दू-समाज की ही एक विशेषता है। हिन्दू-शास्त्रो मे छूआछूत पर धार्मिक आवरण डाल दिया जाने से वह बद्धमूल हो गया है। यह वास्तव मे एक महान् सामाजिक पाप है जो हिन्दुओ ने अपने ही धर्म-बन्धुओ के साथ किया है। किसी वर्ग को अस्पृश्य घोषित करदेना वास्तव मे मानवता का अपमान ही है। आज भारत मे ६ करोड से भी अधिक हिन्दू नर-नारी अस्पृश्यता के अभिशाप का दुःख भोग रहे है। उन्हे हिन्दू समाज मे रहते हुए न धार्मिक अधिकार है, न

---

१ 'हमारा कलक' . महात्मा गाधी

सामाजिक अधिकार और न राजनैतिक अधिकार ही प्राप्त है । वे अपने ग्राम व नगर के सार्वजनिक स्थानो, सस्थाओं, स्कूलो, मन्दिरो, नदी, तालाव तथा कुओ का प्रयोग स्वतन्त्रता से नही कर सकते ।

महात्मा गाधी ने सबसे पहले हिन्दू-समाज के इस पाप के विरुद्ध सन् १९३२ मे देशव्यापी आन्दोलन खडा किया । उनसे पूर्व भी आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने दलितोद्धार-आन्दोलन और पजाब के प्रसिद्ध नेता लाला लाजपतराय ने अछूतोद्धार-आन्दोलन शुरू किया । अपने समय में इन आन्दोलनो को एक सीमा तक सफलता भी मिली । परन्तु महात्मा गाधी ने जो आन्दोलन सन् १९३२ मे 'साम्प्रदायिक निर्णय' के विरोध में यरवदा-जेल में वन्दी की दशा मे शुरू किया, वह कई दृष्टियो मे सबसे महत्त्वपूर्ण है ।

महात्माजी ने सबसे गहरा प्रहार अस्पृश्यता की धार्मिकता पर किया । उन्होने ससार और हिन्दू-समाज को यह चुनौती दी कि वह यह सिद्ध करे कि वेदो या शास्त्रो में अस्पृश्यता का विधान है । उन्होने यह घोषणा की कि अस्पृश्यता धार्मिक नही है । वह एक सामाजिक कोढ है । उसका निर्माण समाज ने किया है अत उसका नाश भी समाज के उद्योग से हो सकता है ।

साम्प्रदायिक निर्णय के विरोध में जब गाधीजी ने यरवदा-जेल मे आमरण अनशन रखा तब २५ सितम्बर १९३२ को बम्बई में सनातन हिंदू-धर्म के महान् नेता प० मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व मे हिन्दुओं और हिन्दू नेताओ ने सर्व-सम्मति से निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया—

"यह सम्मेलन यह निश्चय करता है कि भविष्य में हिन्दुओ मे कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के कारण अछूत नही माना जायेगा और अबतक जो ऐसे माने गये हैं, उन्हे सार्वजनिक कुओ, स्कूलो, सडको, और समस्त सार्वजनिक सस्थाओ के प्रयोग के सम्बन्ध मे दूसरे हिन्दुओ के समान अधिकार होगा । प्रथम सुयोग प्राप्त होने पर इस अधिकार को कानूनी स्वीकृति दी जायेगी । यदि पहले से ही इसे कानूनी स्वीकृति नहीं मिली, तो यह स्वराज्य पार्लमेण्ट के प्रथम कानूनो में से एक होगा ।"

"और यह भी निश्चय किया गया है कि समस्त हिन्दू-नेताओ का यह कर्त्तव्य होगा कि वे समस्त शान्तिमय और वैध उपायो द्वारा दलित वर्ग पर लादी गयी समस्त सामाजिक अयोग्यताओ और मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध के निवारण के लिए शीघ्र प्रयत्न करे।"

इस प्रस्ताव द्वारा समस्त हिन्दू-नेताओं ने यह घोषणा की कि भविष्य मे कोई भी हिन्दू अपने जन्म के कारण अछूत न माना जायेगा और साथ ही इस प्रस्ताव के दूसरे भाग द्वारा यह निश्चय किया गया कि दलित वर्ग पर जो सामाजिक प्रतिबन्ध तथा मन्दिर-प्रवेश के सबध मे जो रुकावट है, उसे 'शान्तिमय तथा वैध' उपायों द्वारा शीघ्र दूर करने का प्रयत्न किया जाये। शान्तिमय तथा वैध उपायो के अन्तर्गत धारा-सभा द्वारा कानून-निर्माण भी शामिल है। इस प्रकार इन अयोग्यताओं के निवारण तथा मन्दिर-प्रवेश की सुविधा देने के लिए केन्द्रीय धारा-सभा तथा प्रान्तीय धारा-सभाओ का उपयोग किया जाना उचित है।

'हरिजन' नाम देकर हरिजन-सेवा, आदि देशव्यापी आन्दोलन के सूत्रधार महात्मा गाधी है।

'हरिजन-सेवक-सघ' नाम की एक अखिल भारतीय सस्था का कार्य ही इन अधिकार-वचित हिन्दुओ की तरह-तरह से सेवा करना तथा छुआछूत को मिटाना है, इसकी शाखाओं के रूप मे प्रत्येक प्रान्त मे हरिजन सेवक सस्थाएँ कार्य कर रही है।

मुस्लिम जीवन

हिन्दू और मुस्लिम सामाजिक जीवन मे स्पष्ट अन्तर दिखायी देता है। मुसलमानों की आदर्श समाज-व्यवस्था का मूलाधार सामाजिक एकता की भावना है। मुस्लिम समाज मे प्रत्येक मुसलमान बराबर है। यद्यपि मुसलमानो मे हिन्दू-समाज-जैसी ३००० से भी ऊपर जातियाँ और अगणित उपजातियाँ नही है, तोभी मुसलमानो मे शिया और सुन्नी दो बड़े सम्प्रदाय है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक सम्प्रदाय और जातियाँ है। उत्तराधिकार, विरासत, वसीयत, विवाह, वक्फ आदि के सबध में

मुसलमानों की व्यवस्था मुसलिम-कानून के अनुसार होती है। मुसलमानो में हिन्दू सयुक्तकुटुम्ब-प्रथा जैसी कोई सस्था नही है। सम्मिलित रहने से वे सम्मिलित कुटुम्ब नही कहला सकते।

उत्तराधिकार

मुसलमानो मे दो सम्प्रदाय प्रमुख है और उन दोनो के कानून भी भिन्न-भिन्न है। हनाफी-कानून (सुन्नी-कानून) के अन्तर्गत उत्तराधिकारी तीन श्रेणियो मे विभाजित है। प्रथम श्रेणी के उत्तराधिकारियो के हिस्से कानून द्वारा निर्धारित है जो निम्न प्रकार है--

(१) पिता (२) पितामह (३) पति (४) पत्नी (५) मा (६) पितामही (७) पुत्री (८) पौत्री (९) सहोदर भ्राता (१०) सहोदर वहन इत्यादि।

इन सबके हिस्से निर्धारित है। इनको देने के वाद दूसरी श्रेणी के उत्तराधिकारियो को हिस्सा मिलता है। पुत्र और पौत्र दूसरी श्रेणी मे आते है। परन्तु व्यवस्था इसप्रकार की गयी है कि पुत्र व पौत्रो के लिए काफी हिस्सा वच रहता है। शिया-कानून के अनुसार उत्तराधिकारियों को ३ भागों मे वाँटा गया है--प्रथम श्रेणी मे रक्त-सम्वन्ध रखनेवाले वारिस आते है जैसे माता-पिता और उनकी सन्तान, पितामह और पितामही तथा भाई और वहन और उनकी सन्तान, चाचा तथा मामा और उनकी सन्तान, पितामह और पितामही तथा भाई और वहन और उनकी सन्तान, चाचा तथा मामा और उनकी सन्तान; पति-पत्नी विवाह-सम्वन्ध से उत्तराधिकारी है। मुसलमानो का उत्तराधिकार कानून इतना जटिल और पेचीदा है कि उसे समझना एक समस्या है।

सम्पत्याधिकार की दृष्टि से मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति हिन्दू-महिलाओ से कही उत्तम और श्रेष्ठ है। मुस्लिम महिलाओ को अपने हिस्से पर पूर्ण अधिकार होता है। मुसलमान अपनी सम्पत्ति को वसीयत में भी दे सकता है। परन्तु किसी वारिस के नाम वसीयत उस समय तक वैध नही मानी जाती जवतक कि वसीयत करनेवाले की मृत्यु के वाद

दूसरे वारिस अपनी सम्मति न देदे। मुसलमान एक तिहाई से अधिक सम्पत्ति वसीयत द्वारा नही दे सकता। यह एक-तिहाई भाग क्रिया-कर्म के खर्च तथा कर्ज को अदा करने के वाद जो बचे उसका हिस्सा माना जाता है। मुसलमान को अपनी सम्पत्ति दान करने का अधिकार है। वह अपनी सारी सम्पत्ति अपने वारिस को भी दान कर सकता है।

विवाह

विवाह को मुसलमानों मे धार्मिक संस्कार नही माना जाता। वह केवल एक समझौता है जिसका उद्देश्य सन्तानोत्पादन और बच्चों को कानूनी अधिकार-युक्त वनाना है। मुसलमानों मे विवाह १५ वर्ष की आयु मे किया जा सकता है। परन्तु यदि किसीका विवाह उसकी सम्मति के विना किया जाये और विवाह के समय उसकी उम्र १५ वर्ष की हो तथा दिमाग भी सही हो, तो ऐसा विवाह अवैध होगा। विवाह के लिए एक पक्ष की ओर से प्रस्ताव होना चाहिए और दूसरे पक्ष द्वारा उसे स्वीकृति दी जानी चाहिए। यह कार्य दो साक्षियो के सामने होना चाहिए। प्रस्ताव और उसकी मंजूरी एक ही मिलन मे होनी चाहिए। यदि प्रस्ताव एक बार किया गया हो और उसकी स्वीकृति एक या दो दिन बाद दी जाये तो यह उचित नही। विवाह के लिए किसी प्रकार के धार्मिक या सामाजिक कृत्य की आवश्यकता नही है। एक मुसलमान एक समय में एक साथ चार पत्नियाँ तक रख सकता है। मुसलमान अपनी मा, माता-मही, पुत्री, पौत्री, प्रपौत्री, बहन, चाची तथा मामी के साथ विवाह नही कर सकता। वह अपनी सास, अपनी पत्नी की पुत्री, अपने पिता की स्त्री या अपने पुत्र की वधू से भी विवाह नही कर सकता। परन्तु दो भाइयो या वहनो की सन्तानों मे परस्पर विवाह हो सकता है।

शिया-कानून दो प्रकार के विवाहो को स्वीकार करता है, एक स्थायी और दूसरा अस्थायी। एक मुसलमान पुरुष मुस्लिम, ईसाई, यहूदी या पारसी स्त्री के साथ अस्थायी विवाह कर सकता है। परन्तु शिया स्त्री किसी गैर-मुस्लिम पुरुष से अस्थायी विवाह नही कर सकती। यह अस्थायी विवाह क्या है ? अस्थायी विवाह के लिए यह जरूरी है कि

सहगमन की अवधि नियत करदी जाये—यह एक दिन, एक मास या एक साल या अधिक समय के लिए हो सकती है और दूसरी बात यह है कि महर निर्धारित कर दिया जाये। जबतक महर निर्धारित नही किया जाये तब तक अस्थायी विवाह वैध नही हो सकता।

प्रत्येक मुस्लिम स्त्री को विवाह के समय निर्धारित दहेज (Dower) वर की ओर से भेंट किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है। एक तो सुहागरात से पूर्व देना होता है और दूसरा तलाक या मृत्यु के समय उसके वारिस को देना पडता है।

तलाक़

मुसलमानो में तलाक की प्रथा है। विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद तीन प्रकार से हो सकता है—

(१) पति-द्वारा अपनी इच्छानुसार,

(२) पति-पत्नी की परस्पर सम्मति से,

(३) पति या पत्नी की प्रार्थना पर न्यायालय के निर्णय से।

मुस्लिम पति को जिसका दिमाग सही है तथा जिसकी उम्र १५ साल की है अपनी पत्नी को अपनी इच्छा से बिना कोई कारण बतलाये तलाक देने का अधिकार है।[१] यह वास्तव में स्वेच्छा की पराकाष्ठा है।

पति-पत्नी परस्पर सम्मति से तलाक दे सकते है। परन्तु पत्नी को अपनी ओर से तलाक देने का अधिकार केवल निम्न-लिखित दशाओ में ही प्राप्त है। वे दशाएँ निम्न प्रकार है—

(१) पति की नपुंसकता, परन्तु नपुंसकता विवाह के समय होनी चाहिए और उसके बाद भी बराबर रही हो और तब उसे उसका ज्ञान न हो।

(२) यदि पति ने पत्नी पर व्यभिचार का मिथ्या दोषारोपण किया हो।

---

१. मुल्ला 'प्रिंसिपिल्स ऑव मुहम्मडन लॉ' पृ० २०२

मुस्लिम स्त्री केवल उपर्युक्त दो आधारो पर ही तलाक के लिए न्यायालय से प्रार्थना कर सकती है।

यदि उसका पति व्यभिचार करता है, उपपत्नी रखता है, या उसकी परवरिश नही करता है, तो भी पत्नी के लिए विवाह-सम्बन्ध को तोडने का अधिकार नही है। इस सम्बन्ध मे मुस्लिम स्त्री का भाग्य ऐसा नही है कि हिन्दू महिला उससे ईर्ष्या करे।

मुस्लिम महिलाओ मे परदे की बडी भयकर कुप्रथा है। इस परदे की प्रथा ने स्त्रियो को विलास की सामग्री बना दिया है। परदे की प्रथा के कारण न स्त्रियों मे शिक्षा का प्रचार व प्रसार हो सकता है और न वे सामाजिक या राजनीतिक आन्दोलन मे पुरुषो का हाथ बँटा सकती है।

विवाहों के अवसरों पर दहेजों का रिवाज भी मुसलमानो मे बहुत अधिक है।

मुसलमानो मे हिन्दू-समाज की तरह जाति-भेद भी है। जो लोग मुसलमान बनाये जाते है, वे अक्सर हिन्दुओ के दलितवर्ग के व्यक्ति ही होते है। वे मुसलमान होकर भी मुस्लिम-समाज मे 'दलित' ही बने रहते है। उनके साथ समानता का व्यवहार नही किया जाता।

ईसाई, पारसी आदि जीवनो का यद्यपि भारतवर्ष मे अस्तित्व है, जिसका परिचय धार्मिक जीवन में दिया गया है। पर उनका भारतीय सस्कृति मे कोई विशेष स्थान नही है।

: १३ :

नागरिकों का स्वास्थ्य

सुखपूर्वक जीवनयापन के लिए स्वास्थ्य अत्यन्त आवश्यक है। यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि 'स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास होता है।' हममे से प्रत्येक अपने अनुभव से यह जानता है कि यदि हमारे शरीर मे कोई कष्ट और पीडा हो तो उसका हमारे चित्त और मस्तिष्क पर भी प्रभाव पडता है, वह खिन्न और दुखी रहता है।

भारतवर्ष मे जनता मे स्वास्थ्य के प्रति वडी उपेक्षा की भावना देखी जाती है। जनता सुन्दर स्वास्थ्य का न मूल्य समझती है और न आवश्यकता। फिर उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करना तो दूर रहा। यही कारण है कि हमारे देश में जन्म और मृत्यु की औसत संख्या अन्य देशो से बहुत वढी-चढी है। वाल-मृत्यु तथा प्रसूताओ की भीषण मृत्यु-सख्या वडी भयानक है और हृदय को कँपा देनेवाली है।

स्त्री-पुरुषों की मृत्यु संख्या का अनुपात

मृत्यु-सख्या का अनुपात प्रति १०० जन्म इस प्रकार है—

आयु	वालक	वालिकाएँ
०	२४८७	२०२१
१	९१८	८६५
२	५६४	५०६
३	३९२	३४०
४	२७८	२३३
५	१९३	१६५
६	१४५	१२५
७	११५	१०१
८	९४	८८
९	८३	८२

भारत की मृत्यु-संख्या (आयु के अनुसार अनुपात)

आयु	प्रतिशत बालक	प्रतिशत बालिकाएँ
१०	७९	८१
११	८१	८४
१२	८४	८८
१३	८८	.९३
१४	९३	१.०२
१५	९८	१.१५
१६	१०४	१३०
१७	११०	१.४०
१८	११६	१५६
१९	१२१	१६६
२०	१.२७	१७६

दूसरे देशो की तरह भारत में भी बालक बालिकाओ से अधिक पैदा होते है। अर्थात् भारत में वालिकाओ की प्रतिशत जन-सख्या के लिए वालको की जन-सख्या १०८ है। इगलैण्ड मे वालकों की ऐसी जन-सख्या १०५ है। इसी कारण ९ वर्ष की आयु के भीतर वालको की मृत्यु-सख्या का अनुपात वालिकाओ की मृत्यु-सख्या के अनुपात से अधिक रहता है।

परतु १० वर्ष की आयु से बालिकाओ की प्रतिशत मृत्यु-सख्या एकदम बढ जाती है और बालको की प्रतिशत मृत्यु-सख्या से आगे निकल जाती है।

भारतवर्ष मे ५५ वर्ष की आयु के वाद पुरुषों मे स्त्रियो की अपेक्षा मृत्यु-सख्या अधिक होती है। यूरोप में भी यही वात है। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ दीर्घजीवी होती है। ग्रेट-ब्रिटेन मे ८० वर्ष से ऊपर की आयुवाले मनुष्यो मे पुरुषों से स्त्रियाँ दोगुनी है। सन् १९३२ मे १०० वर्ष के ऊपर आयुवाले १८ मनुष्य मरे। इनमें केवल ३ ही पुरुष थे; शेष स्त्रियाँ थी।

सन्	जन्म	अनुपात प्रति १०००	मृत्यु	अनुपात प्रति १०००
१९३१	९१,३५,८९०	३४.३	६५,१५,०९९	२४.९०
१९३२	९०,५४,५०६	६४ ७८	५८,०५,६६९	२१.८५
१९३३	९६,७८,८७६	३६ ४३	६०,९६,७८७	२२ ९५
१९३४	८२,८८,८९७	३३.७	६८,५६,२४४	२३ ००
१९३५	९६,९८,७९४	३४ ९	६५,७८,७११	२३ ६

उपर्युक्त १० वर्ष की मृत्यु और जन-सख्या के अकों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत मे जन्म और मृत्यु-सख्या मे क्रमोन्नति होती रही ह।

सन् १९३० की जनगणना के अनुसार भारत में प्रति १००० जन्म के पीछे १८० ८३ बालको-बालिकाओ की मृत्यु का अनुपात है। इन दस वर्षो में इसमें कोई सुधार नही हुआ। भारत मे बाल-मृत्यु अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही अधिक है। नगरों मे और विशेषत बड़े-बड़े नगरो मे मृत्यु का अनुपात तो और भी अधिक है। ५ वर्ष तक की आयु के बालको की मृत्यु सख्या एक लाख जन्म पीछे ४५ हजार है।

भारत की जन-संख्या में वृद्धि

भारत की जन-सख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जारही है। जन-सख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में निम्नलिखित अकों से इस वृद्धि का अनुपात ज्ञात हो जायेगा:—

सन्	भारत की जन-सख्या	वृद्धि की सख्या
१८९१	२८,७३,१४,६७१	
१९००	२९,४३,६१,०५६	+ ७०,४६,३८५
१९११	३१,५१,५६,३९६	+ २,०७,९५,३४०
१९२१	३१,८९,८२,४८०	+ ३८,३६,०८४
१९३१	३५,२८,३७,७७८	+ ३,३८,५५,२९८

इस वर्ष (१९४१ में) जो मनुष्य-गणना हुई है, उसके अनुसार भारत की जन-सख्या प्राय. ४० करोड हो गयी है। इस प्रकार १०

वर्षों मे प्रायः ५ करोड़ जन-सख्या की वृद्धि हुई।

जन-सख्या मे यह वृद्धि वास्तव मे एक बड़ी विकट समस्या है। भारत में भीषण दरिद्रता की छाया मे जनता की सख्या मे वृद्धि वास्तव में एक ऐसी समस्या है जो समाज-शास्त्रियो के लिए एक आश्चर्य है। भारत में इतने भीषण रोगों, भयकर बीमारियो तथा बालमृत्यु-सख्या के बावजूद भी यहाँ सख्या बढती जारही है और यदि उसी क्रम से सख्या मे वृद्धि होती रही तो इस बढती हुई सख्या के पालन-पोषण की समस्या बडा विकट रूप धारण कर लेगी।

प्रसूति-काल में मृत्यु

भारत में बहुत छोटी आयु मे विवाह होजाने से स्त्रियाँ छोटी आयु मे ही गर्भधारण करने लगती है। शारीरिक अवस्था भी गर्भधारण के पूर्णतः अयोग्य होती है इसलिए यहाँ प्रसूति-काल में ही माताएँ रोगिणी वन जाती है और शीघ्र ही मृत्यु के मुख मे चली जाती है।

बालमृत्यु सम्बन्धी अक देखने से यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि १६ वर्ष की अवस्था तक बालिकाओ की अपेक्षा बालकों की मृत्यु अधिक सख्या मे होती है। परन्तु इस आयु के बाद जब वे गर्भ-धारण करने लगती है तो उनकी मृत्युसख्या का अनुपात पुरुषो की अपेक्षा बढ जाता है। १५ से ४० वर्ष की अवस्था मे स्त्रियों की मृत्यु अधिक होती देखी गयी है। इसके कई कारण है—(१) बाल-विवाह (२) कम आयु मे शरीर की दुर्बल अवस्था मे गर्भधारण (३) प्रसूति-काल मे दुर्व्यवस्था (४) स्वच्छ वायु, प्रकाश और स्थान का अभाव (४) पौष्टिक भोजन का अभाव।

प्रसूति-काल मे माताओ की मृत्यु के सम्बन्ध में १९३२ मे सर जान मिगाड ने जाँच की थी। उनके अनुसार प्रसूताओ की मृत्यु के अक १७५ प्रति हजार है।

उनका कथन है कि १००० बालिका माताओं में १०० माताओ की मृत्यु तो प्रसूति-काल मे ही हो जाती है और भारतवर्ष भर में

लगभग २ लाख माताएँ प्रतिवर्ष बच्चो के जन्म होने के समय प्रसूति-गृह मे मर जाती है ।

सन् १९३८-३९ में कलकत्ता मे अखिल भारतवर्षीय सार्वजनिक स्वास्थ्य सस्था (All India Institute of Hygiene and Public Health) की ओर से एक साल तक प्रसूताओ की मृत्यु के सम्बन्ध मे जाँच-पडताल की गयी थी। ८८७ प्रसूताओ की मृत्यु के कारणो की जाँच की गयी। इनमे से ७०१ प्रसूताओ की मृत्यु का कारण प्रत्यक्ष रूप से गर्भ-धारण सम्बन्धी था और १८६ प्रसूताओं की मृत्यु का कारण वे रोग थे जो गर्भधारण से सम्बन्ध रखते है। प्रसूताओ मे रक्त का अभाव, विषमय गर्भपात, प्रसूति सम्बन्धी विषाक्रमण और प्रसूति के बाद यक्ष्मा का आक्रमण ही प्रमुख कारण है जो उनकी मृत्यु के लिए उत्तरदायी है। इनमे ४०% मृत्यु-सख्या का कारण यक्ष्मा था। और २३.०% मृत्यु-सख्या का कारण रक्त का अभाव था।

जीवन-काल का औसत

ससार के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध देशो का आयु का औसत (वर्षों में) इस प्रकार है—

सन्	देश	पुरुष	स्त्री
१९३१	भारत	२६ ९१	२६ ५६
१९२६	जर्मनी	५५ ९७	५८ ८२
१९२३	फ्रास	५२ १९	५५ ८७
१९२२	ग्रेट-ब्रिटेन	५५ ६२	५९ ५८
१९२२	इटली	४९ २५	५० ३५
१९२७	रूस	४१ ९३	४६.७३
१९२२	जापान	४२ ०६	४३.२०
१९२५	स्वीडन	६० ७२	६२ ९५
१९००	बेलजियम	४५ ३५	४८ ८५

भारत मे औसत आयु २६ वर्ष है। परन्तु जर्मनी और इग्लैण्ड में ५५

वर्ष से भी अधिक औसत आयु है। कितना महान् अन्तर है! 'जीवेम शरद शतम्' का सायं-प्रातः पाठ करनेवाली आर्य-सन्तति का यह पतन कितना भयावह है।

सन् १९३१ मे भारत मे प्रान्तो के अनुसार औसत-आयु इस प्रकार है—

प्रान्त	स्त्री	पुरुष
बगाल	२४ ९१	२४ २१
बम्बई	२७.८४	२६.३७
मद्रास	२८ ७१	३०.०४
पजाब	२८ ०५	२६ ५७
सयुक्तप्रान्त	२४.५६	२५.०९
बिहार-उडीसा	२८ ८८	२६ ९०
मध्यप्रान्त	२८ १०	२८.२१

संक्रामक रोगों की वृद्धि और भीषणता

भारतवर्ष में मलेरिया, हैजा, इन्फ्लुएजा, चेचक, मोतीझरा, प्लेग तथा यक्ष्मा आदि भयकर सक्रामक रोगों की दिन पर दिन वृद्धि हो रही है। सरकार की ओर से अभीतक इन रोगो के निवारण के लिए कोई प्रभावशाली कार्यक्रम बनाकर काम नही किया गया। प्रतिवर्ष मलेरिया से भारतवासी सबसे बडी संख्या मे मर जाते है; परन्तु अभी तक उसके प्रतिकार का कोई उपाय नही किया गया। आजकल राजयक्ष्मा रोग भारतीय ग्रामो और नगरों मे बडे व्यापक रूप मे फैल रहा है। इस रोग की दिन पर दिन वृद्धि के कारण केवल मृत्यु की सख्या मे ही वृद्धि नही होती बल्कि यह महा भयानक रोग सार्वजनिक स्वास्थ्य का बडा घातक भी बन रहा है।

सन् १९३५ की जन-गणना के अको के अनुसार समस्त ब्रिटिश भारत में ६५,७८,७११ स्त्री-पुरुष तथा बच्चे प्रतिवर्ष मरे और उसका ब्योरा इस प्रकार है.—

चेचक से	९०,७०३
प्लेग से	३२,०९१
पेचिश और संग्रहणी से	२७८,८८३
हैजे से	२१७,१६२
शीत से उत्पन्न फुप्फुस-सम्बन्धी रोगो से	४८२,८७०
बुखार से	३,७५४,७५१
अन्य रोगो से	१,७२२,३११

भारतवर्ष में राजयक्ष्मा रोग भीषण रूप धारण करता जा रहा है। सरकार भी उसकी भीषणता का अनुभव करने लगी है और लेडी लिनलिथगो ने आन्दोलन करके राजयक्ष्मा के प्रतिकार के लिए (King Emperor's Anti-Tuberculosis Fund) कोष स्थापित किया है जिसमें कई लाख रुपये जमा हो चुके है। इस कोष के धन से भारत भर मे आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार राजयक्ष्मा के रोगियों के लिए चिकित्सालय व स्वास्थ्यशालाएँ बनाई जायेंगी। भारत में इस रोग से ५ लाख व्यक्ति मर जाते है। यह रोग सब रोगो से भयकर, घातक और सार्वजनिक स्वास्थ्य का महान् शत्रु है। हैजा, प्लेग आदि तो कभी-कभी प्रकोप करते है और कुछ समय के बाद शान्त भी हो जाते है, परन्तु यक्ष्मा रोग तो जिस गृह मे एक बार उसके किसी सदस्य पर आक्रमण करता है, उस गृह का ही सर्वनाश नही करता प्रत्युत पडोसियो के लिए भी घातक सिद्ध हो जाता है। समाज के—गृह के सबसे उपयोगी और स्वस्थ लोगो पर इसका प्रभाव अधिक होता है। युवक, युवती स्त्रियो, विद्यार्थियो तथा माताओं पर यह भयकर रोग अपना बडा घातक आक्रमण करता है।

भारत के अपाहिज

भारत मे दूसरे देशो की अपेक्षा अपाहिजो की भी सख्या बहुत अधिक है। अपाहिजो में पागल, गूंगे-बहरे, अधे और कोढी सम्मिलित है। सन् १९३१ की जन-गणना के अनुसार समस्त भारत में—

पागल	१,२०,३०४
गूंगे-बहरे	२,३०,८९५
कोढी	१,४७,९११
अधे	६,०१,३७०

इस प्रकार कुल ११ लाख अपाहिज थे। यदि इन सब अपाहिजो को इकट्ठा किया जाये तो कलकत्ते के बराबर नगर बस जायेगा, जो ब्रिटिश साम्राज्य मे लन्दन के बाद दूसरा विशाल नगर है। इससे आप अनुमान लगा सकते है कि अपाहिज कितने अधिक है।

अस्वास्थ्य के कारण

भारतवर्ष मे अस्वास्थ्य के निम्नलिखित कारण देखने मे आये है—

जल-वायु का प्रभाव—भारतवर्ष के अनेक भागों की जल-वायु स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त और अनुकूल नही है। अनेक भागो मे वर्षा की अधिकता के कारण मच्छर आदि रोगों के जीवाणु अधिक पैदा होजाते है जिनसे रोगों मे वृद्धि होजाती है। भारत के अधिकाश भाग में गरमी अधिक पडती है और उसका भी स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है। जो लोग पञ्जाब तथा सीमाप्रात और पहाडी प्रदेशों मे रहते है, उनका स्वास्थ्य उत्तम है, पर जो बगाल तथा मद्रास प्रान्तो मे रहते है, वे अस्वस्थ और शरीर से अत्यन्त दुर्बल है।

स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमो के प्रति अवहेलना—भारतवासियो मे और विशेषत अशिक्षित तथा गरीब जातियो मे स्वास्थ्य-रक्षा के नियमो का पालन नही किया जाता। शारीरिक स्वास्थ्य तथा गृह और आस-पास के वातावरण को शुद्ध रखने की ओर नागरिको का ध्यान बिल्कुल नही है। भारत मे सक्रामक रोगो का प्रकोप जो प्रतिवर्ष भयकर रूप मे होता है और जिसमे लाखो मनुष्य मर जाते है, उसकी वृद्धि का कारण भी जनता का अज्ञान है। ग्रामो और नगरों मे ऐसे लोगो की सख्या सबसे अधिक है जो रोगो के कीटाणुओ के सिद्धान्त मे विश्वास नही करते। इसी कारण वे छूतछात का भी ध्यान नही रखते। स्वास्थ्य तथा

सफाई के नियमो के ज्ञान के अभाव मे उनके पालन की आशा करना व्यर्थ है। भारतवर्ष मे स्वास्थ्य तथा सफाई के नियमो के प्रचार तथा नागरिको-द्वारा उनके पालन करने की वडी आवश्यकता है।

नागरिक भावना का अभाव—इसके अतिरिक्त जनता मे नागरिक-भावना (Civic Sense) का भी वडा अभाव है। गृह-देवियाँ अपने मकान की सफाई करके कूडा-कर्कट, गोवर, पाखाना, कीचड या मैला पानी, लापरवाही के साथ अपने द्वार के सामने विखेर देती है। वे इतना सोचने का कष्ट नही उठाती कि यह कूडा कर्कट पडा रहकर कितनी घातक दुर्गन्ध पैदा करता है और रोग के कीटाणुओ को पैदा करता है। स्वच्छता वनाये रखना मुहल्ले के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। इस कूडे-कचरे को कुत्ते, विल्ली, पशु-पक्षी (जैसे मुर्गियाँ, यदि मुहल्ले मे ईसाई या मुसलमानो के घर हो) तितर-वितर करके और भी गदगी वढा देते है। घर के पास ही वच्चे पाखाना फिरते देखे जाते है। रेलवे के डिब्बे तक में इतनी अधिक गन्दगी होती है कि वहाँ बैठना कभी-कभी नरक-यात्रा से कम नही होता। यात्री लोग अपनी सीट पर वठे-बैठे ही हाथ-मुह धोकर पानी रेल के डिब्बे मे ही छोड देते है, पान की पीक से फर्श को गदा कर देते है और थूकना तो साधारण-सी वात है। रेल के डिब्बे मे जो शौचालय होता है, वह भी गदा रहता है और इसके लिए यात्रा करने-वाले नागरिक ही जिम्मेदार है। यह उनकी स्वास्थ्य के प्रति उपेक्षा पर एक खेदजनक आलोचना है कि वे इन शौचालयो का भी ठीक तरह से प्रयोग करना नही जानते।

मेलो, उत्सवो, सम्मेलनो या विवाहादि के समारोहो के समय तो और भी अधिक गन्दगी के दर्शन होते है। भारत मे जव हैजा या इन्फ्लुएजा शुरू होता है, तव उसका श्रीगणेश हरिद्वार के कुम्भ, इलाहा-वाद के गगा-स्नान, मथुरा के मेलों तथा गढमुक्तेश्वर के स्नान के मेलों से ही होता है। ऐसे अवसरो पर लोग चाहे जिस स्थान पर मल-मूत्र का त्याग करते है और ये मल-मूत्र और विशेपत हैजा के रोगियों के मल-वमन आदि के कीटाणु खाद्य पदार्थो मे मिलकर स्वस्थ लोगों

के पेट मे जाते है तो उन्हे भी हैजा होजाता है।

प्रत्येक व्यक्ति जहाँ अपने शरीर, वस्त्र, गृह आदि की शुद्धता और सफाई रखे, वहाँ उसका यह भी कर्तव्य है कि वह अपने पड़ोस तथा वस्ती या ग्राम की सफाई तथा स्वास्थ्य के लिए नियमों का पालन करे।

भय और अंध-विश्वास—भारतवासियो के अस्वास्थ्य का एक छिपा रहस्य है धार्मिक अध-विश्वास तथा मिथ्या भय। मनुष्य में ही क्या प्रत्येक प्राणी मे आत्म-रक्षा तथा स्वजाति-रक्षा की प्रबल भावना है। इसी कारण उसमे भय का भी भाव है। मनुष्य अपनी तथा स्वजाति की रक्षा के लिए अनेक जानवरों व चीजों से भयभीत रहता है—साप, बिच्छू, शेर, बिजली आदि।

यह ठीक है और आत्म-रक्षा के लिए ऐसी खतरनाक चीजों तथा जीवो से अपनी रक्षा करना बुद्धिमानी है। परन्तु अज्ञान-वश लोग ऐसे कल्पित भय के शिकार बने रहते है कि जिनका इस जगत् मे कोई अस्तित्व नही। भूत, चुडैल, देवी, देवता, कालो, भवानी आदि ऐसे कल्पित जीव है जिनकी स्वार्थी लोगो ने अपनी जीविका के हेतु कल्पना करली है। इस प्रकार के अज्ञान से लोग किसी भयकर बीमारी से आक्रान्त होजाने पर देवी-देवता की, भूत-प्रेत की पूजा करते है—जात (यात्रा) को जाते है और देवता को मनाने के लिए न जाने क्या-क्या मूर्खता पूर्ण दुष्कर्म करते है। परन्तु अज्ञान के कारण उन्हें यह पता नही चलता कि ये सब मिथ्या पाखण्ड है। इस प्रकार भूत-प्रेतो की पूजा मे लगकर न रोगी के रोग की चिकित्सा करायी जाती है और न उसे किसी डाक्टर या वैद्य को दिखाया जाता है। फलत असावधानी के कारण उसकी मृत्यु होजाती है। नवयुवती स्त्रियो मे कामोन्माद के कारण हिस्टीरिया रोग का आक्रमण होजाता है। मूर्खा स्त्रियाँ समझती है कि यह चुडैल का चक्कर है और फिर उसका उपचार करती है।

(१) प्रसव-क्रिया का अवैज्ञानिक ढंग

माताओ और बालको की मृत्यु सख्या मे वृद्धि का मूलकारण है

गर्भवती स्त्रियो का गिरा हुआ स्वास्थ्य तथा मूर्खा दाइयों-द्वारा प्रसव क्रिया का सम्पादन। बच्चे जनाने का काम ग्रामो और नगरो में अशिक्षित तथा गँवार दाइयों द्वारा किया जाता है। वे अपने स्वास्थ्य के नियमों के प्रति अज्ञान के कारण प्रसव के समय शुद्धि का ध्यान नही रखती। फलत' प्रसूत-काल मे स्त्री के गर्भाशय मे विप का सचार होजाता है। इस प्रकार प्रसूताएँ रोगी होकर मर जाती है। इस ओर कई प्रान्तो की सरकारों ने म्युनिसिपल बार्डो-द्वारा शिक्षित धात्रियों (Midwives) तथा परिचारिकाओ (Nurses) की व्यवस्था करदी है जो विना किसी फीस के प्रसव-क्रिया का सम्पादन करती हैं। प्रत्येक बड़े नगर में स्वास्थ्य-केन्द्र तथा प्रसूता-केन्द्र (Maternity Centers) खुल गये है, तो भी इस दिशा में अभी बहुत-कुछ करने की जरूरत है। ग्रामो मे भी ऐसी ही व्यवस्था हो जानी चाहिए।

(२) परदा-प्रथा

भारतवर्ष के सयुक्तप्रान्त, बिहार, राजस्थान, मध्य- भारत तथा उडीसा और कुछ देशी राज्यो में मुसलमानो तथा हिन्दुओ में परदे की बड़ी बुरी प्रथा आज भी प्रचलित है। बगाल, पजाब मद्रास, बम्बई, आसाम तथा महाराष्ट्र आदि प्रान्तो में स्त्रियो में परदे का बिल्कुल रिवाज नही है। भारत में परदे के कारण स्त्रियो को हर समय घर की जेल में बन्द रहना पडता है। वे न शुद्ध हवा पा सकती है और न टहलकर अपने स्वास्थ्य को सुधार सकती है। परदे के विरुद्ध जबसे आन्दोलन छिडा है और जबसे राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकडा है तबसे इस दिशा में कुछ सुधार हुआ भी है। प्रसन्नता की बात है कि शिक्षित समाज मे से परदा विदा होता जा रहा है।

(३) शुद्ध तथा पौष्टिक खाद्य-पदार्थों का अभाव

अस्वास्थ्य का एक बडा प्रमुख कारण है शुद्ध खाद्य-पदार्थो का अभाव। आजकल के बाजार में प्राय कोई भी खाद्य वस्तु शुद्ध रूप में नही

मिलती। आटा, चावल, दाल आदि सड़े-गले मिलते है। मिठाइयाँ मिलावट के घी की, या खराब तेल की होती है और दूध आदि तरल पदार्थ शुद्ध नही मिलते। जब राष्ट्र के नागरिकों को ये शुद्ध पौष्टिक पदार्थ खाने के लिए न मिलेगे तो फिर उनका स्वास्थ्य अच्छा कैसे बनेगा ? म्युनिसिपलबोर्डो तथा जिलाबोर्डो की ओर से शुद्ध-भोजन मे मिलावट के विरुद्ध कानून चलाये गये है, परन्तु कर्मचारियो और अधिकारियो की उपेक्षा तथा अवहेलना के कारण इनका ठीक-ठीक पालन नही हो रहा है।

(४) असयत-जीवन तथा मादक-द्रव्यों का प्रयोग

भारतवर्ष मे जीवन को सदाचारी बनाने की ओर दूसरे देशो की अपेक्षा जितना ही अधिक उपदेश दिया जाता है उतना ही कम उस पर आचरण किया जाता है। समाज मे व्यभिचार,गुप्त व्यभिचार,बलात्कार तथा वेश्या-वृत्ति का चक्र समूचे समाज के स्वास्थ्य के लिए घातक सिद्ध हो रहा है। भारत मे बढती हुई दुष्कृतियाँ तथा अपराध इसका स्पष्ट प्रमाण है। रहा-सहा स्वास्थ्य मादक-द्रव्यो के प्रयोग द्वारा नष्ट हो रहा है। भारत के नगरों मे मिल और कारखानो के पास ही मादक-द्रव्यो की दूकाने है जिन्हे सरकार का सरक्षण प्राप्त है। मजदूर लोग ८—१० घण्टे काम करने के बाद अपनी थकावट मिटानें को शराब, ताडी या अफीम आदि का सेवन करते है। सन् १९३७ में जब ७ प्रान्तों मे काग्रेस ने मन्त्रित्व-पद-ग्रहण किया, तब महात्मा गाधी की प्रेरणा तथा आदेश से काग्रेस मन्त्रियो ने अपने-अपने प्रान्तो मे मादक-द्रव्यो के निषेध (Prohibition) के लिए उद्योग किया था। और मद्रास, बम्बई, सयुक्त प्रान्त, बिहार उडीसा, व मध्यप्रदेश मे शराबबन्दी कुछ चुने हुए विशेष जिलो व नगरो मे की गयी थी।

महात्माजी का यह कार्यक्रम था कि ३ वर्षो मे समस्त देश मे पूर्ण रूप से शराबबन्दी हो जायेगी; परन्तु नवम्बर १९३९ मे युद्ध के कारण काग्रेसी मन्त्री-मण्डलो ने पद-त्याग कर दिया और यह कार्य आगे न बढ सका। वर्त्तमान सरकार उसी पुराने कार्य को उसी मर्यादा मे कर

रही है। वम्बई की हाईकोर्ट की ओर से जबसे यह निर्णय हुआ है कि शरावबन्दी की व्यवस्था अवैध है, तबसे वम्बई नगर मे पुनः मद्य निषेध व्यवस्था भग हो गयी है।

(५) अस्वास्थ्यप्रद मकान

ग्रामो और नगरो में मकानो का निर्माण वहुत ही अवैज्ञानिक ढग से किया जाता है। सम्पत्तिशाली शिक्षित वर्ग के लोग और वम्वई, कलकत्ता अहमदावाद जैसे नगरो के सेठ-व्यापारी अपने आराम के लिए तो खुले स्थानो मे बँगले तथा कोठियाँ वनवाते है, परन्तु उनके कारखानो व मिलो मे काम करनेवाले मजदूरो के लिए वडी गन्दी और अस्वास्थ्यकर कोठरियाँ होती है। उन्हे ८ फीट लम्वी चौडी कोठरियो मे ४ से ८ तक की सख्या मे गुजर करनी पडती है।

नगरो के मकान एक-दूसरे से इतने सटे हुए होते है कि उनमे शुद्ध हवा और प्रकाश का प्रवेश स्वतन्त्र रूप से नही हो पाता।

(६) आर्थिक दुर्दशा और दरिद्रता

भारतवासियो के हीन स्वास्थ्य का एक प्रधान कारण उनकी आर्थिक दुर्दशा और भयकर गरीवी तथा वेकारी भी है। जून १९४१ मे भारत-मन्त्री श्री एमरी नें पार्लमेंट में भाषण करते हुए भारत के सम्वन्ध में कहा—"भारत समृद्धिशाली है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के पास अधिक राज-कोष है...।"

परन्तु इस कथन में सचाई का लेश भी नही है। भारत की समृद्धि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारत-मत्री ने प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारो की वढती हुई आमदनी पर अपनी दृष्टि डालकर यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि भारत समृद्धिशाली है। परन्तु उन्होने नयी दिल्ली और लखनऊ, वम्वई कलकत्ता, मद्रास, लाहौर आदि नगरो के सरकारी खजानो के आदिस्रोत पर विचार करने का कष्ट नही किया।

देश की जनता की समृद्धि का पता शिमला-शैल के भव्य भवनों में

निवास करनेवाले सम्पत्ति-जीवियो से नही लग सकता। इसके लिए तो भारत के ग्रामो का भ्रमण आवश्यक है। आप किसी भी ग्राम मे चले जाइए, वहाँ आपको दरिद्रता का ताण्डव दिखयी देगा और उसके चारो ओर खडे दीखेगे रोग, चिन्ता, बेकारी, और दैन्य।

सन् १९३८ मे तत्कालीन अर्थ-मन्त्री सर जेम्स ग्रिग ने अपने बजट भाषण मे कहा था कि—'ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीय आय १६ अरब रुपये है। यदि इस कथन को सत्य मान लिया जाये तो ब्रिटिश भारत मे प्रत्येक व्यक्ति की औसत वार्षिक आमदनी ५३ रुपये ५ आने ४ पाई होती है। यदि इस आय मे से केन्द्रीय, प्रान्तीय सरकारों तथा स्थानीय बोर्डों को दिये जानेवाले टैक्सों को कम कर दिया जायें जो अनुमान से ८ रुपये ५ आने ४ पाई होते है तो प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक आमदनी ४५ रुपये पड़ती है। इस प्रकार ४ रुपये मासिक से भी कम आमदनी पडती है।[१]

क्या यह भारत की समृद्धि का प्रमाण या उसकी भीषण दरिद्रता का चित्र है ?

(७) स्वास्थ्य-विभाग की अव्यवस्था

सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा तथा सफाई की व्यवस्था का पूरा उत्तरदायित्व प्रत्येक प्रान्त की सरकार पर है। प्रत्येक प्रान्त मे एक स्वास्थ्य-विभाग होता है। इसका प्रधान अधिकारी तो मत्री होता है, परन्तु विभाग-सम्बन्धी व्यवस्था का दायित्व इडियन सिविल सर्विस के सेक्रेटरी पर रहता है। प्रत्येक प्रान्त मे स्वास्थ्य-विभाग का एक डाइरेक्टर होता है जिसके नियन्त्रण मे स्वास्थ्य-विभाग का कार्य सचालित होता है। यह विभाग अपना कार्य स्थानीय बोर्डो (चुगियो तथा जिला बोर्डो) के द्वारा सम्पादन करता है। इस विभाग के स्थानीय कर्मचारी स्थानीय

---

१ भारत-मंत्री ऐमरी के भाषण पर सर इब्राहीम रहमतुल्ला खॉ का वक्तव्य—'लीडर' (१९ जून १९४१)।

बोर्ड के नियन्त्रण मे रहते है। स्थानीय बोर्डों का शासन-प्रबन्ध वैसे ही असन्तोषजनक रहता है। इनके सदस्य तथा चेयरमैन राजनीतिक चालों का आश्रय लेकर नागरिक जीवन के साथ खिलवाड करना ही अपना मनोरजन या व्यापार समझते है।

यही कारण है कि इन बोर्डो के नियन्त्रण मे रहने के कारण स्वास्थ्य-विभाग के स्थानीय अधिकारी भी मनमाने ढग से कार्य करते है। प्रत्येक नगर मे एक हैल्थ आफीसर तथा कई सेनीटरी इन्सपैक्टर होते है। इनका यह कार्य है कि बस्तियो में भ्रमण कर सफाई की व्यवस्था करे। परन्तु देखा यह गया है कि ये अफसर वर्षो में भी किसी बस्ती मे निरीक्षण करने नही आते और न सेनीटरी इन्स्पेक्टर ही अपने कर्त्तव्यो का पालन करते है।

स्वास्थ्य-विभाग की ओर से मेहतरो के रहन-सहन तथा उनके सफाई-कार्य मे सुधार करने के लिए इस विभाग की ओर से कोई कार्य नही किया गया है। कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े नगरो में तो कुछ प्रबन्ध किया भी गया है।

स्वास्थ्य-विभाग की ओर से नगरो मे वाटिकाओ व पार्कों, स्वास्थ्य-गृहो तथा जलाशयो की व्यवस्था होनी चाहिए। परन्तु इस ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है।

स्वास्थ्य सुधार के उपाय

हमने स्वास्थ्य-हीनता के जिन कारणो पर ऊपर विचार किया है, उनके निवारण द्वारा ही स्वास्थ्य मे सुधार हो सकता है। यदि उपर्युक्त कारणों के निवारण के लिए समस्त नागरिक मिलकर स्वास्थ्य-विभाग के सहयोग से प्रयत्न करे, तो कोई कारण नही कि भारतवासियो के स्वास्थ्य में सुधार न हो सके।

: १४ :

सांस्कृतिक जीवन

शिक्षा साहित्य, भाषा और कला सस्कृति के अग है। अत भारत के सास्कृतिक जीवन पर विचार करने मे इन पर विचार करना आवश्यक है।

शिक्षा

प्राचीन काल में शिक्षा

आज सभी विद्वान् एक मत से यह स्वीकार करते है कि शिक्षा का लक्ष्य मानव की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सामजस्यपूर्ण विकास और उत्कर्ष है। आज भारत मे जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित है, उससे राष्ट्रीय आवश्यकताओ की पूर्ति नही होती। इसलिए उसके प्रति बडा असतोष पैदा हो रहा है और उसमे सुधार और सशोधन के लिए उद्योग किया जा रहा है। अत भारत मे शिक्षा पर विचार करते समय यह उपयोगी होगा कि हम अपनी प्राचीन वैदिक शिक्षा-प्रणाली का तो अवलोकन करे ही, उसकी विशिष्टताओ पर भी विचार करने का प्रयास करे।

पुराने समय मे शिक्षा का आधार आध्यात्मिक था। समस्त ज्ञान विज्ञान, कला-कौशल, साहित्य आदि का धर्म से घनिष्ट सबध था। धर्म आज-कल जैसी सासारिक जीवन से अलग देवमन्दिरो मे तीर्थों या मठो तक ही परिमित रहनेवाली चीज नही थी। धर्म सच्चे अर्थो मे सामाजिक जीवन का आधार था। उस समय गुरुकुल थे। गुरुकुल का अर्थ है आचार्य, शिक्षक या अध्यापक का परिवार। उसके सदस्य गुरुकुल के छात्र होते थे, जो 'ब्रह्मचारी' कहे जाते थे, क्योकि गुरु उन्हे 'ब्रह्म' (ज्ञान) की ओर ले जाने की साधना मे पथ-प्रदर्शन करता था। इनमें बालक और बालिकाएँ नि शुल्क शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरुकुल के सचालन मे सहयोग और आर्थिक सहायता देना गृहस्थ का पवित्र कर्तव्य होता

था। फलस्वरूप गुरुकुल आर्थिक चिन्ता से मुक्त होकर अपने आचार्यो द्वारा ब्रह्मचारियो को सम्यक् ज्ञान देते थे।

वैदिक साहित्य में आचार्य की जो महत्ता है उसका एकमात्र कारण यह है कि आचार्य ब्रह्मचारी का धर्म-पिता है; वह उसे आचार की शिक्षा देता है, उसका आध्यात्मिक सस्कार करता है। माता-पिता तो उसके शरीर का पालन पोषण मात्र ही करते है, परन्तु आचार्य के हाथ में इससे भी गुरुतर कार्य—चरित्र का निर्माण—जिसके ऊपर उसका सारा जीवन निर्भर है। चरित्र-निर्माण में शारीरिक और आत्मिक पवित्रता की साधना होती है। इस प्रकार वैदिक शिक्षा शुद्धि का समन्वय थी। अनुशासन द्वारा शरीर की शुद्धि, शिक्षण द्वारा शक्तियों की शुद्धि, ज्ञान द्वारा बुद्धि या मन की शुद्धि और ध्यान तथा मनन द्वारा आत्मा की शुद्धि।

वैदिक शिक्षा-प्रणाली मे अनुशासन पर स्वाध्याय से अधिक ध्यान दिया जाता था। सरल और तपस्वी जीवन पर आग्रह था। वैयक्तिक और सामूहिक आचार, स्वास्थ्य-सबधी तथा सामाजिक कर्तव्यो का पालन तत्परता से होता था।

प्राचीन-काल मे सार्वजनिक-शिक्षा अधिकाश मे मौखिक रूप मे हुआ करती थी, आजकल की तरह पुस्तकों द्वारा नही। धार्मिक शिक्षण द्वारा उस सार्वजनिक शिक्षा को आध्यात्मिक रग दिया गया और धर्म और कला में सामजस्य स्थापित करके सस्कृति का निर्माण हुआ। ईसा की सातवीं शताब्दी में जब विद्यापीठो, मठो और मन्दिरो द्वारा इस सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार हुआ तो उस सस्कृति का विस्तार हुआ। ग्रामो मे भी शिक्षा का खूब प्रचार हुआ। ग्राम-पाठशालाएं स्थापित की गयी। हरिकीर्तन और नाटकों द्वारा धर्म और सस्कृति का प्रसार हुआ।

स्त्रियों की शिक्षा

वैदिक काल मे और उसके बाद के युग में स्त्रियो को भी पुरुषो के बराबर ही शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार था।

वैदिक-युग मे गुरुकुलो मे धार्मिक शिक्षा पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता था; परन्तु अन्य उपयोगी विद्याओ की उपेक्षा नही की जाती थी। विज्ञान, मनोविज्ञान (योग), गणित, ज्योतिष, भौतिकशास्त्र, रसायन, चिकित्सा-शास्त्र, नृत्य, कला, संगीत आदि सभी विषयों को गुरुकुलों के पाठ्यक्रम मे स्थान प्राप्त था।

बौद्ध-काल मे तक्षशिला और नालन्दा के विश्वविद्यालय आर्य-सस्कृति के केन्द्र थे। भारत से ही नही विदेशो से लोग गणित, ज्योतिष, दर्शन और चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने आते थे। इन विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम मे निम्नलिखित विषय सम्मिलित थे—

धर्म (वेद और जातक), दर्शन (अध्यात्मशास्त्र और तर्कशास्त्र), विज्ञान (चिकित्सा तथा तन्त्र विद्या), व्याकरण, कला, धनुर्विद्या, मृगया। राजपुरुषो और लोकनेताओ के लिए अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। धर्म, विज्ञान, दर्शन की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध था।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की नीचे लिखी विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) कुटुम्ब की भावना (ब्रह्मचारी को 'कुल' का सदस्य माना गया है, और आचार्य का कर्त्तव्य उसके शारीरिक मानसिक और आत्मिक विकास के लिए पूरी व्यवस्था करना है।)

(२) समाज के प्रत्येक बालक-बालिका के लिए नि शुल्क शिक्षा, नि.शुल्क भोजन, वस्त्रादि की व्यवस्था।

(३) सब ब्रह्मचारियो के साथ समान व्यवहार और इस प्रकार उनमे सच्चे बन्धुत्व का विकास।

(४) ब्रह्मचर्य का अनिवार्यत पालन; शरीर को कष्ट-सहन का अभ्यस्त बनाना तथा तपस्या का जीवन।

(५) चरित्र-निर्माण।

'आचार्य' शब्द का अर्थ होता है आचार का आदर्श स्थापित करनेवाला शिक्षक।[1]

---

१. प्रा० सत्यव्रत : 'गुरुकुल शिक्षापद्धति।

आज जबकि भारत मे शिक्षा के पुनर्संगठन पर विचार हो रहा है वर्तमान शिक्षा के दोषो के परिहार के लिए विचार करने के साथ-साथ उसमे अपने गुणो के समावेश करने का प्रयत्न करे जो हमारी वैदिक सस्कृति की रक्षा के लिए आवश्यक है तथा जिससे राष्ट्र का भी हित हो सकता है।

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली

आज भारत में जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित है उसकी सभी शिक्षा-विज्ञो और लोकनेताओ ने घोर निंदा की है। इस प्रणाली में कई बडे दोष हैं.—पहला यह है कि वह न तो शिक्षा और जीवन म कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करती है और न जीवन की आवश्यकताओं पर ही ध्यान देती है।

यद्यपि वर्तमान शिक्षा-पद्धति के दोषो को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं, तथापि इसमे कोई इन्कार नही करता कि इसने देश की बडी सेवा की है। इस प्रणाली ने भारत में ब्रिटिश शासन को शिक्षित शासक ही प्रदान नही किये है प्रत्युत भारत में राष्ट्रीय और राजनीतिक नवचेतना और जागरण मे भी विशेष योग दिया है। नवीन शिक्षा ने भारत मे विद्वान्, वैज्ञानिक और महान् दार्शनिको को पैदा किया है जिन्होने न केवल भारत का ही मस्तक ऊंचा किया है प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय-जगत में भी अपना विशेष स्थान प्राप्त किया है। परन्तु इसका यह मतलब नही कि भारत में जो विद्वान्, वैज्ञानिक और महापुरुष हुए हैं और जो इस समय मौजूद हैं, उनके निर्माण मे केवल पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को ही श्रेय है। उनकी महानता में उनके विशिष्ट व्यक्तित्व, उच्च सस्कार और अपूर्व प्रतिभा ने भी पर्याप्त योग दिया है। फिर भी आज हम यह अनुभव करते है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में परिवर्त्तन की जरूरत है।

दूसरा यह कि इसका लक्ष्य राष्ट्रीयता से दूर है। वास्तव में इसका विकास भारत में अंग्रेजी शासको की सुविधा और शासन-सचालन के

उद्देश्य से किया गया था और इस उद्देश्य की पूर्ति मे इसने बहुत हदतक सफलता प्राप्त की है।

तीसरा यह है कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनाकर भारतीय भाषाओं के विकास और उन्नति पर ध्यान नही दिया गया। मातृभाषा में शिक्षा न होने से भी विद्यार्थियो का बहुमूल्य समय अंग्रेजी भाषा को सीखने मे व्यतीत होता है।

चौथा यह कि यह शिक्षा सैद्धान्तिक ही है, व्यावहारिक नही। इसलिए जब विद्यार्थी स्कूल या कॉलेज को छोडकर ससार मे प्रवेश करते है, तो उन्हे व्यावहारिक जीवन मे बडी असफलता का सामना करना पडता है।

पाँचवाँ और सबसे बड़ा दोष यह है कि पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली आर्यसस्कृति के विरुद्ध है। वह चरित्र-निर्माण और सदाचार की सर्वथा उपेक्षा करती है। ज्ञान-वृद्धि के लिए वह पर्याप्त सुयोग प्रदान करती है, परन्तु छात्रो की मानसिक, शारीरिक एव आत्मिक शक्तियो का सामजस्यपूर्ण विकास नही करती। वह राष्ट्रीयता एव एकता की भावना के प्रादुर्भाव के लिए भी कोई ध्यान नही देती और न छात्रों मे नागरिकता की भावना का प्रादुर्भाव ही करती है।

भारत में विश्व-विद्यालय

भारत मे सबसे पहले सन् १८५७ मे कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में तीन विश्व-विद्यालय स्थापित किये गये थे। विश्व-विद्यालय दो प्रकार के है। एक प्रकार के वे है जो अपने अन्तर्गत कालेजो की परीक्षा का प्रबन्ध करते है। उनकी ओर से कॉलेजो में शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं होता। प्रत्येक कालेज जो ऐसे विश्व-विद्यालय से सम्बन्धित होता है, उसके द्वारा निर्धारित पाठ्य-क्रम के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध करने मे स्वतन्त्र है। दूसरे प्रकार के विश्व-विद्यालय वे है जिनके अन्तर्गत कालेजो का प्रबन्ध स्वयं विश्वविद्यालय की कार्य-कारिणी कौंसिल और सीनेट के अधीन होता है। पहले प्रकार के विश्व-विद्यालयो मे आगरा, बम्बई,

कलकत्ता आदि विश्वविद्यालय हैं। दूसरे प्रकार के विश्वविद्यालयों में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और इलाहाबाद विश्वविद्यालय हैं। भारतवर्ष के विश्वविद्यालय कब-कब स्थापित हुए यह नीचे लिखी सारिणी से स्पष्ट हो जायेगा।

विश्वविद्यालय		सन्	विश्वविद्यालय		सन्
१. कलकत्ता	वि०वि०	१८५७	१० अलीगढ	मुसलिम	१९२०
२ मद्रास	,,	१८५७	११ रगून	,,	१९२०
३. बम्बई	,,	१८५७	१२ लखनऊ	,,	१९२०
४. पजाब	,,	१८८२	१३ अनमलाई	,,	१९२०
५ इलाहाबाद	,,	१८८७	१४ ढाका	,,	१९२१
६ बनारस, हिंदू	,,	१९१६	१५ दिल्ली	,,	१९२२
७ पटना	,,	१९१७	१६ नागपुर	,	१९२३
८ मैसूर	,,	१९१६	१७ आन्ध्र	,,	१९२६
९ हैदराबादउसमानिया		१९१८	१८ आगरा	,,	१९२७

इन विश्वविद्यालयो मे भाषा-साहित्य, इतिहास, राजनीति, दर्शन, मनोविज्ञान, ज्योतिष, रसायन, भूगर्भ, भौतिक-विज्ञान, व्यापार-वाणिज्य, अर्थ-शास्त्र, जीव-शास्त्र, वनस्पति-विज्ञान, चिकित्सा, इंजिनियरी, कृषि, कानून आदि की उच्चशिक्षा का प्रबन्ध है।

अन्य शिक्षा-संस्थाएँ

सन् १९३५ की भारत सरकार की शिक्षा-विभाग की रिपोर्ट के अनुसार समस्त भारत मे २ लाख ५६ हजार २६३ स्कूल तथा कालेज है। इनमें कुल १ करोड ३५ लाख ६ हजार ८६५ छात्र शिक्षा पा रहे हैं। कुल जनसख्या का ५% भाग शिक्षा पा रहा है। १९३५, के अक ये हैं—

संस्थाएँ	छात्र-संख्या	छात्रा-संख्या
कालेज	१,०९,३१५	२,४९३
हाई स्कूल	९,४८,९२२	९८,९७५
मिडिल स्कूल	११,७२,०६५	१,४६,०४२

प्राइमरी स्कूल	८६,३९,४०५	१४,५०,२६७
स्पेशल स्कूल	२,३९,१८१	१८,०९५

विविध शिक्षा-सस्थाओ पर सरकारी व्यय का अनुपात निम्न प्रकार है—

विश्वविद्यालय और कॉलेज	१४ ७%
हाई स्कूल और मिडिल स्कूल	२४ १%
प्राइमरी स्कूल	३४.३%
कन्या-शिक्षा	१३ ९%
प्रबन्ध और निरीक्षण	८ ८%

दलित जातियों में शिक्षा

दलित जातियो मे शिक्षा का अत्यन्त अभाव है। सन् १९३२ के पूना-पैक्ट के अनुसार अब प्रत्येक प्रान्त के सरकारी बजट मे इनकी शिक्षा के लिए पृथक् रूप से रकम निश्चित कर दी जाती है और वह केवल उन्ही के स्कूलो, शिक्षा, छात्र-वृत्तियो, पुस्तको तथा निरीक्षण आदि पर व्यय की जाती है। ब्रिटिश भारत मे सन् १९३४–३५ मे दलित वर्ग के छात्रो की कुल सख्या १२ लाख ६ हजार १९३ थी। इनमे छात्राओ की सख्या भी शामिल है। शिक्षा मे मद्रास प्रान्त सबसे आगे है और सयुक्त-प्रान्त सबसे पिछडा हुआ।

जो स्कूल विशेष रूप से इन जातियो के लिए स्थापित है, वे सन् १९३५ में ९,३९३ थे।

वर्धा-शिक्षा-पद्धति

जब सात प्रान्तो मे काग्रेस का शासन स्थापित हुआ तो महात्मा गाधी ने 'हरिजन' द्वारा राष्ट्र के सर्वतोमुख सुधार के लिए ग्रामोद्योगो मे उन्नति खादी-प्रचार, मादक-द्रव्य-निषेध आदि के सम्बन्ध में अपनी योजनाएँ प्रस्तुत की जिनपर काग्रेसी सरकारो ने अमल किया। साथ ही उन्होने शिक्षा मे सुधार करने के सम्बन्ध मे अगस्त, १९३७ मे 'हरिजन' में कई विचारोत्तेजक लेख लिखे, जिनसे जनता और नेताओ का ध्यान शिक्षा के पुन.सगठन की ओर आकर्षित हुआ। फलत. वर्धा में २२–२३ अक्तूबर

१९३७ को राष्ट्रीय-शिक्षा-विशारदो का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया गया। इस सम्मेलन मे महात्मा गाधी ने अपने उपर्युक्त लेखों के आधार पर भाषण दिया और शिक्षा के सुधार पर विस्तारपूर्वक अपने विचार व्यक्त किये। इनपर विचार-विनिमय के वाद निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया गया—

(१) राष्ट्रव्यापी निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा ७ वर्ष तक हो ऐसी व्यवस्था की जाये; शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो; इस अवधि में महात्मा गांधी के मन्तव्यानुसार शिक्षा रचनात्मक उद्योग द्वारा दी जाये। सम्मेलन को यह आशा है कि इस शिक्षा-पद्धति द्वारा धीरे-धीरे अध्यापकों का वेतन भी प्राप्त किया जा सकेगा।

इस शिक्षा-सम्मेलन ने जामिया मिलिया, दिल्ली के प्रिंसिपल डा० ज़ाकिरहुसैन की अध्यक्षता मे वर्धा-शिक्षा-कमेटी की नियुक्ति भी की जिसे प्राथमिक शिक्षा के लिए उपर्युक्त प्रस्ताव के अनुसार ७ वर्षो के लिए पाठ्य-क्रम तैयार करने का कार्य सौपा गया।

बुनियादी तालीम

उक्त कमेटी ने अपनी रिपोर्ट मे सात साल के लिए बुनियादी तालीम (Basic Education) की व्यवस्था की है।

बुनियादी तालीम की विशेषताएँ निम्नलिखित है—

(१) स्कूल में प्रत्येक वालक को अपनी रुचि के अनुसार एक आधारभूत उद्योग चुनना चाहिए जिसकी व्यवस्था स्कूल के द्वारा की गयी हो। इस उद्योग के आधार पर बालक को शिक्षा दी जाये। इसके साथ ही साथ उसे दो सहायक उद्योगो का भी चुनाव करना चाहिए, जैसे कताई और वागवानी। १२ वर्ष की अवस्था तक इन उद्योगो की शिक्षा केवल शिक्षा के मूल्य की दृष्टि से दी जाये, औद्योगिक दृष्टि से नही। जो वालक भविष्य में उद्योग में निपुणता प्राप्त करना चाहे उन्हे अन्तिम दो सालो मे औद्योगिक ढग पर शिक्षा देने की व्यवस्था की जायेगी। लडकियो को घरेलू धधों की शिक्षा दी जायेंगी और अन्तिम दो वर्षो में बच्चो के पालन तथा देख-रेख की शिक्षा दी जा सकती है।

(२) 'समाज-सेवा' (ग्राम-स्वास्थ्य, प्रचार, दुष्काल मे सेवा, रोग तथा वाढ से पीडितो की सेवा, स्थानीय मेलो की व्यवस्था, सम्मेलनो मे स्वय-सेवक का कार्य, किन्डरगार्टन दर्जो की व्यवस्था मे सहयोग, स्त्री-समाज-सघ तथा सेवासघ,) प्रकृति-निरीक्षण, भ्रमण, खेल, व्यायाम आदि।

(३) शिक्षा मे कार्यशीलता के सिद्धान्त की स्वीकृति, इसका अर्थ यह है कि वालको की स्वाभाविक तथा रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन और वालको की बौद्धिक, सामाजिक तथा शारीरिक शक्तियो के विकास के लिए पूर्ण सुयोग दिया जाये।

(४) राज्य को प्रत्येक वालक के लिए ७ वर्ष की आयु से १४ वर्ष की आयु तक नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

(५) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होगी तथा 'हिन्दुस्तानी' का सामान्य ज्ञान अनिवार्य होगा। पिछले दो वर्षो मे अग्रेजी केवल उनको पढायी जायेगी जो आगे हाई स्कूल या कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हो।

(६) पाठ्य-क्रम मे आधुनिक शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शो के प्रकाश मे परिवर्तन किया जाये।

(७) नागरिकता की तैयारी के उद्देश्य से पाठ्य-क्रम वनाया जाये, केवल इस लिहाज से नही कि प्राथमिक शिक्षा उच्च शिक्षा का आधार है।

(८) पाठ्यक्रम मे सामान्य नागरिक-शास्त्र और सामान्य विज्ञान को स्थान दिया जाये।

(९) भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टिकोण से पढाया जाये, राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामयिक घटनाओ का भी ज्ञान आवश्यक है।

(१०) चरित्र-निर्माण को शिक्षा का आवश्यक अग माना जाये। सदाचार की शिक्षा सामाजिक एव मनोविज्ञान की दृष्टि से दी जाये, विशुद्ध धार्मिक दृष्टि से नही।

(११) मनोवैज्ञानिक प्रणाली द्वारा स्कूल के वातावरण को शुद्ध तथा

अनुकूल बनाया जाये। अध्यापक और छात्रो मे सहकारिता का भाव हो।

(१२) वार्षिक परीक्षाएँ उठा दी जायें और स्कूलों में रिकार्ड द्वारा ही श्रेणी चढायी जाये।

(१३) बारह वर्ष की आयु मे छात्र की मनोवैज्ञानिक परीक्षा की जाये और उसकी रुचि तथा प्रवृत्ति की जाँच की जाये तथा उसके सरक्षक को सूचनाएँ दी जायें।

(१४) स्कूल के वातावरण, कार्य-प्रणाली तथा शिक्षा में राष्ट्रीय तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण सामने होना चाहिए।

इसमे सन्देह नही कि यह शिक्षा की एक क्रान्तिकारी योजना है। इससे राष्ट्र का हित होगा, क्योंकि यह राष्ट्र-हित की दृष्टि से ही तैयार की गयी है। महात्माजी शिक्षा को स्वाश्रयी (Self supporting) बनाना चाहते है। उनका यह सकल्प प्रारम्भिक दशा मे पूरा होगा अथवा नही, यह अभी से निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। जब इस योजना के अनुसार समस्त भारत मे प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध हो जायेगा, तब इसमे जो दोष परीक्षण-काल में मालूम होगे, उनके निवारण के लिए भविष्य मे प्रयत्न किया जा सकेगा। परन्तु इसमें तनिक भी शक नहीं कि वर्धा-शिक्षा-योजना ही एक ऐसी योजना है, जो आज १५० वर्षो के ब्रिटिश शासन मे सबसे पहली बार राष्ट्रीय हित की दृष्टि से रखी गयी है और जिसपर सयुक्तप्रान, मध्यप्रात, बम्बई आदि कई प्रातो में अमल भी होनें लगा है।

भाषा और लिपि

हिन्दी-राष्ट्रभाषा

भारत की सबसे प्राचीन भाषा सस्कृत है परन्तु आज वह किसी भी प्रान्त की बोल-चाल की भाषा नही है। हाँ, यह निर्विवाद है कि भारत की अधिकाश प्रान्तिक भाषाएँ हिन्दी, बगला, मराठी, गुजराती उर्दू, सिन्धी, पजाबी, राजस्थानी और उडिया सस्कृत से उत्पन्न और विकसित हुई है और शेष द्राविड़ो—तामिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ पर भी सस्कृत का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। और इन सब प्रान्तीय

भाषाओ मे हिन्दी ही सबसे अधिक बोली और पढ़ी-लिखी जाती है।

सन् १९३१ मे भारत की जनसख्या ३५,२९,८६,८७६ थी। इनमे देशी रियासतो की सख्या भी शामिल है जो ८ करोड से ऊपर है।

हिन्दीभाषी प्रान्त

भारत के सयुक्तप्रान्त, बिहार-उडीसा, पजाब, मध्यप्रान्त-बरार, दिल्ली, अजमेर-मेरवाडा, और कुछ हिन्दीभाषी रियासते है, जिनकी कुल जनसख्या सन् १९३१ ई० के अनुसार १७ करोड ६३ लाख ७० हज़ार, ४५२ है।

अहिन्दी-भाषी प्रान्त

बगाल, मद्रास, बम्बई-सिन्ध, कुर्ग, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान, आसाम, ब्रह्मा तथा कुछ अहिन्दीभाषी रियासते है जिनकी जनसख्या १७ करोड ४८ लाख ७२ हजार ९९२ है।

इस प्रकार हिन्दी-भाषाभाषियो और इतर भाषा-भाषियो की जनसंख्या प्राय बराबर है। इसलिए हिन्दी भाषा ही राष्ट्र की भाषा कहलानेयोग्य है। परन्तु, मुसलमानो की ओर से यह दावा पेश किया जा रहा है कि उर्दू ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है। इस प्रकार भाषा के इस राष्ट्रीय प्रश्न पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार करने की पद्धति शुरू हो गयी है। आजकल सामान्यभाषा और राष्ट्र-भाषा—इन दोनो शब्दो का प्रयोग एक ही अर्थ मे किया जाने लगा है। इस प्रकार इससे भ्रान्तिपूर्ण विचारो का प्रचार होने लगा है। सामान्य-भाषा क्या है? यह वह भाषा है जो प्रत्येक प्रान्त मे बोल-चाल मे काम आती है और जिसे थोडा बहुत सभी समझ सकते है और बोल सकते है। सामान्य भाषा पर स्थानीय भाषा का भी प्रभाव पडता है। जैसे, कलकत्ता के बाजारो मे बोली जानेवाली भाषा, उस भाषा से मिलती है जो बम्बई के बाजारो मे बोली जाती है। कलकत्ता की बोल-चाल की भाषा मे बगला के अधिक शब्द होते है। इसी प्रकार बम्बई की बोलचाल की भाषा मे गुजराती के शब्द अधिक होते है। इस सबध

मे श्री रामनाथ 'सुमन' ने लिखा है—

"यह भाषा अन्तर्प्रांतीय यातायात, रेल, व्यापार और बडे-बडे उद्योग-धन्धो के खडे हो जाने से बनी है। इसे किसी सस्था ने नही बनाया, न इसके बनाने मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, हिन्दी-प्रचार-सभा या काग्रेस का हाथ है। यह भाषा उत्तर भारत (मुख्यत सयुक्तप्रान्त, मध्यभारत तथा बिहार) के उन गरीब प्रवासियो की राष्ट्र को देन है, जो गरीबी के कारण अपना घरबार छोडकर नौकरी की तलाश में दूर-दूर के सूबो में गये और वहाँ मेहनत-मजदूरी करके पेट पालने लगे। इनमे से किसी ने बोझा ढोने का काम किया, कुछ स्टेशनो पर कुली बने, कुछ आफिसो में चपरासी बने, कुछ को मिलो, रेलो के कारखानों और दुकानो मे काम मिला। कुछ ने दरबानी की, कुछ पुलिस और ट्राम की नौकरी मे भरती हुए, कुछ इक्का-ताँगा हाँकने लगे। बहुतो ने ग्वाले, नाई, रसोई का काम सँभाला, और बहुतो ने छोटे-छोटे धन्धे अपनाये। ये शिक्षित न थे और जहाँ गये वहाँ अपनी बोली और रीति-रिवाज साथ ले गये। जिस हिन्दी के बारे मे यह कहा जाता है कि वह अधिकाश भारतीयो द्वारा समझी जाती है, वह यही सामान्य बोली है। इसका न कोई निश्चित व्याकरण है और न आजतक कोई पुस्तक इस भाषा मे लिखी गयी।"

अत यह स्पष्ट है कि भारत मे प्रचलित 'सामान्य भाषा' राष्ट्रभाषा नही है। जो ऐसा मानते है, वे भारी भ्रम मे है।

देश मे राष्ट्रीय जागृति के साथ-साथ राष्ट्रीय नेताओ नें राष्ट्रभाषा-निर्माण के प्रश्न को प्रस्तुत किया। उन्होने यह अनुभव किया कि भारत मे राष्ट्रीय नवचेतना और राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि भारत के सभी प्रान्तों मे एकता स्थापित की जाये। एकता उसी समय स्थापित हो सकती है जब कि विचार-विनिमय के लिए एक अन्तर्प्रान्तीय भाषा हो। अग्रेजी भाषा ऐसी भाषा है जिसे सभी प्रातो मे पढा और बोला जाता है, पर वह स्कूलो और कालिजो के विद्यार्थियो तथा अग्रेजी पढे समुदायो तक ही सीमित है—जनता की भाषा नही

है। इसलिए राष्ट्र का सन्देश जनता तक पहुँचाने के लिए ऐसी भाषा की जरूरत है जिसे सभी प्रान्त के लोग समझ सके।

आज से २० वर्ष पहले महात्मा गाधी ने यह विचार प्रकट किया कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। उन्होने कहा है—

"मै उस भाषा को हिन्दी कहता हूँ जिसे उत्तर के हिन्दू-मुसलमान लिखते-पढ़ते है—चाहे उसे देवनागरी में लिखें या उर्दू लिपि में। इस परिभाषा पर कुछ आपत्ति भी की जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि हिन्दी और उर्दू दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ है। यह युक्ति-संगत तर्क नहीं है। भारत के उत्तरी भाग में हिन्दू-मुसलमान एक ही भाषा बोलते है। साक्षर वर्गो ने भेदभाव पैदा कर दिया है। विद्वान् हिन्दुओं ने हिन्दी को सस्कृतमयी बना दिया है। इसलिए मुसलमान उसे समझ नहीं सकते। लखनऊ के मुसलमानों ने उसमें फ़ारसी का अधिक समावेश करके उसे हिन्दुओं के लिए कठिन बना दिया है। ये एक ही भाषा की दो आवश्यकताएँ है। जनता की बोली में इनका कोई स्थान नहीं है। उत्तर की भाषा को चाहे आप हिन्दी कहे या उर्दू, एक ही बात है। उर्दू लिपि में लिखने से वह उर्दू है और नागरीलिपि में लिखने से वह हिन्दी है।"[1]

महात्मा गाधी आजतक इसी विचार के पोषक रहे है और वह इस भाषाको राष्ट्रभाषा बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे है। अहिन्दीभाषी प्रान्तों मे महात्मा गाधी की प्रेरणा से ही हिन्दी-भाषा का प्रचार शुरू हुआ। आज से १० वर्ष पूर्व दक्षिणभारत मे हिन्दी-प्रचार-सभा की स्थापना की गयी, जो तबसे अबतक हिन्दी-प्रचार का कार्य बडे अच्छे ढग से कर रही है। जब महात्मा गाधी और उनके सहयोगी राष्ट्रीय नेताओ ने हिन्दी प्रचार मे योग देना आरम्भ कर दिया और यह नियम भी बना दिया कि काग्रेस मे जो भाषण दिये जाये वे हिन्दी भाषा मे हों, तो मुस्लिम नेताओ की ओर से आक्षेप होने लगे। मुसलमानों ने यह

---

१ भडौंच में गुजरात-शिक्षा-परिषद् में ता० २० अक्तूबर सन् १९१७ को अध्यक्ष पद से दिये गये अभिभाषण से

कहना शुरू कर दिया कि अब गाधीजी हिन्दी को राष्ट्रभापा बनाकर उर्दू और मुसलिम सस्कृति का नाश कर देंगे। अत गाधीजी ने इस नाम मे परिवर्तन करके इसे 'हिन्दुस्तानी' का नाम दिया। शायद ऐसा सोचा गया कि इस नाम से मुसलमानो को कोई आपत्ति न होगी। राष्ट्रीय मुसलमानो ने इस नाम को पसद किया और इसकी आड में उन्हे उर्दू के प्रचार के लिए काफी गुजाइश मिल गयी। परन्तु मुस्लिम-लीग के कर्ता-धर्ता श्री मुहम्मदअली जिन्ना का विरोध और भी तीव्र होता गया।

जब भारत के ८ प्रान्तो में काग्रेस की सरकारे बनी तब इन सरकारो द्वारा 'हिन्दुस्तानी' भापा के प्रसार के लिए प्रयत्न किया गया। मद्रास, बम्बई और बिहार मे 'हिन्दुस्तानी' के प्रचार तथा प्रसार के लिए सरकारो की ओर से प्राथमिक कक्षाओ मे हिन्दुस्तानी भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया। मुस्लिम-लीग की ओर से इसका घोर विरोध किया गया।

हिन्दुस्तानी

'हिन्दुस्तानी' भापा से अभिप्राय उस भाषा से है जिसे महात्मा गाधी उत्तरी भारत के हिन्दू और मुसलमानो की भापा मानते है। तब केवल हिन्दी ही क्यो न कहा जाये जैसा कि आज से २३ वर्ष पहले गाधीजी ने कहा था।

उन्होने यह अनुभव किया है कि 'हिन्दुस्तानी' नाम से हिन्दी-उर्दू का झगडा शान्त हो जायेगा। वह यह चाहते है कि हिन्दुस्तानी भापा मे सस्कृत, अरबी या फारसी के अधिक शब्दो का प्रयोग नही किया जाये। उसमें हिन्दी और उर्दू के शब्दो को स्थान मिले तथा अन्य भापाओ के चलते शब्दो का भी प्रयोग किया जाये। भापा अत्यन्त सरल और बोलचाल की हो जिसे मामूली लोग भी समझ सकें। 'हिन्दुस्तानी' भापा नागरी और फारसी को दोनो लिपियो में लिखा जा सकता है।

काग्रेसी शासन-काल में बिहार, मद्रास, बम्बई मे हिन्दुस्तानी भापा में सरकार की ओर से प्राथमिक पाठशालाओं तथा प्रौढ-पाठशालाओ में

छात्रों व प्रौढ़ों के लिए हिन्दुस्तानी भाषा की शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी। हिन्दुस्तानी भाषा में बिहार में सरकार के कांग्रेसी मंत्री डा० सैयद महमूद ने प्रौढ़-शिक्षा के लिए हिन्दी-उर्दू में हिन्दुस्तानी भाषा की पुस्तकें तैयार करायीं। मद्रास में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने हिन्दुस्तानी भाषा को अनिवार्य कर दिया। इसी प्रकार बम्बई में भी श्री बाल गंगाधर खेर ने हिन्दुस्तानी भाषा को समस्त स्कूलों में अनिवार्य कर दिया। कहीं-कहीं हिंदुस्तानी के नाम पर हिन्दी में संस्कृत भाषा के प्रचलित शब्दों को न अपनाकर उनकी जगह उर्दू-फारसी के बे-मौजूँ शब्द जबर्दस्ती रखे गये, जिससे हिन्दीभाषी जनता में, खास तौर से बिहार और संयुक्तप्रान्त में, घोर असन्तोष उठ खड़ा हो गया।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना उचित है कि प्रत्येक भाषा का उसके बोलनेवालों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही नहीं, वह एक प्रकार से उनकी संस्कृति की निर्देशिका भी है। भाषा विचारों को व्यक्त करने का माध्यम है और विचारों का मूलाधार भी है। हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, उसी भाषा में विचार भी करते हैं। इसलिए भाषा और विचारों का अटूट सम्बन्ध है। हिन्दी भाषा की जननी संस्कृत है और दूसरी कई प्रांतीय भाषाओं की जननी भी संस्कृत ही है। संस्कृत भाषा में हिन्दूधर्म और संस्कृति सुरक्षित है, क्योंकि वेद, उपनिषद्, धर्म-शास्त्र, गीता, महाभारत, रामचरितमानस तथा प्राचीन साहित्य, नाटक और कथानक आदि सब संस्कृत में ही उपलब्ध है। इन्हीं ग्रंथों में आर्य-संस्कृति निहित है। इसलिए जो समाज जिस भाषा द्वारा इन ग्रन्थों का अवलोकन करेगा, उसपर आर्य-संस्कृति का प्रभाव पड़ना जरूरी है।

सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी और उर्दू भाषाओं में मौलिक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है। उर्दू अरबी संस्कृति को व्यक्त करती है और हिन्दी आर्य संस्कृति को। ये वास्तव में दो भाषाएँ है। इन दोनों को मिला-कर एक 'हिन्दुस्तानी' भाषा पैदा करने का प्रयत्न इन दोनों भाषाओं के के लिए हानिप्रद है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना उचित होगा। वह यह कि राष्ट्र-

भाषा केवल इस प्रकार कृत्रिम रूप से बनायी हुई सरल और बोल-चाल की भाषा नही हो सकती। राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जिसमें राष्ट्र के धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की भूख को तृप्त करनेवाली सुरुचिपूर्ण सामग्री प्रदान करने की क्षमता हो।

सुप्रसिद्ध बौद्ध लेखक श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन का यह मत सर्वथा ग्राह्य और उपयुक्त है कि—

"अब हिन्दी कुछ वर्षों पहले की 'भाखा' नहीं रह गयी है। हम उसे अपनी ऊँची से ऊँची शिक्षा का माध्यम बनाने चले है। हम जहाँ यह चाहते है कि वह काश्मीर से कन्याकुमारी तक समझी जाये, वहाँ यह भी चाहते है कि उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म, जटिल से जटिल, अर्वाचीन से अर्वाचीन भावो को प्रकट करने का सामर्थ्य आ जाये। हम चाहते है कि उसमें न केवल समुद्र-सा फैलाव हो, बल्कि उसकी गहराई भी हो। अब प्रश्न यह है कि आज के संसार में जितने और जैसे गंभीर विषयो का अध्ययन हो रहा है, जब हमें हिन्दी में उन सभी विषयो पर ग्रंथ देखने की लालसा है, तो क्या वे ग्रन्थ उसी भाषा में लिखे जा सकते है जिसे, गुस्ताखी माफ़ हो तो, हम बाजारू भाषा कहें, तो कोई हर्ज नहीं! हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रभाषा है जिसे पेशावर से लेकर मद्रास तक रेलवे स्टेशनो पर हम उस समय बोलते है जब हमें कुलियो से निबटना होता है। अब क्या उस तरह की भाषा में किसी शास्त्रीय विषय की चर्चा की जा सकती है? आपसे यदि कोई कहे कि आप प्रसिद्ध गणितज्ञ आइन्स्टाइन के 'सापेक्ष-वाद' पर एक पुस्तक लिखें जिसमें न संस्कृत के शब्द हों और न अरबी फारसी के, तो क्या आप लिख सकेंगे? आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद को जाने दीजिए—कहते हैं उसे अध्यापन-संसार में केवल दो-तीन आदमियो ने ही ठीक तरह समझा है—अपने ही दर्शन-शास्त्र पर आप कुछ भी लिख सकते है? यदि नहीं, तो जब हमें अपने इतिहास की कुछ गहरी व्याख्या करनी होगी, जब हमें संसार के भौतिक भूवृत्त की कुछ बातें समझनी-समझानी होगी, जब ऊँचे दर्जे के विद्यार्थियो के लिए शास्त्रीय ढग की पुस्तकें लिखनी-लिखानी होगी, तब किसी ऐसी राष्ट्रभाषा से, जिसमें न

संस्कृत के शब्द हो और न फ़ारसी के, हमारा काम नहीं चल सकता। हमें न केवल पारिभाषिक शब्दो के लिए, बल्कि ऐसे शब्दों के लिए भी जो हमारे गहरे चिंतन के यथार्थ प्रतिबिम्ब हो सकें, सस्कृत अथवा अरबी की शरण लेनी होगी।"

अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन मे सभापति-पद से हिन्दी के विद्वान और अनुभवी पत्रकार श्री बाबूराव विष्णु पराडकर ने भी राष्ट्रीय भाषा के सम्बन्ध मे अपने अभिभाषण मे कहा था—

"मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जिसे सर्वप्रान्तीय व राष्ट्रीय भाषा बनने की अधिकारिणी समझते हैं वही यदि यह 'हिन्दुस्तानी' है तो मैं निःसंदिग्ध चित्त से साहित्य-सम्मेलन को सलाह दूँगा कि वह निर्भीकता के साथ स्पष्ट शब्दो में इसका विरोध करे।...हिन्दुस्तानी के नाम पर यह जो अनर्थ हो रहा है, उससे केवल हिन्दी की ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिए मै कहता हूँ कि हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी होना चाहिए और उसकी प्रवृत्ति भी हिन्दी यानी हिन्द की होनी चाहिए।"

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और राष्ट्रभाषा

उपरोक्त विवाद पर निर्णयात्मक विवेचन करने के लिए इस झगडे के मूल को देखना होगा। महात्मा गाधी के सभापतित्व मे इंदौर में होनेवाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के चौबीसवे अधिवेशन में राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में यह निर्णय हुआ था—

"इस सम्मेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कुछ गलतफहमी फैली हुई है और लोग उसके लिए अलग-अलग राय रखते है। इसलिए यह सम्मेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी का वह स्वरूप मान्य समझा जाये जो हिन्दू-मुसलमान आदि सब धर्मो के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते है, जिसमें रूढ़ सर्व-सुलभ अरबी, फारसी, अंग्रेजी या संस्कृत शब्दो या मुहाविरो का बहिष्कार न हो और जो नागरी या उर्दू

लिपि में लिखी जाती हो।'

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन मे सम्मेलन की नियमावली मे सशोधन किये गये और १९ सितम्बर सन् १९३८ को सशोधित नियमावली के अनुसार उद्देश्य धारा २ (क) और (ख) मे इस प्रकार निर्धारित किया गया—

"(क) हिन्दी-साहित्य के सब अगो की पुष्टि और उन्नति का प्रयत्न करना,

(ख) देशव्यापी व्यवहारो और कार्यो को सुलभ करने के लिए राष्ट्रलिपि देवनागरी और राष्ट्रभापा हिन्दी का प्रचार बढ़ानेका प्रयत्न करना,

(ग) हिन्दी भाषा को अधिक सुगम, मनोरम, व्यापक और समृद्ध बनाने के लिए समय-समय पर उसके अभावो को पूरा करना और उसकी शैली और त्रुटियो के सशोधन का प्रयत्न करना।"

यद्यपि सम्मेलन के उद्देश्यो मे 'हिन्दी राष्ट्रभापा' का उल्लेख है—उसमे 'हिन्दुस्तानी' का उल्लेख नही है, तथापि इदौर के उपर्युक्त निश्चय मे 'हिन्दुस्तानी' शब्द न होते हुए भी 'हिन्दुस्तानी' का स्वरूप वही विद्यमान है जिसे आज महात्मा गाधी 'हिन्दुस्तानी' कहते है।

इन्दौर-सम्मेलन के वाद 'हिन्दुस्तानी' भापा का प्रचार वढता रहा। जुलाई सन् १९३७ मे जब काग्रेस मन्त्रि-मण्डलो ने शासन-भार सँभाला तब हिंदुस्तानी प्रान्तीय सरकारो द्वारा भी स्वीकार कर ली गयी। हिन्दी साहित्यिको के सामने 'हिन्दुस्तानी' का व्यवहार्य स्वरूप 'रीडरो' मे आया तो हिन्दी-साहित्य-सेवियो को उसे देखकर घोर निराशा हुई और उसका फल यह हुआ कि पत्र-पत्रिकाओ द्वारा उसका घोर विरोध किया जाने लगा। सितम्बर १९३८ के शिमला-अधिवेशन मे 'आज' के यशस्वी विद्वान् सपादक तथा सम्मेलन के अध्यक्ष श्री बाबूराव विष्णु पराडकर ने अपने भापण मे विचारपूर्वक हिन्दुस्तानी भापा की आलोचना की और उसका विरोध करने के लिए सम्मेलन को सलाह भी दी। सम्मेलन के इस अधिवेशन मे हिन्दी भापा को सुगम बनाने के सम्बन्ध मे जो निश्चय किया गया वह इस प्रकार है—

"इस सम्मेलन के विचार में हिन्दी के आधुनिक साहित्य-निर्माण के

लिए ऐसी भाषा उपयुक्त है जिसका परम्परागत सम्बन्ध संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से है जिसकी शक्ति कबीर, तुलसी, सूर मलिकमुहम्मद जायसी, रहीम, रसखान और हरिश्चन्द्र की कृतियों से आयी है, जिसका मूलाधार देशी और तद्भव शब्दो का भण्डार है, और जिसके पारिभाषिक शब्द प्राकृत अथवा संस्कृत के क्रम पर ढाले गये है किन्तु जिसमें रूढ़, सुलभ और प्रचलित विदेशी शब्दो का भी स्थान है।"

पहले दिये गये इन्दौर-सम्मेलन और शिमला-सम्मेलन के निश्चयो मे मौलिक अन्तर है। इन्दौर के निश्चय के अनुसार 'हिन्दी का वह स्वरूप मान्य है जिसे हिन्दू-मुसलमान आदि सब धर्मो के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते है।'

और शिमला के निश्चय के अनुसार 'हिन्दी के आधुनिक साहित्य-निर्माण के लिए ऐसी भाषा उपयुक्त है जिसका परम्परागत सम्बन्ध संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओ से है, जिसकी शक्ति हिन्दी के प्राचीन कवियो तथा साहित्यकारो की रचनाओं से आयी है।

ये दोनो निश्चय परस्पर-विरोधी है। पर धीरे-धीरे सम्मेलन मे हिन्दुस्तानी-विरोधी तत्त्व का बहुमत होता गया। अपने पिछले पूना-अधिवेशन मे उसने इस बात को कुछ-कुछ स्पष्ट कर दिया है। पूना का प्रस्ताव यह है—

"सम्मेलन की नियमावली के नियम (ख) मे आये हुए 'राष्ट्रभाषा' शब्द के स्पष्टीकरण के लिए सम्मेलन के इन्दौरवाले अधिवेशन का जो निश्चय दिया गया है, उसका निम्नलिखित रूप हो—

'इस सम्मेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के सम्बन्ध मे हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे कुछ गलतफहमी फैली हुई है और लोग उसके लिए अलग-अलग राय रखते है। इसलिए यह सम्मेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी का वह स्वरूप मान्य समझा जाये जो हिन्दू, मुसलमान आदि सब धर्मो के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते है, जिसमे रूढ, सर्वसुलभ अरबी, फारसी, अंग्रेजी या संस्कृत शब्दो या मुहाविरो का बहिष्कार नही होता और

जो साधारण रीति से राष्ट्रलिपि नागरी मे तथा कही-कही फारसी लिपि में भी लिखा जाता है।'

राष्ट्रभाषा के नाम और स्वरूप का विवाद अतत इतना तीव्र और स्पष्ट हो गया कि अबोहर सम्मेलन के सभापति का चुनाव ही इसी प्रश्न को लेकर हुआ और उसमें हिन्दुस्तानी पक्ष की हार हुई।

भारतीय साहित्य-परिषद् और 'हिन्दी हिन्दुस्तानी'

देश की सब भाषाओं के साहित्यिकों में विचार-विनिमय के सम्बन्ध मे सगठन करने के विचार से सन् १९३५ में इन्दौर के अधिवेशन में निम्नलिखित मन्तव्य प्रकाशित हुआ—

"देश की प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने तथा हिन्दी भाषा की वृद्धि में उनका सहयोग प्राप्त करने के अभिप्राय से यह सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनो की एक समिति बनाता है और उसको अधिकार देता है कि वह अपने साथ अन्य सज्जनों को आवश्यकतानुसार सम्मिलित कर ले।"

इस निश्चय के अनुसार जो भारतीय साहित्य परिषद् बनी, उसके सयोजक सुप्रसिद्ध गुजराती साहित्यकार श्री कन्हैयालाल मुन्शी थे। नागपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर परिषद् का पहला अधिवेशन हुआ। भारतीय साहित्य-परिषद् के कार्य के लिए किस भाषा का प्रयोग किया जाये और उसका नाम क्या हो—यह प्रश्न उठा। इसने ऐसी भाषा के लिए महात्मा गाधी की राय से 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' नाम स्वीकृत किया। पर खेद है कि भारतीय साहित्य-परिषद् का काम अधिक दिनो नही चल सका।

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति और हिन्दुस्तानी

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के नियम ३८ के अनुसार अहिन्दी-भाषी प्रान्तो मे राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार के लिए २१ सदस्यो की एक प्रचार-समिति है जो राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति कहलाती है। इसका कार्य असम, बगाल, उत्कल, सिन्ध, पश्चिमोत्तर-प्रदेश, गुजरात, बम्बई, महाराष्ट्र

प्रान्तो मे तथा भारत के बाहर हिन्दी-प्रचार की व्यवस्था करना है। इसका केन्द्र वर्धा मे है। इस समिति के मन्त्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल हैं और आचार्य काका कालेलकर उप-सभापति है। यह समिति महात्मा गाधी के आदेशानुसार कार्य करती है।

यद्यपि नियमावली मे राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दी' है तथापि राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति की ओर से राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी रखने का प्रचार किया जा रहा है। इस समिति की ओर से 'सबकी बोली' नामक एक मासिक पत्रिका भी काका कालेलकर के सम्पादकत्व मे २ वर्ष तक निकली। इसके द्वारा भी हिन्दुस्तानी नाम चलाने का प्रयत्न किया गया।

काका कालेलकर का मत है कि—

"जब राष्ट्रीय महासभा ने राष्ट्रभाषा को 'हिन्दुस्तानी' कह दिया, तब वही नाम लेकर और अपनी ही व्याख्या की राष्ट्रभाषा सम्मेलन चलावे तो उसमें क्या हर्ज है? जब हम कहते हैं कि उर्दू भी हिन्दी का एक रूप है, तब हिन्दी के उस रूप को, जो हिंदू-मुसलमानो में, शहरो व गाँवो में प्रचलित है, हिन्दुस्तानी कहने में क्या डर है? हिन्दुस्तानी न तो साहित्यिक हिन्दी है न उर्दू-ए-मुअल्ला है। जब हमने शिमला में साहित्यिक हिन्दी की अलग व्याख्या कर दी, तब हिन्दी के उस रूप को, जिसे राष्ट्रभाषा के तौर पर हमने इंदौर में तय किया और जिसे हम भारतभर में चलाना चाहते है, हिन्दुस्तानी कहने में क्या हर्ज है? कांग्रेस ने नाम रख दिया। उससे लाभ उठाकर उसी के झण्डे के नीचे हम आगे बढ़ें या नाम से घबड़ाकर हम राष्ट्रीय क्षेत्रो से ही अपने को बहिष्कृत करले?"

काका कालेलकर की की यह नीति स्पष्टत. हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नीति के विरुद्ध है।[1]

---

१ काका कालेलकर ने अक्टूबर १९४० मे राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से मतभेद के कारण त्यागपत्र देदिया है और बाद में अभी ३ मास हुए 'सबकी बोली' का प्रकाशन भी बन्द कर दिया है।

जैसा कि लिखा जा चुका है दोनो दलो का झगड़ा मूल मे राष्ट्र-भाषा के नाम और स्वरूप पर है। काका कालेलकर तथा उनके समर्थको का ज़ोर राष्ट्रभाषा को

(१) 'साहित्यिक हिन्दी' या 'उर्दू-ए-मुअल्ला' बनाने पर नही है और

(२) उसे वे काग्रेस द्वारा किया स्वीकृत 'हिन्दुस्तानी' नाम से ही पुकारना राष्ट्र के लिए हितकर मानते है।

दूसरी ओर उत्तरभारत के हिन्दीभक्त उसे

(१) 'सस्कृत, प्राकृत के क्रम पर' ढालना चाहते है और

(२) उसे वे 'हिन्दी' नाम से ही पुकारना चाहते है।

इस वार जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवोहर-अधिवेशन के चुनाव में सघर्ष रहा, वह इसी मतभेद का लक्षण था। अवोहर के अधिवेशन मे जो मत वहुमत में है, वह अवश्य अपने निर्णय को कड़े से कडे शब्दो में प्रकट करेगा, ऐसी सम्भावना है।

परन्तु राष्ट्रभाषा का प्रश्न अकेले हिन्दीवालो का ही नही है उसे अखिल भारतीय दृष्टि से देखना चाहिए। हमारी दृष्टि मे भाषा की पवित्रता जैसी कोई चीज है ही नही। आधुनिक हिन्दी मे कई विदेशी भाषाओ (पुर्तगाली, फ्रेच, अग्रेजी) के शब्द इस वुरी तरह से मिल गये है कि उन्हे निकालना मुश्किल है। इसी प्रकार देशभाषाओ के शब्द भी मिलेगे। हाँ, यह मिलावट वलात् नही होनी चाहिए। भाषा 'वलात्कार' को सहन नही कर सकती। वह अन्य भाषा के शब्दो से मधुर समन्वय ही कर सकती है जिसे कोई नही रोक सकता।

राष्ट्र-लिपि की समस्या

महात्मा गाधी और राष्ट्रीय महासभा देवनागरी और उर्दू दोनो लिपियो को राष्ट्र-लिपि स्वीकार करने के पक्ष मे है। देश का सबसे विशाल जन-समुदाय देवनागरी लिपि को पसन्द करता है। सन् १९३१ की जन-सख्या के अनुसार प्रति १० हजार मनुष्यो मे ४,०५९ मनुष्य देवनागरी-लिपि में लिखी जानेवाली भाषाएँ व्यवहार मे लाते है।

लगभग १७ करोड व्यक्ति हिन्दी भाषा-भाषी है। उनके अतिरिक्त वगला, गुजराती, मराठी और गुरुमुखी लिपियाँ भी देवनागरी लिपि से बहुत अधिक मिलती-जुलती है। जन-गणना-रिपोर्ट से यह पता चलता है कि प्रति १०,००० मनुष्यो मे २,६६२ मनुष्य ऐसे है जो नागरी-लिपि के विविध रूपो का प्रयोग करते है। इस प्रकार प्रति १०,००० मनुष्यो मे ६,७१८ मनुष्य ऐसे है जो किसी न किसी रूप मे देवनागरी-लिपि का व्यवहार करते है। मद्रास मे तामिल-भाषा मे सस्कृत का बाहुल्य है। अत उन्हे भी एक रूप मे देवनागरी लिपि का प्रयोग करना पडता है।

सन् १९३८ मे हरिपुरा काग्रेस मे श्री सुभाषचन्द्र वसु ने राष्ट्रपति पद से अपने भाषण मे राष्ट्र-लिपि के रूप मे रोमन-लिपि का समर्थन किया था। और उनके समर्थक भी इस देश मे बहुत है। परन्तु रोमन-लिपि राष्ट्र-लिपि बन नही सकती। जब भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी है तब उसकी लिपि रोमन कैसे हो सकती है? फिर भारत मे अग्रेजी जानने-वाले मुश्किल से १००० मे १ है। इसके सिवा वह अवैज्ञानिक भी है। उर्दू-लिपि तो महा जटिल, क्लिष्ट, अस्पष्ट, दुरूह और ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से अपूर्ण है। फिर उसकी कोई सास्कृतिक या साहित्यिक पृष्ठभूमि भी नही है। उर्दू जाननेवालो की सख्या बहुत ही कम है। वह एक-दो प्रान्तो मे ही अधिक है और छापने, लिखने, पढने और पढाने मे कठिन है।

केवल नागरी लिपि ही ऐसी है जो सबके व्यवहार के योग्य है। वह पूर्णतः वैज्ञानिक और सर्वांगपूर्ण है। हाँ, इसकी विविध वर्ण-सयोग-प्रणाली और मात्रा-पद्धति तथा विविधरूप वर्णो की बहुलता इसे प्रेस, टाइपराइटिंग आदि के लिए, पूर्ण सुगम होने से रोकती है, जिन्हे दूर करने के लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति, अन्य नागरी-लिपि-सुधारक आदि उसमे सुधार करने के प्रयत्न कर रहे ह। यदि वर्णो का उद्देश्य ध्वनि का शुद्ध उच्चारण हो, तो ससार की कोई वर्णमाला नागरी का मुकावला नही कर सकती। इस वर्णमाला की प्रत्येक ध्वनि के लिए अलग वर्ण है और प्रत्येक वर्ण की अलग ध्वनि है।

जो लिखा जाता है वही पढा जाता है और जो पढा जाता है, वही लिखा जाता है ।

साहित्य

ससार में सबसे प्राचीन आर्य जाति है और इसी कारण सबसे प्राचीन आर्य-सस्कृति तथा साहित्य है ।

पाश्चात्य विद्वानो ने मुक्तकठ से यह स्वीकार किया है कि आर्य-सस्कृति तथा साहित्य ससार में सबसे प्राचीन है । सृष्टि के आदि मे परमात्मा ने चार ऋषियों को जो अपना ज्ञान दिया, वह वेद के नाम से प्रसिद्ध है । वेद ईश्वरीय ज्ञान है । उसकी रचना किसी मानव ने नही की । इसीलिए वह अनादि है और उसका नाश भी नही होता । वैदिक युग मे ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सामवेद—इन चार वेदों का ही आदर था और जन-समाज इनके अनुसार ही अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करता था । ये चार वेद ही वैदिक काल का साहित्य, धर्म-पुस्तक और कला-कृति थे । सामवेद का ऋषिगण गायन करते थे । उसे सगीत का जन्मदाता कहा जाता है ।

कुछ काल के बाद इन वेदो की ऋषियो-मुनियो ने व्याख्याएँ करना शुरू किया । अन उपनिषदो तथा ब्राह्मण-ग्रन्थो की रचना हुई । इसके बाद दर्शन-शास्त्रो की रचना की गयी । इस युग का जो साहित्य आज उपलब्ध है वह आध्यात्मिक-धार्मिक ही है । उस समय भारतीय कला का विकास कैसा हुआ था इसका आज कोई प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नही है ।

ब्राह्मण-ग्रन्थो के निर्माण के समय जनता की रुचि, कला-कृति तथा सरस साहित्य की ओर होने लगी । जनता काव्य और कविता में आनन्द लेने लगी । उस समय जन-समाज की मातृभाषा सस्कृत थी । अत: इस काल के ग्रन्थों का निर्माण सस्कृत में किया गया । सबसे प्राचीन काव्य-ग्रन्थ जिसका वर्णन इतिहास में आज उपलब्ध है, महर्षि वाल्मीकि की 'रामायण' है ।

'रामायण' की रचना के बहुत वर्षों के पश्चात् महर्षि व्यास ने जय काव्य की रचना की। इसमे महाभारत का काव्यमय वर्णन है। पीछे से इसी ग्रन्थ का नाम महाभारत प्रसिद्ध होगया।

भरत-मुनि ने नाट्य-शास्त्र की रचना की। इस ग्रन्थ मे भारतीय नाट्य-कला के सिद्धान्त बताये गये है। नाटक के लिए उपयोगी तथा आवश्यक सभी बातों पर इसमे प्रकाश डाला गया है। सबसे पहला नाटक भास कवि ने इसी ग्रन्थ के सिद्धान्तो के अनुसार लिखा।

ईसा की पाँचवी शताब्दी मे महाकवि कालिदास का जन्म हुआ। कालिदास सस्कृत के महाकवि थे और वाल्मीकि के बाद वही सबसे महान् कवि माने गये है। आज ससार मे कालिदास की कला-कृतियो का जो आदर और सन्मान है, वह इसीलिए है कि उन्होने ऐसे अमर साहित्य की सृष्टि की जो युगो तक जनता के हृदय को प्रभावित करता रहेगा।

महाकवि कालिदास के अतिरिक्त और भी कई प्रसिद्ध काव्यकार हुए जिनकी अमर कृतियो के कारण आज सस्कृत-साहित्य ससार की भाषाओ के सम्मुख खडा हो सकता है और सस्कृत भाषा मे ऐसे रत्न भरे पड़े है जिनके कारण वह विश्व-साहित्य मे उच्च स्थान प्राप्त कर सकती है।

हिन्दी-साहित्य

बौद्ध-काल तक भारत मे साहित्य-रचना की भाषा और सभवत जनता की मातृभाषा सस्कृत रही। परन्तु बौद्ध-काल मे पाली भाषा का अधिक प्रचार हो गया। इसी कारण इस युग की बौद्ध-साहित्यिक तथा धार्मिक कृतियाँ पाली भाषा मे मिलती है। पाली भाषा के बाद भारत मे प्राकृत भाषा का अधिक प्रचार बढा। परन्तु जबसे भारत मे विदेशी आक्रमणकारियो नें प्रवेश आरम्भ किया तबसे यहाँ की भाषाविषयक एकता भग हो गयी और प्रान्तीय भाषाओ का जन्म होने लगा। ११वी या उसके शताब्दी मे आस-पास ही हिन्दी, उर्दू, बगला, गुजराती, तामिल, तेलगू, मलयालम और मराठी आदि भाषाओ का विकास हुआ।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास सन् ११९१ से आरम्भ होता है जब कवि चन्दवरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' नामक काव्य की रचना की। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य आज ९०० वर्षों से उत्तरी भारत की जनता में अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करता रहा है। आज हिन्दी का साहित्य अन्य समस्त भारतीय भाषाओ के साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है। एक युग था जब बगला-साहित्य भारतीय साहित्य में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। परन्तु शरच्चन्द्र तथा रवीन्द्रनाथ के युग के समाप्त हो जाने पर उसने कोई प्रगति नहीं की।

हिन्दी-साहित्य सदा प्रगतिशील रहा है और आज भी वह प्रगति के पथ पर है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी 'रामचरितमानस' जैसी अमर कृति से हिन्दी को सदैव के लिए उच्च आसन पर बिठा दिया। 'रामचरित-मानस' वास्तव मे ऐसी उच्चकोटि की कला-पूर्ण रचना है जिसमें सम्पूर्ण मानव-जीवन की बडी सरस व्याख्या की गयी है। उसमें राम के प्रति गोस्वामीजी ने भक्ति की जैसी मनोहर अभिव्यक्ति की है वैसी किसी भी साहित्य मे मिलना दुर्लभ है, साथ ही उन्होने जनता के हृदय को भी बडी मार्मिकता के साथ स्पर्श किया है। वह जनता का अपना साहित्य है। आज भारतवर्ष में 'रामचरितमानस' का बडा आदर है और उसकी चौपाइयाँ एक अपढ किसान के मुख से भी सुनायी पडती है। हिन्दी-साहित्य का यह सबसे लोकप्रिय काव्य है। अन्य भाषाओ में भी तुलसीदास की इस अमर कृति का अनुवाद हो गया है।

आधुनिक काल में श्री मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी के सबसे बडे कवि है। उनकी रचनाएँ जनता में सबसे अधिक लोकप्रिय है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री रामकुमार वर्मा, श्री महादेवी वर्मा आदि हिन्दी काव्य-जगत की आधुनिक भावना-धारा के प्रतिनिधि कवि है। इनकी कविताएँ विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य है।

उपन्यास-क्षेत्र मे प्रेमचन्द ने जैसा नाम पाया है वैसा हिंदी के किसी दूसरे लेखक ने नही पाया। प्रेमचन्द हिन्दी-ससार की एक मूल्यवान् निधि है। उन्होंने अपने उपन्यासो तथा कहानियो के द्वारा हिन्दी-साहित्य को

जो रत्न प्रदान किये है, उनसे वह तो गौरवान्वित हुआ ही है इससे विश्व-साहित्य को भी एक मूल्यवान् दान मिला है।"

हिन्दी-साहित्य मे श्री जयशकर 'प्रसाद' ने नवीन नाटको की रचना करके यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी नाटक आधुनिक नाट्य-कला मे किसी भी भाषा के साहित्य से पीछे नही है। उन्होने अपनी नाट्य-कला के द्वारा भारतीय आर्य-सस्कृति तथा कला का जो पुनरुज्जीवन किया है, वह उनकी साहित्य और समाज को एक स्थायी देन है।

बगला-साहित्य के श्री बकिमचन्द्र, श्री शरत्चन्द्र और श्री रवीन्द्रनाथ अमर रत्न है। यदि बगला-साहित्य मे कुछ भी न रहे तो भी रवीन्द्रनाथ उसे अमर बनाने के लिए काफी है। डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर आज इस ससार मे नही है और उनका युग भी बीत चुका, परन्तु उन्होंने जिन कला-कृतियो का निर्माण किया है वे विश्व-साहित्य की अमर रचनाएँ है। ससार भर मे उनका मान है। वे बगला के ही महाकवि, नाटककार और उपन्यासकार नही थे, प्रत्युत इस युग के सबसे महान् कवि थे। वह मानवता के महान् उपासक और आर्य-सस्कृति के आचार्य थे।

गुजराती-साहित्य, मराठी-साहित्य तथा तामिल-तेलगू और उर्दू-साहित्य ने भी बडी उन्नति की है। पर स्थानाभाव-वश यहाँ इनके सम्बन्ध मे विवेचन अभिप्रेत नही है।

कला

भारतीय कला के आदर्श

ललित कलाओ मे साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्र-कला, मूर्ति-कला, और वास्तुकला का स्थान है। इनमे से साहित्य के विषय मे हम ऊपर विवेचन कर चुके है। सगीत, नृत्य आदि अन्य कलाओ के सम्बन्ध मे विचार करने से पहले यह उचित होगा कि हम भारतीय कला की विशिष्टताओं, आदर्शो तथा लक्ष्य के विषय मे विचार करले, कारण कि ये आदर्श और लक्ष्य केवल साहित्य तक ही परिमित नही ` प्रत्युत दूसरी ललित कलाओ मे भी उनकी स्पष्ट झलक हमे मिलती है।

आज भारतवर्ष मे, साहित्यिक जगत मे एक युग से, आदर्शवाद तथा यथार्थवाद को लेकर एक वडा वाद-विवाद खड़ा हो गया है। कला मे यथार्थ का चित्रण होना चाहिए—ससार को हम जैसा देखते है,उसका ज्यों का त्यो चित्रण ही कला है, ऐसा यथार्थवादी का मत है। दूसरी ओर आदर्शवादी का मत यह है कि ससार मे बुराई-भलाई सभी को हम देखते है, परन्तु यह सभी यथार्थ नही—सत्य नही। इसलिए हमें जो वास्तव मे सत्य है—आदर्श है, उसीका चित्रण करना चाहिए। एक मत के अनुसार कला मे इन दोनो का समन्वय ही उचित मार्ग है।

यहाँ इन दोनो वादो की समीक्षा अभिप्रेत नही है। हमे तो यह देखना है कि ये दोनो वाद भारतीय-कला के आदर्शो के कहाँ तक अनुकूल है। यह हम ऊपर ही कह चुके है कि भारत में कला का उद्देश्य अन्य देशो की कला-साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। भारतीय और विशेषत आर्य-जीवन का लक्ष्य है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार फलो की प्राप्ति। इन्ही को धार्मिक भाषा मे पुरुषार्थ कहा गया है। मानव-जीवन का लक्ष्य है इन चारो की सिद्धि। वस इसी चरम लक्ष्य को दृष्टि मे रखकर समस्त भारतीय साहित्य तथा कला का निर्माण हुआ है। इस प्रकार कला, भारतीय की दृष्टि मे, पाश्चात्य देशो की तरह, मनोरजन का साधन नही है, प्रत्युत वह जीवन को मुक्ति-बधन से मोक्ष की ओर ले जाने का एक मार्ग है—साधन है। जिस प्रकार योग-साधना द्वारा मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार साहित्य-साधन और कला की उपासना द्वारा भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है।

भारतीय आर्य साहित्य मे बधन से मुक्ति की ओर जाने के लिए जो भावना ओतप्रोत है, उसका हमारे धार्मिक सिद्धातो से गहरा सबंध है। ससार भर मे आर्यो (हिन्दुओ) के सिवा शायद और कोई जाति पुनर्जन्म तथा कर्म-फल के सिद्धान्तो मे विश्वास नही करती। पाश्चात्य देशो मे तो इसी जन्म मे मनुष्य को भोग-विलास का जीवन बिताकर अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करनी है। उनकी जनता का परलोक-जीवन

तथा पुनर्जन्म मे कोई विश्वास नही। इसलिए जो कुछ इस जीवन मे कर लिया जाये वही सार्थक है, परलोक से हमारे आर्यों का कोई सम्बन्ध नही। परन्तु भारतवर्ष मे यह सिद्धान्त प्राचीन काल से प्रचलित है कि मनुष्य तीन प्रकार के कर्म के बन्धन मे है। सञ्चित कर्म—जिन कर्मों को वह कर चुका है, प्रारब्ध-कर्म—जिन कर्मों को वह भोग रहा है; क्रियमाण—जिन कर्मों को वह अब कर रहा है तथा जिनका फल भविष्य मे भोगना पडेगा।

मनुष्य मृत्युपर्यन्त कर्म करता रहता है, कुछ कर्मों का फल वह अपने इस जीवन मे भोग लेता है और शेष कर्मों के भोगने के लिए उसे फिर जन्म लेना पड़ता है। यदि मनुष्य ईश्वर-प्राप्ति के लिए तपस्या व साधना करे और उसमे उसे सफलता मिल जाये तो वह कुछ नियत-काल के लिए जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार हम भारतीय साहित्य तथा कला मे इस विश्वास की स्पष्ट झलक पाते है। यदि आप किसी भारतीय नाटक को देखे तो आपको यह मालूम हो जायेगा कि वह सुखान्त ही है। यदि कोई दुष्ट जन किसी साधु पुरुष के शुभ कार्यों में बाधा डालता है, अथवा वह उस पुरुष की हत्या कर देता है, तो भारतीय नाटककार अपने नाटक मे उस साधु पुरुष के साथ पूर्ण सहानुभूति रखेगा और उस दुष्ट पात्र को अन्त मे दण्ड दिलायेगा। यदि उसे बिना दण्ड दिये छोड दिया जायेगा तो इससे भारतीय विश्वास को बड़ी ठेस लगेगी और वास्तव मे होता भी ऐसा ही है।

इस प्रकार भारतीय कला का आदर्श है मुक्ति की साधना। इसके अनुसार जो-जो सिद्धान्त ठीक है, उनका भारतीय कला मे निर्वाह वाछनीय है। यथार्थवादी जिसे सत्य समझते है, वह वास्तव मे सत्य नही है; यदि वह अपने आन्तरिक चक्षुओ से सत्य की खोज करे और सत्य का दर्शन करे तो उसे प्रकट होगा कि जिस अश्लील तथा कामुक चित्र के चित्रण को वह यथार्थ मानता है, वह तो सत्य से दूर है।

पुनर्जन्म तथा कर्म-फल के सिद्धान्तो की गलत व्याख्या से एक बहुत-

ही अवाछनीय प्रभाव जनता के हृदय पर पड़ा है—वह यह कि आज समाज में यदि किसी ब्राह्मण की उच्च स्थिति है, तो वह उसके अपने कर्मो के कारण है और यदि आज किसी दीन-दलित जन की दुर्दशा है तो वह उसके कर्मो का फल है। इसलिए समाज की जैसी स्थिति विद्यमान है, उसमें कोई परिवर्तन नही किया जा सकता। यदि आज नारी-जाति की हीन दशा है, तो वह उनके कर्मो का फल है, यदि आज मजदूर पूंजीपतियो के अत्याचारो के शिकार है तो अपने प्रारब्ध के कारण; और यदि आज किसान-वर्ग पीडित है तो अपने कर्मो के फल से। इस प्रकार की विचारधारा ने भारतीय समाज का वडा अनिप्ट किया है और जनता मे भाग्यवाद तथा नैराश्य को जन्म देकर उसे अपग और शक्तिहीन वना दिया है। प्रत्येक सुधार-आन्दोलन मे इस विश्वास ने वड़ी ठेस पहुँचायी है।

यह विश्वास सर्वथा गलत है। मनुष्य के कर्मो का फल मिलता है; परन्तु इसका मतलव यह नही कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता नही है। मनुष्य वर्तमान् में जो कार्य करता है, वही आगे उसके प्रारब्ध-कर्म वन जाते है। इसलिए समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से सुयोग मिलना चाहिए जिससे वह अपना प्रारब्ध-निर्माण भली भाँति कर सके।

आधुनिक भारतीय साहित्य पर समाजवादी विचारधारा, गाधीवादी आदर्शवाद तथा डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रहस्यवादी विचारधारा का गहरा प्रभाव पडा है। इस युग के साहित्य की विशेषताएँ निम्नलिखित है:

(१) राष्ट्रीय जीवन की भाँति साहित्य में भी स्वातन्त्र्य-प्रियता का दर्शन हमे मिलता है। कविता को छन्द-शास्त्र के वन्धन मुक्ति के प्रयत्न में भी यह स्वाधीनता-प्रेम ही है।

(२) साहित्य आज किसी एक वर्ग की आकाक्षा की पूर्ति का साधन नही रहा है। वह अव जनता का साहित्य वन गया है। उसमें नैतिकता व लोक-कल्याण की भावना की प्रतिप्ठा फिर से नये ढग से हो रही है।

(३) आज का साहित्य जीवन के अधिक निकट हो गया है और उसमे

जीवन की विविध समस्याओ पर आधुनिक ढग से प्रकाश डाला गया है।

(४) आज के साहित्य मे मानवता के आदर्शों को महत्त्वपूर्ण स्थान पुन प्राप्त हो गया है। समाज तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो को सामजस्यपूर्ण बनाने के लिए उसमे प्रेरणा है।

(५) अन्तिम और महत्त्वपूर्ण विशेषता है अन्तर्राष्ट्रीय भावधारा का सुन्दर समन्वय।

भारतीय कला के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानो तथा भारत के पाश्चात्य सस्कृति के समर्थक विद्वानों की यह धारणा है कि वह यथार्थ का चित्रण नही करती और न उसमे स्वाभाविकता ही है। परन्तु वास्तव मे यह धारणा सर्वथा निराधार है। भारतीय कला मे कही भी कृत्रिमता दृष्टिगोचर नही होती और किसी के चित्रण मे स्वाभाविकता तो उसकी निजी विशेषता है। भारतीय कलाकार प्रकृति के बाह्य रूप से ही आकर्षित होकर अपनी कृति की रचना नही करता, वह उसके अन्तर मे प्रविष्ट होकर अपनी अन्तर्दृष्टि से उसकी सचाई की खोज करता है और इस खोज के बाद जो उसे यथार्थ का दर्शन होता है, उसका वह चित्रण करता है। ऋषि शुक्राचार्य ने, जो मुद्रा के आचार्य माने जाते है, अपनी 'शुक्रनीतिसार' पुस्तक मे लिखा है—

'किसी मूर्ति के स्वरूप की पूर्ण और स्पष्ट झलक मानसिक लोचनो के समक्ष उपस्थित करने के लिए, मूर्तिकार को चिंतन करना चाहिए और इस चिंतन पर ही उसकी सफलता निर्भर है। और दूसरा कोई ऐसा साधन नही —यहाँ तक कि दृश्य-वस्तु का निरीक्षण भी जो इस उद्देश्य को पूरा कर सके।" इसके आगे वह लिखते है —'कलाकार को मूर्त की प्राप्ति चिन्तन और साधना द्वारा ही सुलभ है। यह आध्यात्मिक दृष्टि ही उसके लिए सर्वश्रेष्ठ और सबसे सच्चा मानदण्ड है। उसे इसी पर निर्भर करना चाहिए, दृश्य वस्तुओ के बाह्य इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्षीकरण पर नही।'

इस प्रकार भारतीय कला मे दृश्य वस्तुओ का वह चित्रण नही है जो लोचनो का विषय है, प्रत्युत उसे तो कलाकार की अन्तर्दृष्टि ही

अनुभव कर सकती है और उसे वैसा ही चित्रित करती है। इसलिए कवि पहले योगी और दार्शनिक है; क्योंकि उसकी कला का जन्म ध्यान, योग और साधना के द्वारा ही सम्भव है।

संगीत-कला

प्राचीन काल मे सगीत-कला का भारत मे वडा प्रचार था। ऋषि-गण यज्ञ तथा अन्य उत्सवो पर साम-गान से जनता का मनोरजन करते थे। सामवेद को सगीत का आदि-स्रोत माना जाता है। ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी मे भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र की रचना की। यह नाट्य-शास्त्र ही भारतीय सगीत पर सबसे पुराना ग्रथ है जो आज प्राप्य है। नाट्य-शास्त्र मे मुख्यत नाटको के सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला गया है, परन्तु इसमे सगीत-कला के विपय मे भी विवेचन किया गया है। इसके वाद १३वी शताब्दी मे काश्मीर के शारगदेव ने 'सगीत-रत्नाकर' नामक ग्रथ लिखा। सगीत-कला पर यह वडी प्रामाणिक पुस्तक है और उस समय से अवतक सगीतज्ञो तथा सगीताचार्यो ने इससे प्रेरणा प्राप्त की है। चौदहवी सदी मे लोचन कवि ने राजतरगिनी की रचना की। यह भी सगीत-कला की मीमासा करती है। अकवर के शासन-काल मे खानदेश मे पुडरीक विट्ठल का जन्म हुआ। उन्होने सद्राग-चन्द्रोदय, रागमाला, रागमजरी और नर्तन-निर्णय ग्रन्थ लिखे। सत्रहवी शताब्दी मे अहोवाल्ला ने 'सगीत-पारिजात' की रचना की। इसी काल मे गढ देश के राजा महाराजा हृदयनारायण देव ने भारतीय सगीत पर 'हृदय-प्रकाश' नामक एक वडी उत्तम पुस्तक लिखी। शाहजहाँ के शासन-काल मे भाव भट्ट ने सगीत पर तीन पुस्तके लिखी—अनूपसगीतरत्नाकर, अनूपकुपा और अनूप-विलास। इसके वाद हमे इस कला पर कोई रचना प्राप्त नही होती। आधुनिक काल मे श्री वी० एन० भातखण्डे ने सस्कृत मे दो ग्रन्थ सगीतशास्त्र पर लिखे है—लक्ष्य सगीतम् और अभिनव रागमंजरी। ये दोनो भारतीय सगीत पर अन्तिम ग्रन्थ है। इसके वाद कोई भी ग्रन्थ नही लिखा गया।

इस प्रकार हम देखते है कि सगीत-कला का भारत मे बडा प्रचार रहा और उसके आचार्यों ने समय-समय पर उसके सिद्धान्तो का निरूपण किया। प्राचीन भारत मे सगीत-कला का प्रयोग केवल मनोरजन कभी नही रहा। सगीत का लक्ष्य था जीवन की व्याख्या करना और उसके लिए संगीत को अनुकूल बनाने मे ऋषि-मुनियो ने प्रकृति के मनोभावो, वैचित्र्य तथा सौन्दर्य का अध्ययन किया और उसके आधार पर भारतीय सगीत-कला की प्रतिष्ठा की। सगीत-कला के आचार्यों को इसका पूर्ण ज्ञान था कि वायुमण्डल की किस स्थिति मे किस प्रकार की सगीत-ध्वनि तथा लय उपयुक्त होती है। ध्वनि पर मौसम का प्रभाव पडता है। यह आजकल बेतार के तार तथा रेडियो-विज्ञान ने स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार प्रकाश और अधकार का भी ध्वनि पर प्रभाव पडता है। इसे प्राचीन सगीताचार्य भली भाँति जानते थे।

भारतीय गायन कला में भाव, रस तथा स्वाभाविकता और समय का विशेष ध्यान रखा जाता है। प्रत्येक कला मे कलाकार के भावो तथा अनुभूति की अभिव्यक्ति होना अनिवार्य है। सगीत इसका अपवाद नही है। भावों की अभिव्यक्ति प्रभावशाली ढग से होनी चाहिए। इसीलिए रसो का आश्रय लिया गया है। भारतीय कला मे नवरस प्राचीनकाल से माने जाते है—शृगार, करुण, शान्त, वीर, हास्य, अद्भुत, भयानक, रौद्र और वीभत्स। इन्ही के अनुसार राग-रागिनियाँ भी होती है। शृगार रस के लिए भैरवी, बगाली, बरारी, सैधवी, गौरी और श्री राग है। करुण के लिए जोगिया, भैरव, मालकोश, पूरिया इत्यादि है। प्रत्येक सगीतज्ञ को इसका पूरा ज्ञान होता है कि किस राग का किस रस से से सम्बन्ध है।

भारत में ६ मुख्य ऋतुएँ है—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त, शरद् और शिशिर। इन ऋतुओ के साथ नीचे लिखे ६ विशेष रागो का सयोग किया गया है —

राग	ऋतु	मास
हिंडोल	वसन्त	चैत्र-वैशाख
दीपक	ग्रीष्म	ज्येष्ठ-आपाढ

मेघ	वर्षा	श्रावण-भाद्रपद
भैरव	हेमन्त	आश्विन-कार्तिक
श्री	हेम	अगहन-पौष
मालकोश	शिशिर	माघ-फाल्गुन

सगीतज्ञो नें एक दिन-रात्रि को एक वर्ष मानकर सगीत के लिए उसका ६ ऋतुओ मे विभाजन किया है। इस प्रकार प्रत्येक काल-भाग के लिए भी एक-एक राग निर्धारित किया गया है—

भैरव	प्रात ४ वजे से ८ वजे तक;
हिंडोला	प्रात ८ से १२ तक,
मेघ	मध्याह्न-काल १२ से ४ तक,
श्री	सायकाल ४ से ८ तक,
दीपक	रात्रिकाल ८, से १२ तक,
मालकोश	मध्यरात्रि १२ से प्रात काल ४ तक,

भारतवर्ष में प्राचीन काल से दो प्रकार का सगीत प्रचलित है—मौखिक (vocal) और वाद्य-यत्र द्वारा (Instrumental music) । तवला सितार, वीणा, हारमोनियम, जल-तरग, सरोज, पखावज, वायलिन आदि वाद्य-यत्रो द्वारा गायन किया जाता है । आधुनिक समय में सगीत-कला के पुनरुज्जीवन तथा उसके प्रचार में दो महानुभावो ने सवसे अग्रगण्य भाग लिया । वे हैं महाराष्ट्र के सगीताचार्य प० विष्णु दिगम्वर पलुस्कर और सगीत-कला-विशारद श्री भातखण्डे ।

प्राचीन प्रणाली के सगीत मे वम्वई के सगीत-समर्थ श्री अल्लादिया खाँ और श्री फैयाज खाँ है । लाहोर के प्रो० दिलीपचन्द वेदी भारत के सर्वश्रेष्ठ ख्याल-गायक है । प्रो० नारायणराव व्यास तथा श्री वी० एन० पटवर्धन प्राचीन सगीत के आचार्य है । उस्ताद अल्लाउद्दीन खा भारत मे सर्वश्रेष्ठ सरोद-गायक हैं । तवला में आविदहुसैन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कला-विशारद है । इलाहावाद के श्री गगनचन्द्र चट्टोपाध्याय, जो गगनवावू के नाम से प्रसिद्ध हैं, वायलिन के सर्वश्रेष्ठ गायक है ।

इस प्रकार आज भारत मे सगीत कला के पुनरुज्जीवन के लिए जो

प्रयत्न हो रहा है, वह प्रशसनीय है। इस कार्य मे भारत विश्वविद्यालयो तथा कालेजो के प्रोफेसर तथा विद्यार्थीगण बडी रुचि के साथ भाग ले रहे है। विश्वविद्यालयो, कालेजो तथा हाई स्कूलो मे सगीत-कला के शिक्षण के लिए भी प्रबध किया जा रहा है। जहाँ-तहाँ प्रतिवर्ष सगीत-सम्मेलन होते है। इन अवसरो पर सगीत-प्रतियोगिताओ का आयोजन किया जाता है जिनमे छात्र-छात्राएँ समान रूप से भाग लेते है। विश्वविद्यालयो तथा हाई स्कूलो मे सगीत-शिक्षा के लिए भी व्यवस्था है तथा इस विषय मे परीक्षा का भी प्रबध है। इस कला के पुनरुद्धार के लिए शिक्षित पुरुषो तथा स्त्रियों का सहयोग आवश्यक है। आज के सभ्य समाज मे सगीत को घृणा की वस्तु नही समझा जाता। शिक्षित तथा सम्माननीय परिवारो की कुमारियाँ तथा महिलाएँ भी इस कला को अपना रही है।

नृत्य-कला

नृत्य-कला का सगीत-कला से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सगीत के समान नृत्य भी भारत में प्राचीन काल से प्रचलित है। एक समय था जबकि नृत्य-कला भारत मे उत्कर्ष की चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी।

प्राचीन भारत में नटराज शकर और उनकी पत्नी पार्वती, महाभारत के वीर योद्धा अर्जुन आदि नृत्य-कला मे आचार्य माने जाते थे। अर्जुन ने अपने अज्ञात-वास के समय राजा विराट की कन्या उत्तरा को नृत्य-कला की शिक्षा दी थी।

परन्तु कालान्तर मे नृत्य-कला भारत से लुप्त होगयी और जन-समाज तथा सभ्य-समाज मे इसे घृणा की वस्तु समझा जाने लगा। वेश्याओ ने सगीत तथा नृत्य-कला को अपनाया और इसके द्वारा वे नागरिको के लिए आकर्षक बनने मे साधक हुई। जब ये कलाएँ इनके द्वारा सरक्षित होने के कारण कलुषित और दूषित हो गयी, तब सभ्य-समाज मे सगीत और नृत्य के प्रति और भी अधिक घृणा पैदा हो गयी। परन्तु ऐसी दशा मे भी स्त्रियो ने ग्रामो और नगरो मे संगीत और

नृत्य की परम्परा को कायम रखने मे एक सीमा तक योग दिया।

देश मे राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन और राजनीतिक नवचेतना मे स्फूर्ति पाकर कला-प्रेमियो ने सगीत तथा नृत्य-कला के पुनरुज्जीवन के लिए फिर से प्रयत्न किया। १०-१५ वर्षो मे ही इस क्षेत्र में कलाकारो ने वडे मनोयोग से कार्य किया है। जिसका फल आज प्रत्यक्ष दीख पडता है। आज नृत्यकला का सगीत से भी कही अधिक आदर है। वड़े-वड़े सुसस्कृत तथा सभ्य परिवारों की कुमारिकाएँ, वालिकाएँ और स्त्रियाँ आज नृत्य-कला को सीख रही हैं।

भारतीय नृत्य के तीन भेद है—(१) नाट्य (२) नृत्य और (३) नृत्त।

नाट्यमें नर्तक या नर्तकी रगमच पर नाटक के अन्य पात्रो के साथ नृत्य करता या करती है। नृत्य मे राग, ताल और भाव तीनो की आवश्यकता होती है, परन्तु उसमे भाव का ही प्राधान्य होता है। और इसमे नर्तक या नर्तकी ऐतिहासिक या पौराणिक काल के किसी वीर नायक या नायिका के जीवन की किसी सामान्य घटना को अभिव्यक्त करता या करती है। नृत्य मे ताल की प्रधानता होती है। स्वर और ताल के साथ नाचना पडता है। नृत्त दो प्रकार का होता है—(१) ताण्डव (२) लास्य। शिवजी के नृत्त को ताण्डव तथा पार्वती के नृत्त को लास्य कहा जाता है। इसी कारण पुरुप ताण्डव करते है और स्त्रियाँ लास्य करती है।

नृत्य मे भाव, रस, राग, ताल और अभिनय होता है। नर्तक में जो भाव होते है वह उन्हे किसी न किसी रस द्वारा स्वर और ताल के साथ अपने अभिनय द्वारा व्यक्त करता है।

भावो का अभिनय चार प्रकार से किया जाता है—(१) आगिक (२) सात्विक (३) वाचिक और (४) वाह्य।

१ आगिक अभिनय में नर्तक मुद्रा-प्रदर्शन अर्थात् अगों और विशेप रूप मे हाथो के सकेतो द्वारा भाव प्रदर्शन करता है।

२. सात्विक अभिनय में नर्तक आँसू, कपन, स्वरभेद, भय, मूर्च्छा, मुस्कान, आदि शारीरिक अवस्थाओं के द्वारा भाव प्रदर्शन करता है।

३ वाचिक अभिनव मे शब्द या ध्वनि द्वारा भाव-प्रदर्शन किया जाता है।

४. बाह्य अभिनय मे वस्त्रालकार तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रो द्वारा प्रदर्शन किया जाता है।

भारतवर्ष मे आजकल दो प्रकार के नृत्य सबसे अधिक प्रचलित है—कथक और कथाकली। कथक लास्य नृत्त है और कथाकली ताण्डव।

कथक नृत्य

इस नृत्य में नृत्य लय और ताल मे बँधा होता है। इस नृत्य मे अधिकाश मे शृगार रस से परिपूर्ण मनोभावो की अभिव्यक्ति की जाती है। नृत्य मे पग, हस्त, गर्दन, भवें, और खास एक दूसरे से मिलकर तान मे चलते है। उत्तरी भारत मे इस नृत्य का अधिक प्रचार है।

कथाकली-नृत्य

इस नृत्य का दक्षिण भारत और विशेष रूप से केरल प्रान्त मे बडा प्रचार है। परन्तु यह अब समस्त भारत मे लोकप्रिय हो गया है। इस नृत्य मे मुद्रा के प्रदर्शन द्वारा नृत्य किया जाता है। इसमे हाथ, हथेली और उँगलियो के भिन्न सकेतो द्वारा भावो का प्रदर्शन किया जाता है। एकाकी कर-मुद्राएँ और सयुक्त-कर-मुद्राएँ कुल ६० है जिनका नृत्य मे प्रयोग किया जाता है। इन दोनो प्रकार की कर मुद्राओं द्वारा ५०० से अधिक शब्द व्यक्त किये जा सकते है। परन्तु मुख्यत ५ एकाकी मुद्राओ और कुछेक सयुक्त-मुद्राओ का प्रयोग सामान्यतया किया जाता है।

कुछ नृत्य-कला के आचार्यो के अनुसार कथाकली मे लास्य तथा ताण्डव दोनो प्रकार के भेद होते है। अर्थात् ताण्डव मे वीर तथा भयानक और रौद्र रस की अभिव्यक्ति की जाती है और लास्य मे शृगार, भक्ति तथा करुण रस की।

आजकल भारतीय नाट्य-कला के आचार्य, ससार-प्रसिद्ध नृत्य-कला-विशारद श्री उदयशकर भारत में नृत्य-कला के पुनरुज्जीवन के लिए उद्योग

कर रहे है। उन्होने यूरोप और अमरीका मे वर्षों तक अपनी कला का प्रदर्शन करके अतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है। अलमोडा की एक उपत्यका मे, प्रकृति की मनोरम गोद में उन्होने भारत-सस्कृति-केन्द्र (India Culture Centre) की स्थापना करके नृत्य के पुनरुज्जीवन के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिया है।

स्वय श्री उदयशकर के शब्दो मे "इस केन्द्र में सम्मिलित होनेवाले कलाकार गतिमय ससार को देखने, उसकी रंग-बिरंगी रूपरेखा को परखने और सजीव मूर्ति-रूप में उसे व्यक्त करने तथा उसकी नाना प्रकार की कोमल और भावपूर्ण भंगियो को साकार रूप से दृष्टिगोचर करने और कराने की शिक्षा दी जायगी। इसके पाठ्य-क्रम तथा अभ्यास की नींव शास्त्रोक्त रीति से होते हुए भी शरीर की सहज सुन्दर भाव-भगी के आधारभूत होगे। छात्रो में सक्रिय कल्पना-शक्ति की वृद्धि के लिए उन्हे कुछ खास तरह के ऐसे अभ्यास बताये जायेंगे, जिनसे वे चित्त को एकाग्र और भावुकता को बढ़ाने में समर्थ होते हुए अपनी भूले और कमियाँ स्वय समझ सके।

यह तो है सस्कृति-केन्द्र का लक्ष्य। अब कला के विषय मे कलाकार उदयशकर के विचार भी मननीय है—

"यद्यपि कलात्मक दिग्दर्शन वास्तविक जीवन से भिन्न होता है, परन्तु वह आधारित रहता है जीवन पर ही। भारत में हम कला को विविध दृष्टिकोण से देखते है। इनमें एक है मुद्राओ की सहायता से कला का दिग्दर्शन कराना। इसमें वास्तविक से, जो रंगमच पर किया जाता है, अधिक अर्थसूचक होता है और यही रस की अनुभूति है। यह जल के ऊपर के बुलबुलो की भांति नहीं बल्कि समुद्र के स्थायी अन्त स्रोत की भाँति होता है। दर्शक और कलाकार का वास्तविक समागम तभी सम्भव है जब कि कलाकार रस के इस स्थायी स्रोत का सुर छेड़ सके और उसे समवेत रसिक-मण्डली तक पहुँचाने में समर्थ हो सके। सिर्फ टेकनीक याद करने से काम न चलेगा। कलाकार का समूचा जीवन कलामय बनाना होगा जिससे वह सजीव मूर्तिकला को

१५

व्यक्त कर सके और तभी वह आध्यात्मिक विकास तथा भावना में प्रवेश कर सकेगा।"[१]

श्री उदयशंकर, वास्तव मे, आर्य सस्कृति और कला के एक महान् उन्नायक हैं। उन्होने भारत की मृतप्राय नृत्यकला को पुनरुज्जीवित करके उसमे मौलिकता तथा नवीनता की स्थापना की है। नृत्य भारत में अश्लीलता तथा कामुकता का बोधक बन गया था, पर उन्होने उसे अपनी साधना तथा सिद्धि द्वारा एक दैवी कला के रूप मे फिर से उपस्थित किया है।

भारत मे नृत्य-कला का प्रचार दिनोदिन बढता जा रहा है। कुमारी कनकलता, कुमारी अमलानन्दी, श्री साधना बोस, रुक्मिणीदेवी, श्री रागिनीदेवी (अमरीकन महिला) और श्रीमती मीनाक्षी रामाराव ने इस कला मे बडी प्रसिद्धि प्राप्त की है। और भारत के लिए विशेष गौरव की बात यह है कि भारत से बाहर इन कलाकारो के प्रदर्शनो से प्रभावित होकर अमरीका व यूरोप मे भारतीय नृत्य अधिक लोकप्रिय बनते जा रहे हैं। आज से प्राय ३०-३५ वर्ष पूर्व अमरीका मे मिस रूथ सेट डेनिस, ने जो अमरीका मे हिन्दू नृत्यकला की आचार्या मानी जाती है, अपने भारतीय नृत्यो से लोगो की श्रद्धा और प्रशसा प्राप्त की। वर्तमान समय मे ला-मेरी नाम की अमरीकन महिला अमरीका मे भारतीय नृत्य कला का प्रदर्शन कर रही है।

चित्रकला

चित्र-कला भी भारत मे प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित है। यो तो चित्र-कला के सबध मे अनेक प्राचीन सस्कृत-ग्रन्थो मे उल्लेख मिलता है, परन्तु विष्णु धर्मोत्तर पुराण के 'चित्रसूत्र' अध्याय मे उसका विस्तृत और सरस वर्णन है। डा० स्टेला क्रामरिश ने अग्रेजी भाषा मे इस अध्याय का अनुवाद किया है। डा० आनन्द कुमार स्वामी ने भी इसका अनुवाद

---

१. 'कर्मयोगी' (मासिक), प्रयाग, सितम्बर १९३

किया है। श्री नान्हालाल चमनलाल मेहता आई सी एस के मतानुसार 'शिल्प, नृत्य और चित्र-कला का महत्त्व समझने के लिए 'चित्रसूत्र' इतने महत्त्व का ग्रन्थ है कि उसका हिन्दी में किसी योग्य व्यक्ति द्वारा प्रामाणिक अनुवाद तुरन्त कराना चाहिए।' [1]

उपर्युक्त ग्रन्थ के आरम्भ मे मार्कण्डेय मुनि ने लिखा है--"विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्र सुदुर्विदम्।" नृत्य शास्त्र के अभ्यास के विना 'चित्र सूत्र' समझना कठिन है।

सन् ११२९ मे चालुक्य वश के नरेश सोमेश्वरके भूपति ने 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ मे चित्रकला का विवेचन किया और १६ वी शताब्दी में श्री कुमार ने 'शिल्परत्न' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमे चित्रकला का उल्लेख है।

वात्स्यायन के 'कामसूत्र' ग्रन्थ मे चित्र के ६ अग बताये गये है जो ये है

१ रूपभेद (आकृतिभेद) २ प्रमाण ३ भाव ४. लावण्य-योजना ५ सादृश्य और ६ वर्णिक भग (रगो का विधान)।

भारतीय चित्रकला के अन्तर्गत ४ प्रकार के चित्रो का उल्लेख मिलता है

१. भित्ति-चित्र---ये चित्र भवनों, मन्दिरो और यज्ञशालाओ की दीवारो पर बनाये जाते है। अजता की गुफा में इसी प्रकार के चित्र हैं।

२. चित्रपट---ये चित्र कपडे या कागज पर बनाये जाते है।

३ चित्र-फलक---ये चित्र पत्थर या लकडी पर बनाये जाते हैं।

४ धूलि-चित्र---ये चित्र रंगो से पृथ्वी पर बनाये जाते है। आजकल सयुक्तप्रान्त तथा अन्य प्रान्तो मे विवाह आदि शुभ अवसरो पर स्त्रियाँ रगो से पृथ्वी पर चित्र बनाती है। उसे 'चौक पूरना' या 'साझी' कहते हैं।

चित्रकला द्वारा चित्रकार अपने मनोभावो को इस रीति से अभि-

---

१ नान्हालाल चमनलाल मेहता : 'भारतीय चित्रकला'

व्यक्त करता है कि चित्र को देखनेवाले के हृदय मे भी वैसी भावना का उदय हो जाता है और इस प्रकार चित्रकार तथा दर्शक के बीच आध्यात्मिक सबध स्थापित हो जाता है।

ऐतिहासिक महापुरुषो के जीवन की घटनाओ, विशेष ऐतिहासिक घटनाओ तथा प्राकृतिक दृश्यो के सरक्षण के लिए चित्रकला सर्वोत्कृष्ट साधन है। प्राचीन काल मे धार्मिक कृत्यो और विवाहादि के अवसरो पर भी इसका प्रयोग किया जाता था। उसकी उपयोगिता असदिग्ध है।

भारतवर्ष मे चित्र-कला को विकसित करने तथा उसके सरक्षण का पूरा श्रेय हिन्दू चित्रकारो को है। आज जिसे हम लोग मुगल-चित्र-कला कहते है, उसके निर्माण मे भी हिन्दू चित्रकारो का ही हाथ है। हाँ, यह शब्द उस चित्रावली के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जो मुगल-काल मे तैयार की गयी थी।

भारत मे मुसलमान चित्र-कला के विरुद्ध रहे है। इसके कारण का उल्लेख करते हुए श्री मेहता ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है—

"कुरान के पांचवें अध्याय में लिखा है कि शराब, द्यूत, प्रतिमा-विधान, भविष्यकथन, ये सब शैतान के काम है। इन चीजो से मुसलमानो को बचना चाहिए। यद्यपि इसमें चित्रकला के लिए कोई निषेध नही, परन्तु हदीस के अनुसार कयामत के दिन चित्रकार को घोर नरक में स्थान मिलेगा; क्योकि उसने मनुष्य-कृत वस्तुओ में प्राण-संचार करने का दु:स्साहस किया है...सर टामस आरनाल्ड के मतानुसार यह तिरस्कार इसलिए सभव हो सकता है कि शुरू में इस्लाम धर्म के अनुयायी यहूदी थे जिनके मन में पुरानी प्रतिमाओ व चित्रो के प्रति बहुत ही दुर्भाव व तिरस्कार पैदा हुआ।" [१]

इस धार्मिक अधपरम्परा के होते हुए भी हम देखते है कि मुगल बादशाहो ने चित्र-कला को प्रोत्साहन दिया। आजकल भी सिनेमा-कला, जिसमे चित्र-कला को प्रमुख स्थान प्राप्त है, के विकास मे मुस्लिम अभि-

---

१ नान्हालाल चमनलाल : 'भारतीय चित्र-कला'; पृ० ३७

नेताओ तथा अभिनेत्रियो का पूरा हाथ है। ऐसे भी बहुत से चित्र मिलेगे जिन्हे मुस्लिम चित्रकारो ने बनाया है।

अजन्ता की गुफाओ की चित्र-कला

निजाम राज्य हैदराबाद में औरगाबाद से ५० मील दूर पर अजता प्रसिद्ध स्थान है। वहाँ चट्टान मे खोदकर ३२ गुफाएँ बनायी गयी है। जिनमे २९ विहार और ३ चैत्य है। अजन्ता की इन गुफाओ में आज से प्राय दो हजार वर्ष पूर्व चित्र बनाये गये थे। अजन्ता की तरह एलोरा मे भी चित्र-कला की शोभा दर्शनीय है। परन्तु इन दोनो में अन्तर यह है कि अजन्ता की कला विशुद्ध बौद्धकला है और एलोरा की कला में बौद्ध, जैन और हिन्दू-कलाओ का मिश्रण है। इन चित्रो से तत्कालीन जनता के रीति-रिवाजो, सस्कृति और धार्मिक-जीवन का पूरा पता लग जाता है। इन विहारो मे महात्मा बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओ को कलाकारो ने बडे मार्मिक तथा प्रभावशाली ढग से चित्रित किया है। वास्तव में ये भारतीय कला के आश्चर्य-जनक प्रतीक है, जो आज भी उसकी सर्वश्रेष्ठता को पुकार-पुकारकर बताते है।

श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने चित्र-कला मे जो युगान्तर उपस्थित किया है तथा स्व० श्री शारदाचरण उकील ने जिस परम्परा को चलाया है उससे इस कला में बडी उन्नति हुई है। आजकल नन्दलाल वसु, असितकुमार हालदार आदि अच्छे चित्रकार है।

वास्तु-कला

प्राचीन भारत में जहाँ आर्य-जाति ने अन्य कलाओ मे उन्नति की वहाँ वास्तु (भवन-निर्माण) कला में भी आश्चर्यजनक उन्नति की थी। प्राचीन सस्कृत साहित्य तथा विशेषत रामायण और महाभारत के अध्य-यन से यह स्पष्टरूप से विदित हो जाता है कि आर्यलोग अपने निवास-स्थान बनाने, यज्ञ-शाला, धर्मशाला तथा अन्य सार्वजनिक भवन आदि बनाने में वास्तु-कला के सिद्धान्तो से काम लेते थे। धातु के भी मकान

बनाये जाते थे। इन्द्रप्रस्थ मे महाभारत-कालीन भवनो के जो भग्नावशेष आज मौजूद है, उनसे भी यह प्रमाणित हो जाता है कि पहले कलाकार मकान बनाने मे ऐसी सामग्री का प्रयोग करते थे जो आज की अपेक्षा अधिक मजबूत होती थी।

मौर्य्य-काल मे वास्तु-कला समृद्धि पर थी। पाटलिपुत्र मे सुन्दर भवन थे। लकडी का काम भी बडा कलापूर्ण था। भारहुत, साची, और अमरावती के स्तूप बौद्ध वास्तु-कला के सुन्दर नमूने है। कनिष्क तथा हुविष्क ने भी कई दर्शनीय इमारते बनवायी थी। गुप्त-काल मे बनारस तथा मथुरा के कई मन्दिरो का निर्माण किया गया था। हर्ष के शासन-काल मे नालद मे बडे भव्य मकान बनाये गये। बनारस, मथुरा और कन्नौज मे हिन्दू तथा बौद्ध मन्दिर बन गये थे।

एलोरा का कैलास-मन्दिर वास्तु-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। मुस्लिम-शासन-काल मे भी वास्तु-कला की बडी उन्नति हुई। मुगल-काल मे बादशाहो के लिए बडे-बडे राज-प्रासाद तथा गढ और मसजिदे बनायी गयी। इस समय हिन्दू-वास्तुकला को सरक्षण न मिलने के कारण वह लुप्त-सी हो गयी। सन् १२३१ मे कुतुबमीनार बनायी गयी जिसकी ऊँचाई २४० फीट है।

अकबर ने फतहपुर-सीकरी मे शेख सलीम चिश्ती की दरगाह, और आगरा तथा इलाहाबाद मे किले बनवाये। मुगल-काल की वास्तु-कला की सबसे आश्चर्यजनक कृति है सम्राट् शाहजहाँ का अपनी बेगम की कब्र पर बनवाया हुआ ताजमहल, जो ससार की सुन्दर इमारतों मे गिना जाता है।

मूर्ति-कला

भारत मे मूर्ति-कला की भी बडी उन्नति हुई है। प्राचीन काल मे हिन्दू देवी-देवतो तथा अपने इष्टदेवो की अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ बनाते थे। ये पत्थर, धातु, लकडी या हाथी दाँत की होती थी। बौद्ध तथा जैन-काल मे भी मूर्ति-कला का पर्याप्त विकास हो चुका था।

नागरिक जीवन और कला

नागरिक जीवन को सर्वश्रेष्ठ और समाजोपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे संस्कृति के ढाँचे मे ढाला जाये। संस्कृति का अर्थ है—परिष्कार और संस्कार। मानव-जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए कला ही सर्वोत्तम साधन है। प्रत्येक युग मे जब मानव-समाज ने अभ्युदय प्राप्त किया तब ऐसा वह कला के विकास द्वारा ही कर सका। वास्तव मे मानव-एकता और विश्व-बन्धुत्व की स्थापना करने मे कला का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। जब-जब समाज ने विशुद्ध कला की साधना की तब-तब उसने शान्ति, समृद्धि और मानव-एकता को प्राप्त किया और जब-जब समाज कला के नाम पर विलासिता और कामुकता मे लीन होगया, तब-तब उसे पतनोन्मुख होना पडा है। इतिहास इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इसकी सिद्धि के लिए भारतीय इतिहास से दो प्रमाण दे देना उचित होगा।

मौर्य-काल मे समाज कितना प्रगतिशील था और जनता मे कितनी सुख-समृद्धि थी! उस काल मे मानव-समाज में विशुद्ध कला की पूजा की जाती थी। परन्तु मुगल काल मे जब कला को राजाओ तथा नवाबो के राज-प्रासादो मे परिमित कर—जनता के बीच से उसे पृथक् कर—उनके मनोरंजन तथा विलासिता का साधन बना दिया गया तब हिन्दू-कला के पतन के साथ भारतीय जीवन और चरित्र का भी पतन हो गया। यही कारण है कि हम मौर्य्य-कालीन चित्रकला मे भक्ति-भावना की झलक पाते है—उसमे जीवन के बंधन से मुक्ति पाने की साधना का स्पष्ट आभास मिलता है। परन्तु मुगल काल की कला मे हम कामुकता, निम्न-कोटि के शृंगार और विलासिता की छाया पाते है। कारण स्पष्ट है कि मौर्य्य-काल मे कला जन-समाज मे एकता स्थापित करने के लिए थी, परन्तु मुगल-शासन मे वह अपने इस उच्च ध्येय से भ्रष्ट कर दी गयी और एक वर्ग-विशेष के मनोरंजन की साधन बन गयी।

कला का लक्ष्य मानवता को मुक्ति की ओर ले जाना है। वह मानव जीवन को श्रेष्ठ बनाने का काम करती है। वह समाज मे एकता

की प्रतिष्ठा के लिए एक सर्वोत्कृष्ट साधन है।

वर्तमान काल मे हम जो विश्व-सस्कृति तथा समाज-एकता के विनाश का भयानक दृश्य देख रहे है उसका कारण है सच्ची कला की उपासना की उपेक्षा। वैज्ञानिको ने बडे चिंतन तथा परिश्रम के बाद जिन नवीन-नवीन आविष्कारो तथा वैज्ञानिक चमत्कारो का आविर्भाव मानव-कल्याण के लिए किया था, उनका प्रयोग आज मानवता के विनाश के लिए हो रहा है !

कला और विज्ञान इन दोनो का मानव-जीवन के उत्कर्ष मे महान् स्थान है। जिस प्रकार मनुष्य-शरीर मे मस्तिष्क और हृदय का स्थान है, उसी प्रकार मानव-जीवन मे विज्ञान और कला का स्थान भी है। विज्ञान मानव-मस्तिष्क की उपज है और कला का सबध हृदय से है। विज्ञान विचार-प्रधान है—वह सत्य की जाँच करता है और कला भावना-जगत मे उस सत्य की प्रतिष्ठा करती है। एक का विकास तथा उत्कर्ष दूसरे पर निर्भर है। एक की अशुद्धि का प्रभाव दूसरे पर अनिवार्य है। यदि हृदय किसी तरह विकारपूर्ण हो जाये तो उसका प्रभाव मस्तिष्क पर पडे बिना न रहेगा और फलत सम्पूर्ण शरीर उस विकारपूर्ण हृदय से प्रभावित हो जायेगा। इसी प्रकार यदि मानव-जीवन मे कला अपने उद्देश्य या लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाये तो विज्ञान भी उससे प्रभावित हुए बिना न रहेगा।

आज ससार मे जो भीषण ताण्डव हो रहा है और जिसके फलस्वरूप मानवता का सहार हो रहा है, उसका मूल कारण यही है कि पाश्चात्य देशो ने कला को भ्रष्ट कर उसे अपने विलास का साधनमात्र बना लिया है। इसी कारण आज वहाँ कला और विज्ञान दोनो मे कोई सबध नहीं रहा है। कला-शून्य जीवन मे विज्ञान आज कल्याण के स्थान पर सर्व-नाश की वर्षा कर रहा है।

अत साराश यह है कि नागरिक-जीवन मे कला—विशुद्ध कला को फिर से उसी उच्चासन पर बिठाया जाये जिससे वह मानव-समाज में एकता की स्थापना कर सके।

संस्कृति

संस्कृति क्या है ?

'सस्कृति' शब्द सस्कृत से वना है। सस्कृत का अर्थ है शुद्ध किया हुआ, परिमार्जित, परिष्कृत, सँवारा हुआ। सस्कृत विशेषण है और सस्कृति सज्ञा है। अत सस्कृति का अर्थ हुआ शुद्धि, परिमार्जन तथा परिष्कार। मानव-समाज के सामाजिक जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनानेवाली जो एक प्रवृत्ति है, उसी का नाम सस्कृति है। प्रसिद्ध अग्रेज विचारक सर मॉरिस ग्वायर ने अपने एक भापण मे सस्कृति के सवध मे जो विचार प्रकट किये है उनसे इसका अर्थ और भी स्पप्ट हो जायेगा।

"मै यह कहना चाहूँगा कि सच्ची सस्कृति का मुख्य निर्देशक सहानुभूति है, दिखावा अथवा उसका दावा नही। पाडित्य का भाडार, कला का ज्ञान तथा मनुष्यो व पुस्तको से परिचय 'सस्कृति' वनाते है, ऐसा मै नही समझता, पर सस्कृति जिससे वनती है वह वह वृत्ति है जो इन सवके मिल जाने से उत्पन्न होती है। सच्ची सस्कृतिवाले मनुष्य मे मूल्य आँकने और ठीक-ठीक नापतौल की योग्यता मिलती है। और ऐसे मनुष्य के हृदय मे कभी ऐसा विचार आ ही नही सकता कि वह वह नही है जो दूसरे मनुष्य है, या जो मानवता सवमे व्याप्त है उसे भूल जाये।"

सस्कृति के सम्बन्ध मे योग्य विद्वान् ने जो अपना मन्तव्य प्रकाशित किया है, उससे शायद ही किसी सच्चे सुसस्कृत व्यक्ति का मतभेद हो। वास्तव मे सस्कृति का प्रयोजन मानव-समाज की एकता ही है। एक सस्कृत पुरुप के लिए सव मानव समान है। वह न जाति के भेद-भाव को मानता है और न धर्म के भेद को। सस्कृति मानव-एकता का अनुभव कराती है। वह मनुष्य को यह सिखाती है कि सव मानव वरावर है, कोई मानव किसी दूसरे से भिन्न नही।

आर्य-संस्कृति के आदर्श

मानव-शरीर के तीन मुख्य भाग है—सिर, हृदय और धड। मस्तिप्क के भी तीन महत्त्वपूर्ण कार्य है—अनुभूति, भाव और इच्छा।

इसी प्रकार सस्कृति के भी, जिसका मानव-जीवन के विकास और मानसिक उत्कर्ष से सम्बन्ध है, तीन अग है। उसका दर्शन और विज्ञान, उसका धर्म और कला और उसका कर्मकाण्ड। इस तरह सस्कृति मे ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनो का समन्वय है।

आर्य-सस्कृति के दार्शनिक पहलू पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका सबसे प्रधान लक्ष्य लोकसग्रह—मानव-मात्र का कल्याण है। उसकी दृष्टि मे केवल मानव ही नही सभी प्राणी समान है। वह जाति, रग तथा मत के भेदभाव को नही मानती।

आर्य-सस्कृति का आदर्श यह है कि मानव विश्व मे धर्म, अर्थ और काम की साधना द्वारा अभ्युदय को प्राप्त करता हुआ नि श्रेयस की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करे। यह तो निर्विवाद है कि आर्य-सस्कृति आध्यात्मिक है, उसमे आत्मोत्कर्ष को सबसे बडा स्थान प्राप्त है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि वह भौतिक उन्नति का विरोध करती है।

आर्य-सस्कृति के अनुसार मानव का यह धर्म है कि वह धर्मद्वारा अर्थ की प्राप्ति करे—वह अपनी जीविका धर्म-युक्त कार्यो से ही कमाये। उसे इसके लिए अधर्म का आश्रय न लेना चाहिए। यह है आर्य-सस्कृति का दर्शन-शास्त्र।

आर्य-सस्कृति का भक्ति-पक्ष सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा का सामजस्यपूर्ण समन्वय है। सरस्वती का अर्थ है विद्या, ज्ञान-विज्ञान, लक्ष्मी का अर्थ है, धन-सम्पत्ति और दुर्गा का अर्थ है शक्ति। मानव को अपने जीवन मे इन तीनो की आवश्यकता है। वह पहले सरस्वती की पूजा करे अर्थात् ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करे, उससे वह लक्ष्मी की पूजा करने मे समर्थ होगा। वह ज्ञान-विज्ञान द्वारा उद्योग-धन्धो मे उन्नति करके धन पैदा कर सकेगा और इस तरह अन्त मे उसे शक्ति प्राप्त होगी। यह शक्ति केवल पाशविक ही नही होगी, क्योकि उसके मूल मे ज्ञान-विज्ञान की प्रेरणा होगी। वह शक्ति केवल 'आर्थिक' नही होगी क्योकि उसमे आध्यात्मिकता का अश भी होगा।

आर्य-सस्कृति का तीसरा पक्ष है—कर्मकाड। ज्ञान और भक्ति के बाद

कर्म आता है। आर्य-सस्कृति का सारा कर्मकाड पतजलि के योगदर्शन के एक सूत्र मे निहित है। यह सूत्र है—यम-नियम का। अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच 'यम' है और शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पाँच 'नियम' है। जो ससार मे सुखी जीवन बिताना चाहता है और उसके बाद पारलौकिक शान्ति की इच्छा करता है, उसे इन दस नियमो के अनुसार आचरण करना चाहिए।

सक्षेप मे यही आर्य-सस्कृति का मौलिक स्वरूप है। आज के हिन्दू-समाज मे, यद्यपि हम इन आदर्शो की पूर्ण प्रतिष्ठा नही पाते, तथापि यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आज भी हिन्दू-जीवन इन आदर्शो के अनुसार आचरण करना अपना धर्म मानता है।

आर्य-संस्कृति की प्रवृत्तियाँ

आर्य-संस्कृति का अनुशीलन करने पर आर्य-जीवन की कई विशेषताएँ व्यक्त होती हे।

आर्य-सस्कृति की प्रथम और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह है कि वह पारलौकिक आनन्द,शान्ति या मुक्ति को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर मानव को भोगवाद से पद-पद पर सतर्क रखने की चेष्टा करती है। यह शरीर तथा जड जगत नाशवान् है,इसलिए प्रत्येक मनुष्य को आत्मा को— जो अजर है, अमर है, अजन्मा है तथा अनादि है—इस भोगवाद से पतित हो जाने से बचाना चाहिए। इसीलिए हिन्दू-जीवन मे तपस्या, व्रत, दान, दक्षिणा आदि का विशेष महत्त्व है।

आर्य-सस्कृति मे व्यक्ति का उच्च स्थान है, परन्तु वह समाज से ऊँचा नही है। वर्ण-व्यवस्था से वदिक समाजवादी प्रवृत्ति का पूरा निर्देश मिलता है। समाज के हित के लिए मनुष्य को अपने हित का बलिदान करने की शिक्षा आर्य-सस्कृति का प्रमुख अग है।

आर्य-सस्कृति अपनी समाजवादी प्रवृत्ति के कारण ही त्याग पर अधिक जोर देती है। वह भोगवाद को आत्मिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय मे बाधक मानती है।

आर्य-सस्कृति मे धर्म ओतप्रोत है। वह समाजनीति, अर्थनीति, और राजनीति सभी मे विद्यमान है। वह वास्तव मे जीवन की एक मूल प्रेरक शक्ति है।

आर्य-सस्कृति मे हम सामजस्य की भावना पाते हैं। हम चाहे भाषा को ले, चाहे साहित्य को, चाहे कला को, चाहे सामाजिक जीवन को—सभी क्षेत्रो मे सहयोग की भावना मिलेगी। सघर्ष और वर्गवाद के लिए आर्य-सस्कृति मे कोई स्थान नही है।

अरबी और मुस्लिम संस्कृति

भारत मे अरबी सस्कृति का प्रवेश मुसलमानो के आगमन से हुआ। अरबी सस्कृति धार्मिक, सैनिकवादी और राजनीतिक है। वह एकेश्वरवादी और मूर्ति-पूजा-विरोधी है। अरबी सभ्यता मे प्रचार की भावना ओत-प्रोत है। अरबी सस्कृति की सबसे प्रमुख विशेषता है धार्मिक प्रवृत्ति। हिन्दू सस्कृति के समान ही मुस्लिम मस्कृति मे धर्म और ईश्वर की भावना ओतप्रोत है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर धर्म का प्रभाव है। इस्लाम के कानूनो का आधार भी कुरान ही है जो मनुष्य-कृत नही है। मुसलमानो की जीवनचर्या भी इस प्रकार निर्धारित की गयी है कि वे ईश्वर और धर्म को विस्मृत नही कर सकते। दिन मे पाँच बार नमाज पढना तथा शुक्रवार को मसजिद मे सम्मिलित रूप से नमाज पढना उनकी धार्मिकता का एक प्रमाण है।

मुस्लिम सस्कृति मे वीर-पूजा को ऊँचा स्थान प्राप्त है। वीर-पूजा का अर्थ इस हद तक लगाया गया है कि जो काफिरो के साथ धर्म-युद्ध मे अपना वलिदान करदे तो वह सीधा स्वर्ग को जाता है।

मुस्लिम सस्कृति मे दानशीलता भी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। मुसलमान दान-दक्षिणा देना तथा इस्लाम की उन्नति के लिए मसजिद बनवाना तथा धर्म-प्रचार के लिए दान देना अपना कर्तव्य समझते है।

मुस्लिम सस्कृति मे स्त्री की पवित्रता तथा उसके सतीत्व की रक्षा के लिए भी विशेष व्यवस्था है। मुसलमान अपनी स्त्रियो को कड़े

परदे मे रखते है और मुस्लिम कानून मे भी ऐसी व्यवस्था की गयी है कि मुस्लिम स्त्री विधर्मी के साथ विवाह नही कर सकती। मुस्लिम पुरुष तो ईसाई, पारसी या यहूदी के साथ शादी कर सकता है।

मुस्लिम सस्कृति मे मानवीय एकता तथा समानता पर अधिक जोर दिया गया है। सब मनुष्य परमात्मा की दृष्टि मे समान है। मनुष्य को मनुष्य के साथ समान व्यवहार करना चाहिए।

मुस्लिम संस्कृति में परिवर्तन

हमने अरबी सस्कृति की जो विशेषताएँ ऊपर बतलायी है, वे आदिम अवस्था की विशेषताएँ है। जब मुसलमान अपने अरब देश को छोड कर विदेशो मे इस्लाम के विस्तार के लिए गये तब उनकी सस्कृति पर तत्कालीन परिस्थितियो का प्रभाव पडा और उसमे परिवर्तन होने लगे।

मुस्लिम सस्कृति मे जो परिवर्तन हो गया, उसका वर्णन श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने इस प्रकार किया है—

"मुसलमान को यह सिखाया जाता है कि 'हमारा ही मजहब दुनिया में सबसे अच्छा है; यही एक ईश्वर तक पहुँचने का सबसे बेहतर रास्ता है। जो खुदा को नहीं मानता वह काफिर है, काफिर खुदा का मुन्किर—ईश्वर-विमुख—है; इसलिए वह मार डालने के लायक है। जो एक भी काफिर को दीने इस्लाम में लाता है, वह खुदा की मेहर हासिल करता है—जिस तरह हो सके इस्लाम को बढ़ाओ।' इसी उपदेश में मुस्लिम सस्कृति और मुसलमानो के स्वभाव में पायी जानेवाली अमर्याद हिंसा-वृत्ति, असहिष्णुता···का बीज है। मुसलमानो का यह उग्र हिंसक स्वभाव चाहे तत्कालीन अरब की परिस्थिति के कारण बना हो, चाहे पैगम्बर साहब के कुछ उपदेशो का दुरुपयोग करने के कारण बना हो—आज के सभ्य जगत् में वह आक्षेपयोग्य एव अक्षम्य है।"[1]

इसमे तनिक भी सन्देह नही कि आधुनिक मुस्लिम सस्कृति मे

---

१ श्री हरिभाऊ उपाध्याय 'स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्त्तव्य', पृ० ८४

असहिष्णुता की अधिकता है। यह धर्मो की मौलिक एकता मे विश्वास नही करती। इसीलिए वह दूसरे धर्मो के प्रति सहिष्णु नही है। यही कारण है कि भारत मे धर्म की आड मे साम्प्रदायिक सघर्ष दैनिक जीवन का अग बन गये हैं।

सच तो यह है कि भारत के मुसलमानों का दृष्टिकोण इस्लामी रग मे इतना अधिक रँगा हुआ है कि वह आज न स्वधर्मानुयायी अन्य देशो की स्थिति को समझने या अवलोकन करने का कष्ट करता है और न ससार की परिस्थिति तथा परिवर्तन को समझने का प्रयास ही।

आज मिश्र तथा टर्की जैसे स्वाधीन मुस्लिम राष्ट्रो मे मुस्लिम सस्कृति मे कितना कायापलट हो गया है ! परन्तु भारत के मुसलमान नेता इसपर विचार करने का कष्ट नही करते। आज तुर्की मे प्रजातत्र शासन-प्रणाली है। और वहाँ शासन का आधार शरियत नही है जिसका मुख्य स्रोत कुरान है। टर्की के मौलिक विधान मे स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि—

"सरकार बिना किसी शर्त या बाधा के राष्ट्र की है। राज्य की शासन-प्रणाली इस आधार पर स्थित है कि जनता कार्य-कुशलता के साथ शासन करती है।[१]

सोवियट रूस के १२ से अधिक राज्यो मे जिनमे मुसलमानो की सख्या अधिक है, मुस्लिम-कानून मे जो कायापलट हो गया है वह अच्छी तरह देखा जा सकता है। यहाँ तक कि सोवियट सघ और टर्की के वक्फ की सम्पत्ति को राज्य-प्रबन्ध तथा सामाजिक सुधार के कार्यो मे व्यय किया जाता है। आज इन दोनों मे शिक्षा कुरान के अनुसार नही दी जाती और न केवल मकतब ही शिक्षा के केन्द्र है। आज उनमे पाश्चात्य ढग से शिक्षा की व्यवस्था है। तुर्की मे तो सहशिक्षा—लड़के-लडकियो को साथ-साथ एक ही स्कूल में पढने की भी सुविधा है। तुर्की मे परदा-प्रथा का सर्वथा त्याग कर दिया गया है। नमाज भी पाँच बार नही पढी जाती। टर्की ससार के मुस्लिम राष्ट्रो में पहला है जिसने बहुविवाह

१. 'टर्किश लॉ ऑव फडामैण्टल ऑर्गनिजेशन'. नं० ८५ (१)

की प्रथा को उठा दिया है। आज वहाँ मुस्लिम केवल एक ही पत्नी से शादी कर सकता है। अब वह एक साथ चार पत्नियाँ नहीं रख सकता।[१]

आर्य-संस्कृति पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव

जब एक जाति दूसरी जाति के सम्पर्क में आती है तो स्वाभाविक रूप से उन दोनो मे संस्कृतियो का आदान-प्रदान होता है। भारत मे कई सदियो तक मुसलमानो का शासन रहा। उस समय भारत का राजधर्म इस्लाम होने के कारण उसका हिन्दू-संस्कृति पर भी बहुत प्रभाव पडा।

हिन्दुओ मे जो कट्टरपंथी थे उन्होने इस्लाम के प्रभाव से अपनी रक्षा करने के लिए सामाजिक बन्धनो को और भी कडा बनाने का उद्योग किया और जातपाँत के नियमो का बडी कठोरता के साथ पालन किया जाने लगा।

वे मुसलमानो को म्लेच्छ कहते थे और उनके सम्पर्क तथा संसर्ग से बचने के लिए बड़े सतर्क रहते थे। अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए ही सामाजिक बहिष्कार की प्रथा शुरू हुई है।

इस्लाम के सम्पर्क मे आने का प्रभाव यह हुआ कि हिन्दू समाज मे जातपाँत की कुप्रथा ने अधिक भयंकर रूप धारण कर लिया और अस्पृश्यता का भी पालन बड़ी सतर्कता से किया जाने लगा। मुसलमानो से छूतछात की जाने लगी और जो लोग मुसलमानो के सम्पर्क मे रहने लगे उनसे भी कट्टरपंथी छूतछात करने लगे। इस प्रकार वे हिन्दू-समाज के लिए 'अस्पृश्य' बन गये।

हिन्दुओ की सामाजिक व्यवस्था पर भी मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव पडा। हिन्दू-समाज मे ऐसे अनेक सुधारक और धार्मिक नेता तथा महात्मा पैदा हुए हैं जिनके उपदेशो में इस्लाम के उपदेशों की झलक स्पष्ट ही दीख पडती है। रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य, वल्लभाचार्य आदि ऐसे कितने ही सन्त पैदा हुए जिन्होंने जाति-प्रथा के विरुद्ध प्रबल प्रचार किया और हिन्दू-समाज मे समता के आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए उपदेश दिये।

---

१. हेनरी ई० एलेन 'इस्लाम एण्ड सम मॉडर्न प्रॉब्लेम्स इन टर्की' ('हिन्दुस्तान रिव्यू', जुलाई १९३४)

भारत मे मुस्लिम सस्कृति के प्रभाव से हिन्दुओ मे परदा-प्रथा का विकास हुआ। मुसलमानो से अपनी मा-बहनो की रक्षा करने के लिए उन्हे परदे मे रखा जाने लगा। इस तरह परदा हिन्दू-समाज का एक रिवाज बन गया।

मुसलमानो के आगमन से पहले हिन्दुओ की पोशाक वैसी थी जैसी हम राजपूत-काल के चित्रो मे देखते है वे सिर पर पगडी बाँधते थे और देह पर एक बडा लम्वा चोगा-सा पहनते थे जो घुटनो से भी नीचे तक होता था। धोती तो बहुत ही पुरानी पोशाक है।

मुसलमानो का अनुकरण करके हिन्दू भी कुर्ता, पायजामा, अचकन शेरवानी आदि पहनने लगे। स्त्रियो के आभूपणो मे भी नये-नये नकशो का अनुकरण किया गया।

मुसलमान बादशाह तथा नवाव अपनी विलासिता के लिए बदनाम थे। मुगल-दरबार व्यभिचार और पाप-लीला का केन्द्र बन गया था ऐसी दशा मे हिन्दू महिलाओ का सतीत्व सकट मे था। नवयुवतियों और कुमारियो का अपहरण और उनके साथ बलात्कार सामान्य घटना थी। इसी कारण हिन्दुओ मे बाल-विवाह तथा अनमेल विवाह का रिवाज चल पडा।

हिन्दुओ के नैतिक जीवन पर भी मुस्लिम सस्कृति का बडा प्रभाव पडा। समाज मे मदिरा-पान और विलासिता अधिक वढ गयी। अज्ञान तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूल जाने के कारण सैकडो प्रकार के अन्ध-विश्वासो ने यहाँ अपनी जड जमा ली। अवतक तो हिन्दू देवी-देवतो की ही पूजा होती थी। परन्तु अब अज्ञानी हिन्दू स्त्री-पुरुष मुसलमान फकीरो, मुल्लाओ और मौलवियो से तावीज, गण्डे और दवा लाने लग गये। यह अन्ध-विश्वास यहाँ तक वढा कि मुसलमानो के पीर, मदार, सैयद और कब्रो के पत्थरो तक की पूजा होने लगी।

मुसलमानो के शासन-काल मे अरबी और फारसी को राजभापा का पद मिला। भारत के उत्तरी प्रान्तो मे मुसलमानो का शासन अधिक काल तक रहा। आगरा, देहली तथा लखनऊ मुगलकाल म राजधानी रह चुके है। फलत भारत के उत्तर मे सस्कृत भापा का प्रचार

कम हो गया और उसके दक्षिणी प्रान्तो मे उसका प्रचार बढ गया। हिन्दू जनता मे हिन्दी भाषा का प्रचार बढने लगा। इस काल में जो साधु-सन्त पैदा हुए, उन्होने अपनी पुस्तके हिन्दी भाषा मे लिखी। फारसी और अरबी भाषा का प्रयोग करनेवाले मुसलमान जब हिन्दुओं के सम्पर्क में आते थे तो उन्हे अपनी भाषा मे सस्कृत, हिन्दी तथा बोलचाल के सरल शब्दो का प्रयोग करना पड़ता था जिससे वह हिन्दुओ के लिए बोधगम्य हो सके। यही भाषा धीरे-धीरे विकसित होकर 'उर्दू' हो गयी।

भारतीय वास्तु-कला, सगीत, काव्य, साहित्य तथा भाषा पर भी मुसलमानो की सस्कृति का प्रभाव पडा, परन्तु इन क्षेत्रों में मुस्लिम सस्कृति का जो प्रभाव पडा वह ऐसा नही था कि जिससे आर्य्य-सस्कृति के आदर्शो पर कोई आघात पहुँचा हो।

मुस्लिम संस्कृति पर आर्य संस्कृति का प्रभाव

केवल आर्य सस्कृति पर ही मुस्लिम सस्कृति का प्रभाव नही पडा बल्कि मुस्लिम-सस्कृति भी आर्य-सस्कृति से प्रभावित हुई। भारतीय वेदान्त और एकेश्वरवाद का अनेक मुस्लिम सन्तो तथा दार्शनिको पर गहरा प्रभाव पड़ा और इस प्रकार प्रभावित होकर उन्होंने मुसलमानो मे कई ऐसे मतो की स्थापना की जो शान्ति और मानवता एव सहिष्णुता मे विश्वास करते है।

मुगल सम्राट अकबर के नवरत्नो मे शेख अबुलफज़ल प्रसिद्ध धार्मिक विद्वान् और इतिहासकार हुआ है। उसने एक फारसी इतिहास-ग्रथ 'आईने अकबरी' लिखा है। शेख अबुलफज़ल यद्यपि सूफीमत का अनुयायी था, परन्तु उसपर वेदान्त और गीता का बडा प्रभाव पड़ा था। उसने लिखा है—

"मुझपर यह बात रौशन हो गयी है कि आमतौर पर लोगो का यह कहना कि हिन्दू लोग उस अद्वितीय परमेश्वर के साथ औरो को भी शरीक करते है, सत्य के अनुकूल नहीं। यद्यपि किसी-किसी बात की व्याख्या और उसकी युक्तियो के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, तथापि

हिन्दुओं की ईश्वरभक्ति और उनका एकेश्वरवाद दोनों मेरे हृदय में निर्विवाद जम गये है। तब मेरे लिए यह आवश्यक हो गया है कि मै इन लोगों की अध्यात्मविद्या, उनके दर्शनशास्त्र, आत्म-संयम की उत्तरोत्तर अवस्थाएँ और उनसे अनेक रस्मोरिवाज पर खुला प्रकाश डालूं ताकि उनके विरुद्ध द्वेष के भाव कम हों और सांसारिक लोगो की तलवारें खून बहाने से रुकें, भीतरी और बाहरी झगडे शान्त हो जायें और विरोध और शत्रुता के कंटकों की जगह परस्पर मित्रता का हरा-भरा उद्यान दिखायी देने लगे ताकि सच्चे शास्त्रार्थ और धर्म-चर्चा के लिए जलसे हो सकें और ज्ञान-विज्ञान की खोज के लिए सभाएँ की जा सकें।"[१]

शेख अबुलफजल सच्चा अद्वैतवादी था और सर्वधर्मसमन्वय अथवा सब धर्मो की मौलिक एकता मे उसका पूर्ण विश्वास था। वह अहिसा का उपासक था। 'आईने अकबरी' मे उसने लिखा है—

"तरह-तरह के भोजन मनुष्य के लिए मौजूद है, केवल अज्ञान और क्रूरता के कारण मनुष्य पशुओ को कष्ट देने पर तुले हुए है और उनको मारकर खा जाने से अपने हाथो को नहीं रोकते। मालूम होता है अहिसा के सौन्दर्य को किसी की भी आँख नहीं देख पाती। सबने अपने को पशु के लिए कब्रिस्तान बना रखा है!"[२]

कहने का आशय यह है कि हिन्दू-सस्कृति का मुसलमानो के रहन-सहन, विचार-प्रणाली, भाषा, साहित्य, कला आदि सभी पर प्रभाव पड़ा है।

भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव

जब एक जाति दूसरी जाति को पराजित्त करके उसकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अपहरण करती है तो वह अपनी विजय को दृढ़ और स्थायी बनाने के लिए पराजित जाति की सस्कृति, धर्म, साहित्य,

---

१. पं० सुन्दरलाल : 'अबुलफजल और सम्प्रदायवाद' : 'सरस्वती', जनवरी १९३५.

२. उपर्युक्त

भाषा और मनोवृत्ति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करती है। नैतिक विजय के अभाव में राष्ट्रीय विजय का स्थायी होना असम्भव है। विदेशी शासन से बढकर जातीय चरित्र को भ्रष्ट करनेवाली और कोई भी वस्तु ससार मे नही है। गुलामी जातीय चरित्र के पतन का कार्य और कारण दोनो ही है। नैतिक पतन के कारण जातियाँ गुलाम बनती है और गुलामी के कारण उनका नैतिक पतन होता है।

अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कपनी ने जब भारतवर्ष की स्वतन्त्रता छीनी तो उसे भी अपनी राष्ट्रीय विजय को स्थायी बनानें के लिए भारतवर्ष पर नैतिक विजय प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अंग्रेजो को यह अनुभव हुआ कि जबतक हम भारत के सामाजिक जीवन का सर्वनाश न कर देंगे तबतक भारत सदैव के लिए हमारी गुलामी में न आ सकेगा। इसलिए भारत की नैतिक विजय प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी शासको ने भारतीय सामाजिक जीवन और नैतिक जीवन पर अपना नियत्रण रखना शुरू किया।

कम्पनी ने भारतीय बच्चो की शिक्षा के लिए कई स्कूल और कालेज खोले जिनमे भारतीय भाषा और साहित्य के साथ अंग्रेजी भाषा और साहित्य की शिक्षा दी जाने लगी। इन नवीन शिक्षा-सस्थाओं मे ब्राह्मण 'आचार्य' का स्थान अंग्रेज 'प्रिंसिपल' ने लिया। भारत की प्राचीन वैदिक शिक्षा-पद्धति का उच्छेद किया गया और उसके स्थान में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य भारतीयो में ऐसी मनोवृत्ति पैदा करना था जिससे वे अपने को अंग्रेजो से धर्म, इतिहास, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता तथा सस्कृति में हीन समझते रहे और उनमें राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा न हो सके। कपनी के शासको को ऐसे छोटे कर्मचारियो की भी आवश्यकता थी जो अंग्रेजी भाषा का ज्ञान रखते हो। इन दो उद्देश्यों से भारत मे अंग्रेजी साहित्य, भाषा और विचारधारा का प्रचार किया गया।

इसके अतिरिक्त जब भारत में 'ईस्ट इडिया कम्पनी' का शासन प्रबन्ध था, उसे भारत में अंग्रेजी राज्य को स्थायी बनानें तथा शासन-

प्रवन्ध की सुविधा के लिए ऐसे भारतीयो की आवश्यकता पडी जो छोटी-छोटी सरकारी नौकरियो पर नियुक्त किये जा सके। यह युक्ति सोची गयी कि कम वेतन पर भारतीयों को छोटी-छोटी नौकरियाँ दी जाये। इससे उनमे रिश्वतखोरी बढेगी तथा उनका चारित्रिक पतन भी होगा। वे इसके लिए अपने देशवासियो को ही दोष देगे।[१]

जो अग्रेज भारतवासियो को नौकरियाँ देने का समर्थन करते थे उनके दो पक्ष थे। एक पक्ष का कहना था कि भारतवासियों को केवल प्राचीन भारतीय साहित्य, भारतीय विज्ञान और सस्कृत, फारसी, अरबी तथा देशी भाषाएँ पढानी चाहिएँ, उन्हे पश्चिमी विचारो की हवा भी न लगने देनी चाहिए, क्योकि भारतवासियो को जब यूरोप के इतिहास का ज्ञान होता है और वे पश्चिम के राष्ट्रीय विचारो के सम्पर्क मे आते है, तो मुट्ठीभर विदेशियो के द्वारा उन्हे अपने देश का शासित होना अखरने लगता है और वे स्वभावत अपनी मातृभूमि के मस्तक से गुलामी के कलक को मिटा देने की बात सोचने लगते है।

दूसरे पक्ष का यह विचार था कि भारतवासियो के चरित्र को जबतक यूरोपियन साँचे मे न ढाला जायेगा, तबतक हमारे चरित्र के प्रति उनके मन मे श्रद्धा और सम्मान का भाव नही उत्पन्न हो सकता, जो हमारे शासन के स्थायित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा वे हमको काफिर, म्लेच्छ और विदेशी समझते रहेगे, और जब अवसर पायेगे तब हमे अपने देश से बाहर भगाने की चेष्टा करेगे। इसके विपरीत यदि उन्हे अंग्रेजी भाषा, अग्रेजी साहित्य, अग्रेजी विज्ञान और अग्रेजी सभ्यता

---

१. "If we are to have corruption, it is better that it should be among the natives than among ourselves, because the natives will throw the blame of the evil upon their countrymen, they will still retain high opinion of our superior integrity, and our character, which is one of the strongest supports of our power, will be maintained"

—Sir Thomas Munro, Governor of Madras

की शिक्षा दी जाये, तो वे बडी प्रसन्नतापूर्वक हमारे पूर्वजो के गुणों का अध्ययन करेगे, उनके चरित्र से शिक्षा ग्रहण करेगें और उनके अनुसार अपने को बनाने की चेष्टा करेगे। ऐसी अवस्था में वे अपना विरोध करने के बदले, हमारी आज्ञा का पालन करने में अपना गौरव समझेगें तथा हमारी सस्कृति का अनुकरण करके हमारे राज को अपना अहो-भाग्य मानेंगे। इस नीति का स्पष्टीकरण लॉर्ड मैकॉले के सन् १८३५ के मिनिट से हो जाता है जिसमें लिखा है—

"हमें भारत में ऐसे मनुष्यो की एक श्रेणी पैदा कर देने का शक्ति-भर प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे और उन करोडो भारतवासियो के बीच, जिनपर हम शासन करते है, दुभाषिये का काम करे। इन लोगो को ऐसा होना चाहिए कि ये केवल रग और रक्त की दृष्टि से भारतीय हो, किन्तु रुचि, विचार, भाषा और बुद्धि की दृष्टि से अग्रेज।"

इससे सिद्ध होता है कि भारत पर पाश्चात्य सस्कृति, भाषा, साहित्य, सभ्यता, रीति-रिवाज, रहन-सहन की प्रणाली आदि लादनें के लिए किस प्रकार सगठित रूप से भयकर आयोजन किया गया। और हम देख रहे है कि हिन्दुस्तानियों मे आज हाथ मिलाना, विदेशी भाषा में ही बोलने को गौरव की बात समझना, टी-पार्टी, एट-होम, डिनर, डान्स आदि आमोद-प्रमोद मनाना, डबलरोटी, बिस्कुट चाय, केक, विदेशी शराब आदि पीना, स्त्री-पुरुषो की वेशभूषा में अंग्रेज जाति का अनुकरण करना, सिविल मैरिज और डाइवोर्स (तलाक) का आश्रय लेना आदि अच्छी-बुरी प्रथाएं आ गयी है और भारतीय सस्कृति को मिटाती जा रही है।

इस प्रकार भारत की सस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य, विचारधारा, आदर्शो पर ही यूरोपीय सभ्यता का प्रभाव नही पड़ा प्रत्युत यहाँ के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक आदर्शो पर भी इग्लैण्ड की सभ्यता ने अपनी छाप डाली है

: १५ :

आर्थिक जीवन

आर्थिक स्थिति

भारत आर्थिक दृष्टि से सबसे पिछड़ा देश है। यद्यपि भारत के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि वह सबसे धनी देश है, तथापि यहाँ की जनता इतनी गरीब है कि करोड़ों को भर-पेट अन्न तक नही मिलता। सन् १९३१ मे भारत की कुल जनसख्या ३५ करोड़ थी। सन् १९२१ से ३१ तक जनसंख्या में १०% की वृद्धि होकर १९४१ में जनसख्या लगभग ३९ करोड हो गयी है। भारतवासियो की जनसख्या का ९०% भाग ग्रामो में है और उनका मुख्य व्यवसाय कृषि तथा कृषि से जुड़े हुए उद्योग हैं। भारत मे इस अकेले धंधे कृषि की दशा भी अच्छी नही है। किसानो को उससे कोई लाभ होना तो दूर, भरपेट खाने तक को नही मिलता और सर एम. विश्वेश्वरैया के अनुसार औसत भारतवासी की मासिक आमदनी ६ रुपये है। निर्धन वर्ग की आय तो और भी कम है। सन् १९२९ के व्यापारिक सकट के कारण कृषि से आय और भी कम हो गयी है।

भारत में जीवन का मान-दण्ड इतना अधिक गिरा हुआ है कि उसकी किसी भी देश से तुलना नही की जा सकती। एक अग्रेज लेखक के अनुसार इंग्लैंड में स्वास्थ्य-विभाग के मत्री ने अग्रेज बेकारो के भोजन की तालिका बनायी है जो भारत की जनता के लिए 'कौतुक' मानी जायेगी। ग्रामों में प्रति व्यक्ति की औसत आमदनी दो-तीन रुपये मासिक है। उसपर ऋण का भार इतना अधिक है कि प्रति कुटुम्ब पर २५० रुपये पड़ता है। ग्रामों की सबसे बडी सख्या कच्चे घास-फूस के झोपड़ों मे रहती है, जो न शीत से उनकी रक्षा कर सकते है और न गर्मी से। न वे हवादार है और न उनमे प्रकाश का ही प्रवेश हो सकता है। निवास के लिए वे सर्वथा अस्वास्थ्यप्रद है। रात-दिन खेतो पर मेहनत

करने पर भी वे सदैव अन्न के लिए चिंतित रहते है। उनके शरीर पर मोटे कपडे तक नहीं होते।

फिर, इस भयकर गरीवी में अज्ञान का अखण्ड राज है। ९०% जनता निरक्षर है, ९४% मनुष्यो को अक्षर-ज्ञानमात्र है और शेष व्यक्ति शिक्षित है।

भारत का क्षेत्रफल १८ करोड वर्गमील है। इसमें ४०करोड़ व्यक्ति रहते है जो समस्त ससार की जनसख्या का ⅕ भाग है। क्षेत्रफल के हिसाव से भारत में एक वर्गमील में औसतन् १९५ व्यक्ति रहते है। परन्तु कितने ही प्रान्तो में ऐसे स्थान भी है जहाँ इससे चार या पाँच गुनी अधिक आवादी एक वर्गमील मे रहती है। यूरोप में एक वर्गमीलमें १२७ व्यक्ति और अमरीका में एक वर्गमील में ४१ व्यक्ति रहते है। इस दृष्टि से भारत में वडी घनी आवादी है। किन्तु जन्म-मृत्यु की दृष्टि से हमारा देश ससार के दूसरे देशो से हीन है। सन् १९३१ में भारत मे मृत्यु-सख्या का औसत १००० में २४.५ था और जन्म-सख्या का ३३। उस समय ब्रिटेन की मृत्यु-सख्या १२.५, जर्मनी की ११ और अमरीका की ११.३ थी। भारतीय जीवन का औसत मान भी वहुत ही कम है। सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार भारतीय की औसत आयु २६.७ वर्ष है, जवकि इग्लैंडवासी की ५७.६, अमरीकावासी की ५६.४, जर्मन की ५९.०४, फ्रान्सीसी की ५० और जापानी की ४४५ वर्ष है।

औद्योगिक स्थिति

भारत की कुल ३५ करोड की जन-सख्या में १५ करोड़ ३९ लाख अर्थात् ⅖ व्यक्ति कार्य करनें और जीविका कमाने लायक थे। इनमें से १५ करोड २० लाख उपयोगी उद्योग-धन्धो व व्यवसायों में लगे हुए थे शेष १८ लाख ४४ हजार अनुपयोगी धन्धो मे। यह नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जायेगा

व्यवसाय	कार्य करनें योग्य व्यक्तियों की संख्या
कृषि, मछली पकड़ना व शिकार—	१० करोड़, ३२ लाख, ९४ हजार ४३९

उद्योग-धन्धो और खानों मे काम—	१ करोड, ५६ लाख, ९७ हजार, ९५३
व्यापार और यातायात—	१ करोड, २ लाख, ५५ हजार, ३
सरकारी नौकरियाँ और सेना—	१८ लाख, ३६ हजार, ७५८
वकील, डाक्टर और कलाकार—	२३ लाख, १० हजार, १४१
घरेलू नौकर —	१ करोड, ८ लाख, ९८ हजार, २७७
अन्य विविध पेशे —	७७ लाख, ७८ हजार, ६४२
अनुपयोगी धन्धे —	१८ लाख, ४४ हजार, ६४२

ब्रिटिश भारत मे लगभग २८ करोड एकड भूमि पर खेती होती है। प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से मे १.०२ एकड भूमि आती है। इस भूमि पर हर वर्ष कृषि द्वारा २० अरब, ३२ करोड रुपये की पैदावार होती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से मे ६४ रुपये की सामग्री आती है। यही सख्या अमरीका मे १७५, कनाडा मे २१३, जापान मे ५७ और इग्लेड मे ६२ रुपये है। कृषि की आमदनी की दृष्टि से भारत इग्लेड और जापान से कुछ अच्छा है, परन्तु उद्योगो मे वह बहुत पिछडा हुआ है। अन्य औद्योगिक देशो मे जनसंख्या का अधिक भाग उद्योग-धन्धो मे लगा हुआ है और बहुत ही कम भाग खेती पर निर्भर है, परन्तु दूसरे देशों की अपेक्षा हमारे देश मे उद्योग-धन्धो में बहुत कम लोग लगे हुए हैं। औद्योगिक पैदावार का औसत प्रति व्यक्ति अमरीका में ७२१, ब्रिटेन मे ४१२, कनाडा में ४७० और जापान में १५८ रुपये है। भारत मे यह औसत केवल १५ से २० रुपये है।

व्यापारिक स्थिति

भारत की व्यापारिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय है। आर्थिक संकट के पूर्व, सन् १९२८-२९ के अनुसार, भारत का आयात-व्यापार २५३.३ करोड़ रुपये और निर्यात-व्यापार ३३०.१ करोड रुपये का था। इस प्रकार प्रति व्यक्ति पीछे से प्रति वर्ष १७ रुपये का व्यापार होता है। अन्य देशो में प्रति व्यक्ति पीछे व्यापार का अनुपात इस प्रकार है—इंग्लैंड मे ५९७, अमरीका में २१४, कनाडा में ९२ और जापान

में ९० रुपये। यह दशा तो आज से ११ वर्ष पहले की है। तबसे अब तो व्यापार और भी कम हो गया है। इस समय भारतीय व्यापार का औसत प्रति व्यक्ति ७ ६ रुपये है।

राष्ट्रीय आय की दृष्टि से भी भारत दूसरे देशों में बहुत पिछड़ा हुआ है। भारत की प्रति वर्ष की औसत आय बतलाना बड़ा कठिन है, क्योंकि इसके हिसाब में कौन-कौन से विषय लेनें चाहिएँ, इस संबंध मे विद्वानो में मतभेद रहा है। अलग-अलग वर्षो में उन्होंने जो अनुमान निकाले हैं उनका तुलनात्मक अध्ययन करते समय उन वर्षो मे वस्तुओ के भावों को ध्यान मे रखा गया होगा। इस संबंध मे अभी तक जो-जो अनुमान किये गये, वे क्रमश नीचे दिये जाते हैं

अर्थशास्त्री	वर्ष	प्रति-व्यक्ति वार्षिक आय		
		रुपये	आना	पाई
दादाभाई नौरोजी	१८७०	२०	०	०
वेअरिंग वार्बूर	१८८२	२७	०	०
विलियम डिग्वी	१८९८	१८	९	०
विलियम डिग्वी	१९००	१७	४	०
लार्ड कर्जन	१९००	३०	४	०
अटिक्सन	१८७५	२५	०	०
	१८९५	३४	०	०
	१९११	५०	०	०
		८०	०	०
प्रो वाडिया और श्रीजोशी	१९१३-१४	४४	५	६
श्री विश्वेश्वरैया	१९१९	४५	०	०
प्रो० शाह और श्रीखम्वाता	१९२१-२२	६७	०	०
प्रो० वी जे काळे	१९२१	४०	०	०
श्री प्रफुल्लचन्द्र घोष	१९२५	४६	०	०
फिन्डले शिरास	१९२१	१०७	०	०
	१९२२	११६	०	०

फिन्डले शिरास	१९२६	१०८	०	०
,,	१९२९	१०९	०	०
,,	१९३०	८४	०	०
,,	१९३१	६३	०	०
,,	१९३२	५८	०	०

सर विश्वेश्वरैया का मत है कि भारत मे प्रत्येक व्यक्ति की औसत वार्षिक आय ८२ रुपये माननी चाहिए।[१] अवश्य ही ये अक जिस वर्ष फसल अच्छी हुई होगी उस वर्ष के है। वर्तमान मन्दी के युग मे उसका ⅔ अर्थात् करीब ५५ रुपये औसत मानना चाहिए।[२]

इस आय की तुलना यदि दूसरे देशो के औसत व्यक्ति की आय से की जाये तो भारत की दरिद्रता का अनुमान सहज ही हो जायेगा।

देश	सन्	प्रति व्यक्ति वार्षिक आय		
		रुपये	आना	पाई
ब्रिटिश भारत	१९३७	५५	०	०
इग्लैंड	१९३१	१०२६	०	०
आस्ट्रेलिया	१९२४	१३२३	०	०
सयुक्तराज्य अमरीका	१९३२	१२०१	८	०
फ्रान्स	१९२८	५५३	८	०
चैकोस्लोवाकिया	१९२५	४७२	८	०
डेनमार्क	१९२७	७४२	८	०

भारतवर्ष मे सबसे विशाल सख्या गरीब जनता की है। धनी और लखपति तो बहुत ही थोड़े है। करों का सबसे अधिक बोझ गरीब जनता पर ही पड़ता है।

---

१ श्री विश्वेश्वरैया : 'प्लैण्ड इकॉनॉमी फॉर इण्डिया'

२ श्री प्रो. जठर और बेरी. 'इण्डियन इकनॉमिक्स (२), (१९३७)

भारतवर्ष मे प्रति व्यक्ति पर औसत कर इस प्रकार है—

वर्ष	रुपये	आना	पाई	वर्ष	रुपये	आना	पाई
१९२२-२३	५	४	५	१९२७-२८	५	५	०
१९२५-२६	५	६	७	१९३२-३३	५	०	६

इस प्रकार ५५ रुपये वार्षिक औसत आय में से ५ रुपये अर्थात् आय का $\frac{1}{11}$ भाग करों में दे देना पड़ता है !

भारत की भयंकर गरीबी और दरिद्रता के संबध में भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री रैमजे मैकडानल्ड ने लिखा है—

"......५ करोड़ तक कुटुम्ब (जिसका मतलब हुआ १५ से लेकर २५ करोड़ तक मनुष्य) साढ़े तीन आने की आय पर अपना गुजारा करते है।...हिन्दुस्तान की दरिद्रता केवल कल्पना नहीं बल्कि वस्तु-स्थिति है। सर्वथा-सम्पन्न-काल तक में कर्जरूपी चक्की का मोटा पाट किसान के गले में लटका रहता है।......ग्रामो में घूमने पर ऐसे कंकाल दिखायी पडते है जो दिन-रात के परिश्रम से चकनाचूर हो गये है और जो भूखे पेट मन्दिर में जाकर खिन्नवदन होकर परमेश्वर की उपासना करते है।"

श्री आर्यविन ने अपनी पुस्तक 'भारत का बाग' (Garden of India) में भारत के मजदूरों की स्थिति के बारे में लिखा है—

"अनाज में से कंकर की तरह निकाले हुए अधनंगे-भूखे लोग गाँव-गाँव में सर्वत्र दिखायी पड़ते हैं। उनके पास मवेशी न होने के कारण जीविका का कोई साधन नहीं है। कुदाली से खोदी हुई जमीन के सिवा उनकी जीविका की और कोई वस्तु नहीं है। उन्हें दो सेर के भाव का बिल्कुल हलका अनाज अथवा डेढ़ या दो आने रोज की मजदूरी मिलती है और यह नगण्य मजदूरी भी पूरे वर्ष भर नहीं मिलती। क्षुधा-पीड़ित और बहुधा वस्त्र-हीन स्थिति में ये लोग सर्दी के दिनो में चोरों और पशुओं से अपनी रक्षा करके किस तरह जी सकते हैं, यह एक आश्चर्य ही है।"

भारत के आर्थिक साधन

भारत मे आर्थिक साधन इतने विपुल है कि यदि उनका राष्ट्रीय हित के लिए ठीक अच्छी तरह उपयोग किया जाये तो वह बहुत ही थोडे समय मे पाश्चात्य देशो के बराबर समृद्ध देश बन सकता है। आश्चर्य है कि जिस भारतभूमि मे जनता को सुखी और ऐश्वर्यशाली बनाने की पूरी क्षमता है, उसकी गोद मे आज ४० करोड नर-नारी महादरिद्रता और बेकारी में अपना जीवन बिता रहे है।

ससार मे जितना जूट पैदा होता है उसका उत्पादक भारत ही है। ससार में सबसे अधिक चावल, चाय और शक्कर भारत मे पैदा होती है। तम्बाकू, मेंगनीज और रुई पैदा करने मे ससार मे भारत का स्थान दूसरा है। तेल निकालनेवाली चीजे पैदा करनेवालो मे भारत का स्थान तीसरा है। पेट्रोल पैदा करनेवाले देशो मे १३ वाँ, लकडी पैदा करनेवाले देशो मे १५ वाँ, कोयला पैदा करनेवाले देशो में ११ वाँ, फौलाद पैदा करनेवाले देशों मे ११ वाँ, रबड पैदा करनेवाले देशो में ७ वाँ, सोना पैदा करनेवाले देशों मे ११ वाँ और चाँदी पैदा करनेवाले देशो में उसका ९ वाँ स्थान है।

भारत में पोर्टलैंड सीमेट बड़े ऊँचे दर्जे का बनता है, जिसकी बराबरी अग्रेजी स्टैंडर्ड भी नही कर सकता। रसायनों में क्लोरिन, कास्टिक सोडा ऐश बनाने के लिए भी बड़े-बड़े कारखाने खुले हुए हैं। भारत में ताँबे की भी खानें है जिनमे से घरेलू बर्तन बनाने के लिए ताँबा निकलता है। बिजली के बल्ब बनाने के लिए भारत में पर्याप्त साधन है। बिजली के तार भी भारत में बनाये जाते है। लाख भारत में बहुत पैदा होती है। नल तथा ट्यूबिंग बनाने के लिए भी पर्याप्त साधन है। हाँ, शीशा भारत मे पैदा नही होता। वह उसे ब्रह्मा से मँगाना पड़ता है। रगो के बनाने के लिए उसे विदेशो से चीजें मँगानी पडती है।

यहाँ हम भारत की पैदावारो का ससार की पैदावारो से अनुपात दिखलाने का प्रयत्न करेंगे।

धातु या पैदावार	ससार का प्रतिशत	धातु या पैदावार	ससार का प्रतिशत
बौक्सीट	०.४	जूट	९८ ७
कच्चा क्रोम	५ ३	गेहूँ	६ ६
कच्चा ताँबा	० ५	चावल	४३.५
कच्चा लोहा	१ ९	मक्का	१ ६
कच्चा मेगनीज	१७ ९	जौ	५ ४
कोयला	१.९	कॉफी (कहवा)	१ ७
पैट्रोल	० १	चाय	४२ ०
मेगनीसाइट	०.९	शक्कर	१८ ७
पोटाश	०.१	तम्बाकू	१९ ६
सोना	१.०	रेप-बीज	७३.६
रबड	१ ०	बिनौला	१४ २
रुई	१२ ३	मूँगफली	५० ९
ऊन	२ ५	अलसी	१३ ०
रेशम	० १	सीसामम	५९.८

आर्थिक साधनो में भारत मे श्रम-शक्ति भी महत्त्वपूर्ण है। अभी-तक भारत की मानव-शक्ति का भी इस दिशा में अच्छी तरह उपयोग नही हो सका।

भारत का आर्थिक संगठन

हमारे देश का आर्थिक सगठन अत्यन्त विषम है, वह आर्थिक समता या आर्थिक न्याय पर आधारित नही है। ग्रामो मे समस्त भूमि के स्वामी जमीदार और किसान है जो किसानो से बड़ी-बड़ी रकमें लगान के रूप में वसूल करते है और उसका एक अश सरकारी कोष में मालगुजारी के रूप में अदा करते है। ग्रामो में जमीदारो और ताल्लुकेदारो का किसानो के न केवल आर्थिक जीवन पर ही बल्कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर भी पूरा नियन्त्रण है। किसानो को जमीदारो, साहूकारों और व्या-पारियो की दया-दृष्टि के भरोसे रहना पड़ता है। जमीदार किसानो को

खेती के लिए भूमि देते है, साहूकार खेती के लिए कर्ज देते है और व्यापारी उनकी पैदावार को खरीदते है । प्राय इन तीनो का गुट्ट-सा रहता है ।

नगरों मे वडे-वडे कारखाने है जिनके स्वामी बड़े-बडे सेठ, पूँजीपति महाजन और बैंकर है । ये कारखाने कपनियों के रूप में है । इनमें ग्रामो से शहरो मे आये हुए बेकार मजदूर काम करते है । उन्हे पूरी और पर्याप्त मजदूरी तक नही मिलती । काम भी अधिक लिया जाता है । उनके स्वास्थ्य की देखभाल का कोई प्रवन्ध नही होता । रहन-सहन भी बडी अस्वास्थ्यप्रद होती है । पूँजीपति इनके परिश्रम से मालामाल होते है, परन्तु इनका उचित भाग तक इन्हे नही दिया जाता । फलत औद्योगिक मजदूरो मे भीषण अशान्ति और असन्तोष रहता है । जगह-जगह मजदूरो के सगठन भी बन गये है जो अपने सुधार के लिए काम करते रहते है । समाजवादी और साम्यवादी नेता इनमे प्रचार तथा सगठन का कार्य करते रहते है ।

आज-कल देश मे आर्थिक समस्या के सबध मे दो प्रकार के विचार प्रचलित है । एक वर्ग का विचार है कि आर्थिक प्रणाली को स्वावलम्वी वनाया जाना चाहिए । देश मे तैयार हो जानेवाली चीजो के लिए दूसरे देश पर निर्भर रहना ठीक नही है । वे ग्रामों मे उद्योग-धन्धो तथा घरेलू व्यवसायो की उन्नति पर अधिक जोर देते है । उनका कहना है कि खादी का प्रचार वढ़ाया जाये और सब लोग हाथ का कता-बुना कपडा ही पहने । जमीदारी ज्यो की त्यो कायम रहे और वे अपने को किसानो का ट्रस्टी माने । इस विचारधारा के प्रवर्तक तथा प्रमुख समर्थक महात्मा गाधी तथा दूसरे गाधीवादी नेता है ।

दूसरे वर्ग के लोग वे है जो देश के आर्थिक जीवन का निर्माण औद्योगीकरण और वडे-वड़े उद्योग-धन्धो के सगठन से करना चाहते है । वे जमीदारी-प्रथा और पूँजीवाद को आज के युग मे अनावश्यक समझते है । पं० जवाहरलाल नेहरू, श्री सुभाषचन्द्र वसु, श्री मानवेन्द्रनाथ राय, आचार्य नरेन्द्रदेव आदि नेता देश मे पाश्चात्य देशो-जैसा औद्योगीकरण चाहते है । वे ग्रह-उद्योग, खादी या ग्रामोद्योग को देश के लिए आर्थिक जीवन का स्थायी अगन ही मानते । उनकी राय

में ये ग्रामोद्योग केवल सक्रमण-काल के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते है।[1]

भारत की गरीबी के मूल कारण

भारत की भयकर गरीबी के मूल कारणों में सबसे प्रधान राजनीतिक पराधीनता और उसके फलस्वरूप आर्थिक पराधीनता है। भारतीय जनता की आर्थिक नीति का पूर्ण नियत्रण ब्रिटिश सरकार के हाथ में है। भारतीय जनता को उसमे हस्तक्षेप करने का कुछ भी अधिकार नही है। व्यापारिक सबधो, व्यापारिक नीति, तट-कर, संरक्षण, व्यापारिक कपनियो पर नियत्रण, विनिमय की दर आदि सभी पर ब्रिटिश सरकार का पूरा नियत्रण है।

दूसरा प्रमुख कारण है भारत मे निरक्षरता और शिक्षा का अभाव। जनता के अशिक्षित होने के कारण उनमें ज्ञान-विज्ञान से लाभ उठाने की प्रवृत्ति का अभाव रहता है। फलत वह उद्योग-व्यवसायो को वैज्ञानिक ढग से उन्नत बनाने मे विफल रहते है।

तीसरा प्रमुख कारण है भारत में कृषि की प्रधानता। कृषि-प्रधान होने से भारत कच्चा माल तैयार करने पर तो खास ध्यान देता है, परंतु वह, इस कारण, औद्योगिक प्रगति मे पिछडा हुआ है।

भारत के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री सर एम. विश्वेश्वरैया का कथन है कि भारतवासियो को अपना जयघोष यह बनाना चाहिए—'उद्योगवादी बनो'। उन्होंने काशी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोह-भाषण (१९३७) मे कहा था—

"पिछली शताब्दी से कनाडा में अन्न पैदा करनेवाले मजदूरो की संख्या बराबर घटती आ रही है और यह संख्या ७५% से घटकर आज १७% हो गयी है। स्वीडन में भी खेती का काम करनेवालो की संख्या में भारी कमी हो गयी है। वहांकी एक बहुत बडी संख्या उद्योग, व्यवसाय, शिल्प और व्यापार में लग गयी है। पचास वर्षो से हर देश में यही प्रवृत्ति देखने

---

१ जवाहरलाल नेहरू : 'मेरी कहानी' (१९४१) पृ० ८३४

में आरही है, जैसा कि रूस, जर्मनी और जापान में प्रत्यक्ष है। भारत को अक्सर कृषि-प्रधान देश कहा जाता है; परन्तु जनता को यह साफ-साफ़ नहीं बतलाया जाता कि उसकी सुरक्षा कृषि की अपेक्षा उद्योग और नौकरी पर निर्भर है। उद्योगों को प्रोत्साहन देना प्रगतिशील देशों में मौलिक नीति स्वीकार की गयी है। परन्तु यहाँ उसकी अपेक्षा की जाती है।"

गरीबी का चौथा कारण यह है कि भारत मे उत्पादन और उसका वितरण न्यायोचित ढग से नही किया जाता। खेती की पैदावार की बिक्री की भी कोई अच्छी पद्धति नही है। इस कारण किसानो को कम मूल्य पर सस्ते दामो मे अपना माल बेचना पड़ता है। भारत मे कृषि की पद्धति भी जनता की गरीबी का एक प्रधानकारण है। भूमि का वितरण भी सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के आधार पर नही है।

जबतक भारत पूर्णत उद्योगवादी राष्ट्र नही बन जाता तबतक भारतीय व्यापार के सरक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है और जबतक सरकार भारत के उद्योग-धन्धों का सरक्षण नही करेगी, तबतक औद्योगिक क्षेत्र मे उन्नति होना सभव नही।

श्री देवीप्रसाद खेतान का मत है कि भारत-सरकार द्वारा शक्कर व्यवसाय को १५ वर्ष के लिए सरक्षण मिलने का असर यह हुआ है कि पाँच वर्ष मे ही भारत शक्कर के व्यवसाय मे स्वावलम्बी हो गया है। शक्कर-व्यवसाय की उन्नति से १५ करोड रुपये विदेशो मे जाने से बच गये। इनमे से ८ करोड रुपये तो किसानों को मिल जाते है।[१] विगत १० वर्षो में भारत मे सूती-वस्त्र-व्यवसाय, शक्कर, दियासलाई, कागज, अण्डे, गुड आदि व्यवसायो ने आश्चर्यजनक उन्नति की है, जो नीचे दी हुई तालिका से प्रकट होती है—

१ कानपुर के इम्पीरियल इन्स्टीटयूट आफ शुगर टेकनोलोजी के डायरेक्टर की रिपोर्ट के अनुसार भारत में सन् १९३९-४० में १२, ४१, ७०० टन शक्कर बनायी गयी। इससे पहले साल में ६, ५०, ८०० टन शक्कर बनायी गयी। भारत में इस समय १४५ शक्कर के मिल काम कर रहे है।

इन वर्षों में भारत को प्राय १०० करोड की आय हुई है।

व्यवसाय	सन् १९२५-२६	सन् १९३५-३६
दियासलाई	१२ करोड ६० लाख दर्जन	२९ करोड ४० लाख दर्जन
कागज	२८ हजार टन	४८ हजार टन
सूती कपडा	१९५ करोड ४० लाख गज	३५७ करोड़ १० लाख गज
हाथबुना कपडा	११६ करोड गज	१६६ करोड़ गज
शक्कर	३ लाख २१ हजार टन	११ लाख ६६ हजार टन
गुड	३५ लाख टन	६७ लाख ५० हजार टन
लोहा	३ लाख २० हजार टन	अप्राप्त

भारत की जनता की गरीबी के कारण आर्थिक के अतिरिक्त सामाजिक भी है। भारत मे ऐसी सामाजिक कुप्रथाएँ प्रचलित है जिनके कारण भी जनना को अपने धन का बहुत बड़ा भाग व्यर्थ खर्च करना पड़ता है। इन सामाजिक प्रथाओं में सबसे हानिप्रद प्रथाएँ है—बाल-विवाह, विवाहो में धन का अपव्यय, मृत-भोज, श्राद्ध तथा तीर्थ-यात्रा मे महन्तो, साधुओ और पुजारियो को दान-दक्षिणा, शराबखोरी, जुआ, वेश्यागमन इत्यादि।

ये सामाजिक बुराइयाँ न केवल आर्थिक दृष्टि से ही हानिप्रद है, बल्कि नैतिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी घातक है। इनका कुप्रभाव केवल फिजूलखर्ची करनेवाले तक ही सीमित नही रहता सारे कुटम्ब, ग्राम और समाज पर भी पडता है।

कृषि

भूमि-प्रणालियाँ

भारत मे दो प्रकार की भूमि-प्रणालियाँ (Systems of Land Tenures) प्रचलित है। एक जमीदारी और दूसरी रैयतवारी। जमीदारी प्रणाली विशेपत बगाल, विहार, संयुक्त-प्रान्त और उत्तरी मद्रास में प्रचलित है। इसके अनुसार जमीदार भूमि के स्वामी होते है और वे उसकी मालगुजारी सरकार को देने के लिए बाध्य है। जमीदार

अपनी भूमि किसानों को जोतने-बोने के लिए दे देते है और उसके एवज मे उनसे लगान वसूल करते है। इस लगान का एक नियत भाग सरकार को मालगुजारी के रूप मे दे दिया जाता है और शेष उनके हिस्से मे आता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार का जमीदार ही से सीधा सम्बन्ध होता है, किसानो से कोई सम्बन्ध नही होता। इसलिए जमीदार के किसानो पर होनेवाले अत्याचार मे वह हस्तक्षेप नही करती।

रैयतबारी भूमि-प्रणाली भारत के शेष भाग पजाब, बम्बई, सिन्ध, मध्यप्रान्त, सीमाप्रान्त, दक्षिण-मद्रास आदि मे प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार भूमि के स्वामी किसान ही होते है। प्रत्येक किसान को सीधे सरकार को मालगुजारी देनी पडती है। उनके और सरकार के मध्य में कोई तीसरा व्यक्ति नही होता जो भूमि का स्वामी कहलाये।

बन्दोबस्त

किसान अपनी जोत का जो लगान जमीदार या सरकार को देता है, उसपर समय-समय पर पुन विचार किया जाता है। इसके लिए जो कार्यवाही की जाती है उसे बन्दोबस्त कहते है। भारत में दो तरह के बन्दोबस्त है, स्थायी और अस्थायी। स्थायी बन्दोबस्त मे लगान हमेशा के लिए स्थिर कर दिया जाता है, जो किसान से नही बल्कि जमीदार से वसूल किया जाता है। सन् १७९५ मे अवध और मद्रास मे स्थायी लगान निश्चित कर दिया गया था। शेष सारे देश मे अस्थायी बन्दोबस्त की प्रथा जारी है। सरकार के सर्वे-विभाग द्वारा की गयी सर्वे के आधार पर तीस-तीस वर्ष मे प्रत्येक ज़िले की जमीन की पूरी जाँच होती है। प्रत्येक गाँव की पैमायश होती है, नकशे बनते है, हरएक किसान के खेत को उसमे पृथक्-पृथक् बताया जाता है। उनके अधिकार का एक रजिस्टर रखा जाता है जिसमे जमीनो का लेन-देन आदि लिखा जाता है। इस रजिस्टर को 'वाज़िबुल अर्ज' (Record of Rights) भी कहते है। यह सब जाँच करके उसके अनुसार लगान कायम करने का काम भारत सरकार की सिविल सर्विस के विशेष अफसरो

द्वारा ोता है जिन्हे 'सेटिलमेण्ट अफसर' कहा जाता है।

लगान की दर

भारत मे जमीन पर जो लगान लिया जाता है, उसकी एक निश्चित दर नही है। वह स्थायी वन्दोवस्तवाले प्रान्तो में एक प्रकार की है और अस्थायी वन्दोवस्तवाले सूवो में दूसरे प्रकार की। फिर जमीदार तथा रैयतवारी प्रान्तो मे भी लगान की दरे भिन्न-भिन्न है। वे जमीन की किस्म और उसके अधिकार आदि के अनुसार निर्धारित की जाती है। वगाल में १६ करोड रुपये जमीदार लगान मे किसानो से वसूल करते है, परन्तु चूंकि वहाँ स्थायी वन्दोवस्त प्रचलित है, इसलिए सरकार उसमे से केवल ४ करोड रुपये मालगुजारी के रूप मे ले लेती है। अस्थायी वन्दोवस्तवाले प्रदेशो मे जमीदारो से अधिक-से-अधिक लगान का ५० फी सदी सरकार वसूल करती है। किसी-किसी प्रान्त मे वह इससे भी कम वसूल करती है।

जमींदारी प्रथा की उत्पत्ति और विकास

वेद-काल मे भारत मे जमीदारी-प्रथा नही थी। राजा और प्रजा का सीधा सम्वन्ध था। प्रजा राजा को लगान देती थी। उस सतयुग में समस्त भूमि चार प्रकार की थी—(१) वास्तु भूमि, (२) कृषि भूमि, (३) गोचर भूमि, (४) वन्य भूमि। वास्तु-भूमि का स्वामी किसान होता था।[१]

रामायण-काल में भी हमे जमींदारी प्रथा का कोई प्रमाण नही मिलता। स्मृति-काल तथा महाभारत-युग में भी जमीदारी प्रथा नही थी। वौद्ध-काल मे भी जमीदारी प्रथा नहीं मिलती। सब कृषक जमीन के मालिक थे।[२] मौर्य-काल में ग्रामो में स्थानीय स्वशासन था। सव

---

१ प्रो० सन्तोषकुमार दास: 'प्राचीन भारत का साम्पत्तिक इतिहास'

२ रामदास गौड़. 'हमारे गांवो की कहानी'

ग्राम स्वतन्त्र थे। प्रत्येक ग्राम मे एक ग्राम-पचायत होती थी इस पचायत का जो मुखिया होता उसे ग्रामपति कहते थे। परन्तु वह आज-कल के जमीदार का पूर्वज नही है। जमीदारी का कोई रिवाज नही था। सब किसान अपने खेतों के मालिक थे।[१] पठान और मुगल काल मे भी जमीदारी-प्रथा नही थी।

मुगल-काल मे भी सैद्धान्तिक रूप से राज्य ही समस्त भूमि का स्वामी था, परन्तु भूमि की पैदावार किसान और सरकार के बीच मे बॉटने की व्यवस्था थी। लगान-वसूल करनेवाले लोग किसानो से लगान वसूल करके सरकारी कोष मे जमा कर देते थे। इस प्रकार लगान वसूल करनेवाले व्यक्तियो का एक वर्ग बन गया जो सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे और उन्हे सरकार से वेतन मिलता था। ये लगान वसूल करनेवाले सरकारी कर्मचारी होते थे। जब मुगल साम्राज्य का पतन होने लगा और शासन-व्यवस्था अस्तव्यस्त होने लगी तो ये लगान वसूल करनेवाले स्वतन्त्र होते गये और उन्होने सरकार की कमजोरी का लाभ उठाकर अपने पद को मौरूसी बना लिया। सरकार की सत्ता मालगुजारी की आमदनी पर निर्भर थी। लगान वसूल करनेवालो की स्वच्छदता के कारण सरकार को बडी आपत्ति का सामना करना पडा। अन्त में सरकार ने यह निश्चय किया कि लगान वसूल करनेवाले 'रेवन्यू फार्मर' कहलायेगे। अर्थात् वे निर्धारित सालाना मालगुजारी सरकार को देगे और उन्हे यह स्वतन्त्रता दे दी जायेगी कि वे रैयत से मनमाना लगान वसूल करे। सबसे पहले बगाल प्रान्त मे यह प्रणाली जारी की गयी। यह मुगल-साम्राज्य-काल में शुरू हुई और सारे भारत मे व्याप्त हो गयी।[२]

आज के युग में यह बतलाने की आवश्यकता नही है कि भारत मे जमीदारी-प्रथा किसानो के लिए बड़ी दुखदायिनी है और यह निश्चित

---

१. रामदास गौड़ : 'हमारे गाँवो की कहानी'

२ डॉ० जेड. ए. अहमद : 'द एग्रेरियन प्रॉब्लॅम इन इडिया'

है कि जबतक इस प्रथा का परित्याग नही किया जायेगा, तबतक किसानों की न सामाजिक उन्नति हो सकती है और न उनका आर्थिक सुधार ही सभव है। देश में एक ऐसा प्रबल लोकमत तैयार हो गया है जो जमींदारी के दोषो को भली भाँति अनुभव करता है और उनके निवारण के लिए भी उद्योग कर रहा है।

बगाल की सरकार ने नवम्बर १९३८ में सर फ्रांसिस फ्लड की अध्यक्षता मे बगाल लैंड रेवेन्यू कमीशन यह जाँच करने के लिए नियुक्त किया था कि बंगाल में प्रचलित भूमि-प्रणालियाँ कौन-कौन सी है, उनका जनता की सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा है, स्थायी बन्दोबस्त के क्या गुण व दोप है ? और क्या यह उचित होगा कि सरकार जमीदारियाँ खरीद ले और सीधे किसानो से मालगुजारी वसूल करे ?

मई १९४० में प्रकाशित इस कमीशन की रिपोर्ट में यह सिफ़ारिश की गयी है कि सरकार को ऐसा कानून बनाना चाहिए कि वह समस्त जमीदारो की भूमि मुआविजा देकर खरीद सके। अनुमान किया गया है कि जो मुआविजा जमीदारों को दिया जायेगा वह ७७ करोड ९० लाख रुपये होगा।

जब ईस्ट इण्डिया कपनी ने बंगाल की दीवानी अपने हाथ में ली तब वहाँ रेवेन्यू फार्मर बहुत बडी संख्या में थे। उनमें और किसानों मे कोई भेद ही नही मालूम पडता था। लार्ड कार्नवालिस ने यह अनुभव किया कि रेवेन्यू फार्मर सरकारी कोप में मालगुजारी जमा करने-वाला एक विशेप वर्ग है। इसपर अपना प्रभुत्व रखना चाहिए। ये हमारे राजभक्त बने रहें, क्योंकि इनके द्वारा सरकार रैयत पर भी अपना पूरा नियन्त्रण रख सकेगी। अत. अग्रेजी राज्य में उन्हें भूमि पर पूरा स्वामित्व दे दिया गया। इस प्रकार जमीदारी-प्रथा कायम हो गयी।

संयुक्तप्रान्त में जमींदार और उनके अधिकार

सयुक्तप्रान्त में २० लाख से ऊपर जमीदार है। कमायूँ में ४ लाख

जमीदार स्वय खेती करते है। १२ लाख जमीदार ऐसे है जो एक रुपये से कम मालगुजारी देते है। इसलिए वे तो नाममात्र के ही जमीदार है। १०० रुपये तक मालगुजारी देनेवाले जमीदारों की सख्या ४½ लाख है। १०० रुपये से अधिक मालगुजारी देनेवाले जमीदारों की सख्या १ लाख ६२ हजार और इनमे से १,१०० जमीदार ५००० रुपये या इससे अधिक लगान देते है। और केवल २०३ जमीदार २०,००० रुपये या इससे ज्यादा मालगुजारी देते हैं। इस प्रकार २० लाख जमीदारों में अधिकाश किसान ही है। केवल १ लाख ६२ हजार जमीदार ऐसे है जिनका गुजारा मुख्यतया जमीदारी की आमदनी से होता है। इसके साथ ही यह भी जान लेना जरूरी है कि जमीदारो पर प्राय ९० करोड़ का कर्ज है।

अग्रेजी राज के आरम्भ मे किसानो का भूमि पर अधिकार भी सुरक्षित नही था। जमीदार भूमि के स्वामी बन गये परन्तु किसानों को भूमि पर स्थायी रूप से जोतने-बोने तक का अधिकार नही मिला। जमीदार जब चाहे तब काश्तकार को खेत से बेदखल कर सकता था। बाद में जब किसानों के लिए कृषि-कानून बनाये गये तब किसानों के अधिकारो की व्याख्या की गयी। इसी समय से जमीदारो ने अपने लिए खेती के निमित्त भूमि सुरक्षित रखना शुरू कर दिया। यही सुरक्षित भूमि 'सीर' कहलानें लगी। पहले सीर से अभिप्राय उस भूमि से था जिसे जमीदार स्वय अपने लिए जोतता-बोता था, परन्तु समय-समय पर कृषि-कानूनों द्वारा सीर की परिभाषा मे परिवर्तन होता रहा। अन्त मे सीर का नाम उस भूमि को दिया गया जो जमीदारो के निजी प्रयोग के लिए सुरक्षित होती थी और जिसपर किसानो को मौरूसी अधिकार प्राप्त नही होता था। जब जमीदार की जमीदारी बिक जाती थी, तो उसके साथ उसकी सीर नही बिकती थी।

इस प्रकार सीर जमीदारो का एक महत्त्वपूर्ण अधिकार बन गया। अवध-लगान-कानून १९२१ तथा आगरा-कृषि-कानून, १९२६ के अनुसार उस सब भूमि पर जमीदारो को सीर का अधिकार प्राप्त है जिसे वे स्वय या उनके नौकर व मजदूर जोतते-बोते थे और जो भूमि उपर्युक्त कानूनों

के बनने से १ वर्ष पहले खुदकाश्त दर्ज थी। अब उन्हे यह भी अधिकार प्राप्त हो गया है कि किसी भी १० साल की खुदकाश्त को वे सीर दर्ज करा सकते है, परन्तु अपनी जमीदारी की भूमि के १०% से अधिक भाग में उन्हे सीर का अधिकार प्राप्त न हो सकेगा। अर्थात् जो १०० एकड़ भूमि का जमीदार है वह १० एकड़ से अधिक में इस प्रकार अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। सन् १९३५-३६ में आगरा प्रान्त में ४९.३६ लाख एकड़ और अवध में ७ २४ लाख एकड जमीन सीर थी।

संयुक्तप्रान्त में किसान और उनके अधिकार

सन् १९३१ में खेती करनें और खेती से जीविका कमानेवालो की संख्या इस प्रकार थी—

कुल कृषक	१७, ७६, ५४, ३१
जमीदार (जो खेती नही करते)	२६, ०६, १०
जमीदार (जो खेती करते हैं)	१, ७९, ५५, ३६
काश्तकार (जो खेती करते है)	१२, ०१, १६, २१
काश्तकार (जो खेती नही करते)	१९, ३८, ७७
खेतिहर मजदूर	३, ४१, ९१, ८५
माली आदि	३, २१, ३९

सन् १९३५-३६ में सयुक्तप्रान्त मे ३५, २७, ८०, ०० एकड़ भूमि पर कृषि होती थी और ९६ लाख एकड भूमि व्यर्थ पड़ी हुई थी। कृषियोग्य भूमि मे ३३, ७६, ६२५ एकड़ भूमि पर जमींदारों की सीर है और २८, १५, १४५ एकड़ भूमि पर उन्हें खुद काश्त का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार ६१ लाख से ऊपर एकड़ भूमि पर जमी-दारो की सीर व खुदकाश्त है। २, ५९, ६४१ एकड़ भूमि ऐसी है जो किसानो के पास है और जो लगान से बरी है।

सयुक्तप्रान्तीय कृषि-कानून १९३९ के अनुसार सयुक्तप्रान्त में ७ प्रकार के किसान मजूर किये गये है जो निम्नलिखित है—

(१) हकदारान कब्जा मुस्तकिल

(२) शरह मुअइअन काश्तकार
(३) अवध मे विशेष अधिकारवाले काश्तकार
(४) साकितुल मिल्कियत काश्तकार
(५) नये मौरूसी काश्तकार
(६) दखीलकार काश्तकार
(७) गैरदखीलकार काश्तकार

प्रथम तीन प्रकार के काश्तकार अवध और पूर्वी जिलो मे है जिनमे स्थायी वन्दोवस्त प्रचलित है। हकदारान कब्जा मुस्तकिल जमीदार और किसान के बीच उस समय से चले आये है जब स्थायी बन्दोबस्त हुआ था। इनका लगान स्थायी रहता है और इनका अधिकार मृत्यु के बाद इनके वारिसों को मिलता है। वे चाहे तो अपने अधिकार को बेच सकते हैं, रहन रख सकते है या हिस्से कर सकते है।

दूसरी श्रेणी के काश्तकारों के लगान की दर भी नियत है। इनका अधिकार भी मौरूसी है।

तीसरी श्रेणी के काश्तकार केवल अवध मे है। ये वे काश्तकार है जिनका पट्टा विशेष इकरारनामे या सन् १८८६ के अवध-लगान-कानून से पहले न्यायालय के निर्णय से हुआ है। मौरूसी काश्तकारो को जो अधिकार प्राप्त है, वे सब इन्हे भी प्राप्त है।

चौथी श्रेणी के साकितुल मिल्कियत काश्तकार वे है जो जमीदार, अदना मालिक या हकदारान कब्जा मुस्तकिल के अपनी जमीदारी तथा भूमि के बेचनें, रहन करने या दान करने के बाद भी सीर व खुद-काश्त पर अपना अधिकार रखते है। परन्तु शर्त यह है कि बेचने, दान करनें या रहन रखने से तीन साल पहले से वह उसे जोतता हो।

पाँचवी श्रेणी मौरूसी काश्तकारों की है। ये तीन प्रकार के हैं—

(१) वह व्यक्ति जो सन् १९२६ के आगरा-लगान-कानून के अन्तर्गत कानूनी काश्तकार हो और उसके वारिस;

(२) वर्त्तमान कानून के अन्तर्गत जो काश्तकार मजूर किया गया

हो; परन्तु वह सीर का काश्तकार न हो और न शिकमी काश्तकार (Subtenant) हो।

(३) प्रत्येक व्यक्ति जिसने इस कानून के अन्तर्गत मौरूसी अधिकार प्राप्त कर लिये हो।

छठी श्रेणी दखीलकार काश्तकारो की है। ये वे काश्तकार है जिन्हे पहले लगान-कानून के अन्तर्गत दखीलकार काश्तकार के अधिकार प्राप्त थे।

जो काश्तकार उपर्युक्त किसी श्रेणी मे नही है वे गैरदखीलकार काश्तकार है।

अन्तिम श्रेणी के काश्तकार को छोडकर शेष काश्तकारो की सभी श्रेणियो को नीचे लिखे अधिकार प्राप्त है—

(१) हकदारान कब्जा मुस्तकिल और शरह मुअइअन काश्तकार दोनो को अपनी जमीन पर पूरा अधिकार है। वे उसे बेच सकते है, रहन कर सकते है और उनके वारिस भी उसे उत्तराधिकार मे प्राप्त कर सकते है।

(२) अवध के खास काश्तकार, साकितुल मिल्कियत काश्तकार, दखीलकार, मौरूसी तथा गैर-दखीलकार काश्तकारो को जमीन बेचनें या रहन रखने का अधिकार नही है। वह केवल वारिसो को ही प्राप्त हो सकती है।

(३) प्रत्येक काश्तकार को जोत पर अपनी जमीन दूसरे काश्तकार को उठा देने का अधिकार है। परन्तु यह अधिकार शिकमी काश्तकार तथा सीर के काश्तकार को नही है।

(४) काश्तकार को लिखित पट्टा प्राप्त करने का अधिकार है।

(५) हकदारान कब्जा मुस्तकिल, शरह मुअइअन काश्तकार, अवध में दखीलकार काश्तकार, या खास अधिकारवाले काश्तकार अपनी जमीन पर कोई भी सुधार कर सकते है [1]। शेष काश्तकारो को भी

[1] खेती के सम्बन्ध में काश्तकारों को निम्नलिखित सुधार करने का अधिकार है—

सब प्रकार के सुधार करने के अधिकार है। परन्तु वे निम्नलिखित सुधार जमीदार की लिखित आज्ञा के बिना नही कर सकते जबतक कि ऐसा रिवाज ग्राम मे प्रचलित न हो जिससे उन्हें अधिकार प्राप्त हो जाये—

(अ) जोत के पास ही आराम या सुविधा के लिए मकान बनाना;

(ब) खेती के काम के लिए तालाब बनाना।

(६) गैर-दखीलकार काश्तकार को जमीदार की आज्ञा के बिना जोत मे कोई भी सुधार करनें का अधिकार नही है।

(७) काश्तकारों को अपनी ज़मीन पर पेड़ लगाने का अधिकार है।

(८) काश्तकार को लगान अदा करने पर जमींदार से उसके हस्ताक्षर सहित रसीद पाने का अधिकार है।

(९) कृषि-वर्ष के अन्त होने से ३ मास पहले तक काश्तकार को ज़मीदार से ब्याज का हिसाब प्राप्त करने का अधिकार है।

(१०) बकाया लगान के लिए जो काश्तकार अपनी कुल काश्त या उसके किसी हिस्से से बेदखल किया जायेगा उससे बकाया लगान, चाहे

---

१. अपनी जोत पर अपने या मवेशी के लिए मकान या गोदाम बनाना।

२. जोत की तरक्की के लिए कोई भी काम करना, जिनमें निम्नलिखित काम शामिल है—

१. खेती के लिए कुआ बनाना या पानी जमा करने के लिए प्रबन्ध करना;
२ बाढ़ तथा पानी से फसल की रक्षा के लिए नालियाँ बनाना,
३. ज़मीन की सफ़ाई करना, घेरा लगाना तथा उसे समतल बनाना,
४. जोत के समीप आराम के लिए मकान बनाना;
५. खेती के लिए तालाब बनाना;
६. उपर्युक्त कामों को फिर से बनाना।

उसकी डिग्री हुई हो या न हुई हो, वसूल करने का जमीदार को हक न होगा।

(११) यदि कोई काश्तकार अपनी जोत से बेदखल कर दिया गया हो तो उसे उस गाँव में उसके रहने के मकान से वेदखल न किया जा सकेगा।

इस कानून मे सयुक्तप्रान्त के ३४ लाख से ऊपर खेतिहर मजदूरो को कोई अधिकार नही दिया गया है। इन खेतिहर मजदूरो की दशा अत्यन्त शोचनीय है। शहरों में, मिलो में काम करनेवाले मजदूरो के लिए मजूरी, काम के घटे तथा छुट्टियों आदि के सम्बन्ध मे कानून बन गये हैं परन्तु खेतो पर काम करनेवाले किसानो के सम्बन्ध मे अभीतक कोई कानून नही है। उनसे दिन-रात काम लिया जाता है और दो या ढाई आने मजदूरी दे दी जाती है। अक्सर यह मजदूरी भी नही मिलती। प्राय. जमीदार बेगार में ही उनसे काम लेते हैं। फसल काटने के समय मजदूरी कुछ बढा दी जाती है। स्त्रियो को दो आने रोज से अधिक मजदूरी नही दी जाती। खेतिहर मजदूर वास्तव में गुलामी की दशा मे हैं। वे अधिकाश में उस वर्ग मे से है जिसे 'दलित' कहा जाता है।[१]

वैसे तो समस्त भारत में खेतो पर काम करनेवाले मजदूरो की अवस्था बुरी है परन्तु बिहार और गुजरात प्रान्त में तो उनकी दशा गुलामो की तरह है। गुजरात में इन्हे हाली और बिहार में भूमिया कहा जाता है।

हाली खेतो पर काम करनेवाले मजदूर हैं जो अपनी मर्जी से मजदूरी पर काम नही करते; परन्तु उन्हे बडे-बडे जमीदारो द्वारा स्थायी रूप से पुश्तैनी नौकर बनाकर रखा जाता है और उनके खानें तथा रहने का प्रबन्ध जमींदारो द्वारा ही किया जाता है। वे अपने काम को छोडकर दूसरी जगह काम नही कर सकते। इस प्रकार इन हालियो और अमरीका के खेतो पर काम करनेवाले उन गुलामो में कोई अन्तर नही है, जो गृहयुद्ध से पूर्व अमरीका में पाये जाते थे। बस, अन्तर केवल इतना

१ डॉ० जेड० ए० अहमद : 'द एग्रेरियन प्रॉब्लॅम इन इडिया'

ही है कि अदालते इन मजदूरों तथा इनकी मजदूरी पर जमीदारो का निरपेक्ष स्वामित्व नही स्वीकार करती। ये कानूनी रूप से स्वतन्त्र है पर वस्तुत' गुलाम है।[१]

किसानों का कर्जा

किसान न केवल गरीब, नासमझ और अत्याचार-पीडित ही है, बल्कि उनके सिर पर कर्जे का बडा बोझ भी है जिससे वे दबे जारहे है। सन् १९३० मे प्राविन्श्यल बैंकिग इन्क्वायरी कमिटी ने किसानों के कर्जे का जो अनुमान लगाया था, यद्यपि वह सर्वांश मे सत्य नही है, तो भी उससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि किसानों पर कर्जे का कितना भारी बोझ है। प्रत्येक प्रान्त मे किसानो पर कर्जा करोड रुपयो में इस प्रकार था—

बम्बई-सिन्ध	८१	बिहार-उड़ीसा	१५५
मद्रास	१५०	आसाम	२२
बगाल	१००	केन्द्रीय प्रदेश	१८
सयुक्तप्रान्त	१२४	ब्रह्मा	५० ५
पजाब	१३५	कुर्ग	३५ ५५ लाख
मध्यप्रान्त-बरार	३६ ५		

उद्योग-व्यवसाय

विगत अर्द्धशताब्दी में, विशेष रूप से विगत महायुद्ध के बाद से, भारत मे उद्योग-धन्धो की पर्याप्त उन्नति हुई है। एक समय था जब भारत में उँगलियों पर गिनी जाने लायक मिले थी और उनमे जो माल तैयार होता था वह विदेशी माल के मुकाबिले बहुत ही घटिया था। इस समय (सन् १९४०-४१) ब्रिटिश भारत में कुल रजिस्टर्ड कारखानो की संख्या १०,७८२ है। ९,७४३ कारखाने चले जिनमें ६,०८६ कारखाने सालभर काम करते रहे और ३,६५७ ऋतु-विशेष में।

१ जे० एम० मेहता : 'ए स्टडी ऑव रूलर इकनॉमी ऑव गुजरात'

कारखाने

रुई की धुनाई, कपड़े की बुनाई, कोच बनाने, मोटरकारो की मरम्मत करने, इंजीनियरिंग, छपाई, जिल्दसाजी और चावल के उद्योगो मे काफी उन्नति हुई है। मोजे, तेल, ग्लास, सीमेंट, ईंट, टाइल, चाय और चमड़ा बनाने के उद्योगो का भी पर्याप्त विस्तार हुआ है।

इन कारखानो में काम करनेवाले मजदूरो की सख्या सन् १९३८ में १७,३८,००० थी। यह अवतक की सख्याओ में सबसे अधिक है। रुई के उद्योग में ५,१२,००० और जूट के उद्योग मे २,९५,००० मजदूर लगे हुए हैं। जिनमे २४१,००० स्त्री-मजदूर और १०,७४२ बालक हैं।

पैदावार

महायुद्ध के बाद भारतीय उद्योग-धन्धो में जो प्रगति हुई उसका अनुमान निम्नलिखित विवरण से भली भाँति लग जाता है

भारत में विदेशों से आनेवाला माल

वस्तुएं	सन् १९१३-१४	सन् १९३८-३९
सूती वस्त्र	५३,२०,५१,०००	२२,६६,२०,०००
लोहा व इस्पात	१२,४८,५०,०००	६,६७,२०,०००
ऊनी कपड़ा	३,२४,६०,०००	२,८१,९०,०००
कांच का सामान	१,६१,९२,०००	१,२५,१२,०००
तम्बाकू	५२,७४,०००	४०,२७,०००
सीमेंट	५२,७७,०००	१०,०५,०००
शक्कर	१२,९२,५०,०००	४५,४८,०००
मिट्टी का सामान	५२,१९,०००	३९,१९,०००
खिलौने	४०,०५,०००	३७,३०,०००
दियासलाई	१,५३,३१,०००	२३,५२,०००
साबुन	६१,८७,०००	२२,४४ ०००
छाते	४१,९४,०००	१४,८७,०००
	८८,२,९१,००० रु०	३६,२४,२४,००० रु०

सन् १९३८-३९ में भारत से निम्नलिखित माल विदेशो में भेजा गया:

चीजें	रुपये	चीजें	रुपये
कच्चा जूट	१३,३९,६७,०००	खाने-पीने की चीजे	५९,३२,०००
तैयार जूट	२६,२६,११,०००	रंगने तथा चमडा बनाने की चीजें	५९,११,०००
कच्ची रुई	२४,६६,६५,०००		
तैयार रुई	७,११,७९,०००	खाद	३७,२२,०००
चाय	२३,४२,४७,०००	मोम	३६,२५,०००
बीज	१५,०९,२२,०००	दवाइयाँ	२७,८३,०००
अनाज,आटा-दाल	७,७४,१२,०००	सुअर के बाल	२६,३२,०००
चमडा	५,२७,५८,०००	शक्कर	२४,१८,०००
धातु	४,९१,०२,०००	हड्डियाँ	२३,७१,०००
ऊन	३,८४,९५,०००	लकडी	२३,६६,०००
कच्चा चमडा	३,८४,६७,०००	ब्रुश तथा झाड़न	१५,७१,०००
खली	३,०१,२०,०००	इमारती सामान	१४,७५,०००
तम्बाकू	२,७५,६७,०००	पोशाक	१२,६२,०००
फल-तरकारी	२,२६,८६,०००	गन्धक	१०,८९,०००
कोयला व कोक	१,३६,२५,०००	चारा	८,९६,०००
लाख	१,२६,६५,०००	जानवर (जीवित)	८,२३,०००
भोंडर	१,१४,१२,०००	रस्सी	८,१२,०००
तेल	१,०३,३९,०००	रेशम	४,२६,०००
ताँबा	९६,०१,०००	टैलो	३,२७,०००
मसाले	७३,६६,०००	सींग	२,३६,०००
कहवा	७५,११,०००	बत्तियाँ	२,०००
गांजा	७१,९८,०००	अफीम	१,०००
कच्ची रबड़	७१,५८,०००	दूसरी चीजे	५,८०,७७,०००
मछलियाँ	६९,२९,०००		१,६२,९२,५५,००० रुपये

भारत के आयात-निर्यात का तुलनात्मक अध्ययन निम्नलिखित अंकों से किया जा सकता है—

वर्ष	आयात (रुपयो मे)	निर्यात (रुपयो में)
१९३५	१,१५,३५,७०,१४४	१,४७,२५,०६,८२०
१९३६	१,३२,२८,६४,६५३	१,५१,६६,९७,४९७
१९३७	१,२५,२४,०५,४२५	१,९६,१२,४६,२८६
१९३८	१,३४,४२,३२,३८५	१,६०,५२,३६,९१४
१९३९	१,७३,७८,७६,०८९	१,८०,९२,४२,२२१

ज्वायण्ट स्टॉक कम्पनियों की पूँजी

भारत मे इस समय विविध उद्योग-धन्धो में कपनियो की जो पूंजी लगी हुई है, उसका अध्ययन यह बताता है कि देश मे उद्योग-धन्धो में बढती हो रही है। १९३६-३७ के अकों के अनुसार भारत के बैंकिग, बीमा, जहाजी, रेलवे तथा ट्रामवे कपनियो, रुई, जूट, ऊनी तथा रेशमी मिल, रुई व जूट के प्रेस, आटे के मिल, चाय, दूसरे मिल, कोयला शक्कर आदि उद्योग-धन्धों और व्यवसायों की भारत में रजिस्टर्ड कम्पनियों में २ अरब १७ करोड ९३ लाख ४४ हजार रुपये की और विदेशों मे रजिस्टर्ड कम्पनियों में ७ अरब २५ करोड ३१ लाख २ हजार पौंड की पूंजी लगी हुई है।

मजदूरों की दशा

भारतीय उद्योग-धन्धो के विकास में पूंजी और उत्पादन के अन्य साधनो का तो महत्त्व है ही मानव की श्रम-शक्ति का महत्त्व भी कम नही है। पूंजीपति और मिल-मालिक, वास्तव मे, मजदूरो की इस श्रम-शक्ति से ही मालामाल होते है। अत मजदूरो का उद्योग में विशेष स्थान है। जबसे उद्योग-धन्धों में प्रगति होनें लगी है, तबसे मिल में काम करनेवाले मजदूरो की समस्या भी विकट होती जा रही है।

मजदूरो की मजदूरी, काम करने के घन्टे, उनके साथ मालिकों का व्यवहार, उनके रहनें की व्यवस्था, उनके स्वास्थ्य की रक्षा का प्रबन्ध, उनके

बालको की शिक्षा तथा स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था, अपाहिज तथा वृद्ध मजदूरो की वृद्धावस्था मे सहायता, छुट्टियों के नियम, वेतन-वृद्धि तथा भत्तो के नियम आदि ऐसे प्रश्न है जिनका अभीतक समुचित समाधान नही हो सका है। यही कारण है कि आज मजदूरो में घोर असन्तोष और अशान्ति है। उनके पास अपनी शिकायतो के दूर कराने के लिए केवल एक ही साधन है और वह है—हडताल।

मजदूरो के पारिश्रमिक (मजदूरी) का प्रश्न बड़ा विकट है। बडे-बडे औद्योगिक नगरो मे मिलो और कारखानों में काम करनेवाले मजदूर अक्सर ग्रामो से आते है। अपने परिवारो को अपने ग्राम मे छोडकर, वे शहरो मे मजदूरी करने जाते है। ऐसे भी मजदूर है जो अपनी स्त्री-बच्चो को साथ ले आते है। कारखानो मे उन्हे वेतन कम मिलता है और इस पर उन्हें शहर के खर्चीले जीवन का सामना करना पडता है। शहरो मे मकानों का किराया अधिक होता है। एक-एक छोटी सी कोठरी मे चार-चार-छ-छ. स्त्री-पुरुष रहते है। एक-एक कोठरी मे, जिसका क्षेत्रफल १२×१२ वर्गफीट होता है, कभी-कभी दो-दो तीन-तीन मजदूरों को सपरिवार रहना पडता है! खाना खाने, बैठने, सोने आदि के लिए ऐसे छोटे-छोटे कमरो का एक भाग ही उन्हे मुशकिल से मिलता है।

अहमदाबाद और बम्बई मे मजदूरो के रहने के लिए चाले बनायी गयी है जिनका किराया उन्हे देना पडता है। ये चाले इतनी गन्दी तथा अस्वास्थ्यकर है कि इनमे पशुओं को बाँधना भी अन्याय होगा।

मिल-मालिको की ओर से अथवा म्यूनिसिपल बोर्डो ने शहरो मे मजदूरों के लिए क्वार्टर बनाने का प्रयत्न किया है। परन्तु अभी तक इधर जो प्रयत्न हुआ है वह सतोषप्रद नही है। सयुक्तप्रान्त मे ४५४ क्वार्टर बनाये गये है। ये अधिकाश में शक्कर-मिलों की तरफ से बनाये गये है। मद्रास मे मजदूरो के लिए कम किराये पर क्वार्टर बनाये गये है। कुछ साल पहले डेवलपमेंट डिपार्टमेंट द्वारा बम्बई मे मजदूरो के लिए चाले बनायी गयी थी। अब उनमें सुधार किया गया है और उनमे

मजदूरो को रहने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। २०७ चालों मे से १९२ में अब मजदूर रहने लगे है। इन चालो में ६३,००० मजदूर रहते है। अहमदाबाद मे म्यूनिसिपल बोर्ड ने १५६ क्वार्टर मजदूरों के लिए बनवा दिये हैं। बगाल मे २० मिलो ने अपने मजदूरो के लिए मकान बनवा दिये है। अजमेर-मेरवाडा, बिहार-उड़ीसा, मध्यप्रदेश-बरार, देहली तथा सीमाप्रात मे मजदूरों के लिए अभी कोई योजना नही बनायी गयी है।

कानपुर के मजदूरो की दशा की जाँच के लिए ३० अगस्त १९३७ को सयुक्तप्रान्त की सरकार ने एक जाँच-कमेटी बनायी थी। इस कमेटी के सामने कानपुर की मजदूर-सभा की ओर से एक वक्तव्य दिया गया जिसमे मजदूरी के विषय मे लिखा है—

"मिलों में प्रधान-निरीक्षक के कथन से विदित होता है कि संयुक्त-प्रान्त में, जहाँ का मुख्य व्यावसायिक केन्द्र कानपुर है, कपडों की मशीनों पर काम करनेवाले मजदूर को ३३ रुपये और सूत कातने की मशीन पर काम करनेवाले मजदूर को २५ रुपये मासिक मिलते हैं। पजाब, दिल्ली और बंगाल में इससे अधिक मजदूरी नहीं मिलती। बम्बई की चुनी हुई १९ मिलों की जाँच करने से पता चलता है कि वहाँ मजदूरों को ४० रुपये १२ आने २ पाई से ५४ रुपये ७ आने तक मजदूरी मिलती है।"

मजदूर-जाँच-समिति को यह विश्वास है कि सयुक्तप्रान्त मे वस्त्र-व्यवसाय की काफी उन्नति हुई है और उसने यह सिफारिश की है कि कानपुर के मजदूरो की मजदूरी म १० से १२ प्रतिशत वृद्धि करदी जाये। कमेटी ने मजदूरों को पाँच श्रेणियों मे विभाजित कर दिया है और उनकी मजदूरी मे इस प्रकार वृद्धि करने की सिफारिश की है

श्रेणी	वृद्धि	कुल वेतन
१३) से १९) रु० तक	२½ आने प्रति रु०	अधिक से अधिक २१॥)
१९) से २५) ,, ,,	२ आने ,,	,, ,, २७॥)
२५) से ३३) ,, ,,	१½ आने ,,	,, ,, ३५)
३३) से ४०) ,, ,,	१ आना ,,	,, ,, ४१॥)

४०) से ५९) रु० तक ₹ आना प्रति रु० अधिक से अधिक ६०॥)

मजदूरों को ४ श्रेणियो मे विभाजित किया गया है जिनका वेतन क्रमश ४०) रुपये से अधिक, ३०) से ४०) तक, १५) से ३०) तक और १५) रुपये तक है और उन मजदूरो का औसत आय-व्यय रुपयो मे इस प्रकार है ।

श्रेणी	आय	व्यय	बचत	घाटा
पहली	५३–८–५	५३–५–९	०–२–८	०–०–०
दूसरी	३५–२–२	३७–५–११	०–०–०	२–३–९
तीसरी	२०–११–२	२२–२–३	०–०–०	१–६–११
चौथी	१२–१०–२	१५–५–६	०–०–०	२–११–४

३०) वेतन पानेवाले मजदूर का औसत व्यय इस प्रकार होता है—

	सपरिवार	अकेला
आटा	३)	२)
दाल	१॥)	१)
शाक-सब्जी	१)	॥)
नमक	।=)	≡)
मसाले	१)	॥)
शक्कर-मिठाई	१)	
दूध-घी	२॥)	
अन्य खाद्य-पदार्थ	१)	॥)
लकड़ी-तेल	३)	२)
वस्त्र	४)	१)
मकान-किराया	२॥)	२)
नाई-धोबी	१)	॥)
तम्बाकू	॥)	॥–)
शराब	१॥)	१)
ऋण पर व्याज	२)	२)
सफर-खर्च	२)	१)
	२८=)	१५)

मजदूरों के हित के लिए कानून

मजदूरो के हितो की रक्षा के लिए प्रान्तीय सरकारो ने कुछ कानून हाल मे बनाये है जिनमें से निम्नलिखित कानून उल्लेखनीय है—

(१) प्रसूता-सहायक-कानून—इससे कारखानों व मिलो मे काम करनेवाली स्त्री-मजदूरो के लिए प्रसव से पूर्व और उसके बाद निर्धारित समय के लिए सवेतन अवकाश देने की व्यवस्था की गयी है।

(२) मजदूर-सघ-कानून—इसके अनुसार मजदूरों को अपने कल्याण के लिए सगठन करने तथा आन्दोलन करने का अधिकार प्राप्त है।

(३) मजदूर-विवाद-कानून—इसके अनुसार मिल-मालिको तथा मजदूरो के पारस्परिक झगडो को शान्तिपूर्वक निपटाने की व्यवस्था की गयी है।

(४) मजदूर-क्षतिपूर्ति-कानून—कार्यकाल में किसी मजदूर की मृत्यु हो जाये या उसे कोई शारीरिक हानि पहुँचे तो इससे उसे मुआविजा देने की व्यवस्था की गयी है।

: १६ :

राष्ट्रीय जीवन

शासन-पद्धति

आजकल भारत का शासन सन् १९३५ के भारत-सरकार-कानून के अनुसार चल रहा है। इस कानून से पहले सभी भारत-सरकार-कानून केवल ब्रिटिश भारत मे ही लागू होते थे लेकिन इस शासन-विधान का सबध प्रान्तो और देशी राज्यो दोनों से है। इस विधान के दो प्रमुख भाग हैं। एक भाग मे सघ-शासन की योजना है और दूसरे भाग मे प्रान्तीय शासन की।

भारतीय संघ-शासन

भारतीय सघ-राज्य के दो प्रधान अग निर्धारित किये गये है—(१) गवर्नरो के प्रान्त और (२) देशी राज्य। इसमे चीफ कमिश्नर के प्रान्त भी शामिल हैं।

भारतीय शासन मे गवर्नर-जनरल और वायसराय ये दो अलग-अलग पद हैं। गवर्नर-जनरल सम्राट की ओर से भारतीय सघ का सर्वोच्च शासक होगा। वायसराय की हैसियत से वह उन देशी नरेशो का नियन्त्रण करेगा जो सघ-राज्य मे शामिल न होगे और उन विषयो का भी जो सम्राट् उसे सौप दे। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति के समय सम्राट् की ओर से आदेश-पत्र दिया जायेगा जिसके अनुसार वह भारत का शासन करेगा। इस आदेश-पत्र में दो बाते विशेषत उल्लेखनीय है। गवर्नर-जनरल उस व्यक्ति के परामर्श से मन्त्रियो को नियुक्त करेगा जिसके साथ उसके विचार में व्यवस्थापक सभा का बहुमत होगा। वह अपने अधिकारों का प्रयोग मंत्रियो के परामर्श से उस समय तक करेगा जबतक कि उसकी विशेष जिम्मेदारियो मे कुछ बाधा न पडे।

भारतीय सघ-शासन की मुख्य विशेषता है उत्तरदायित्व का अभाव तथा द्वैध-शासन-प्रणाली की स्थापना। सन् १९३५ से पहले जिस प्रकार

भारत के प्रान्तों मे शासन होता था, केन्द्र में भी उसी पद्धति की स्थापना की गयी है।

सेना, ईसाई-धर्म, पर-राष्ट्र-नीति और पिछडे प्रदेशो का शासन सुरक्षित विषय' कहे गये है। इन विषयो का शासन-प्रवन्ध गवंनर जनरल भारत-मत्री के नियत्रण मे स्वेच्छानुसार करेगा। वह अपनी सुविधा के लिए सुरक्षित विपयो के प्रवन्ध मे सहायता के लिए तीन परामर्शदाता नियुक्त कर सकेगा। इस प्रकार उपर्युक्त सुरक्षित विषय और अपनी विशेष जिम्मेदारियो को छोडकर सघ-शासन के अन्य विपयो का राज-प्रवन्ध गवर्नर-जनरल मत्रि-मडल के परामर्श से करेगा। मत्रि-मंडल में १० सदस्य होंगे जिनकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल के द्वारा होगी।

गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित है—

(१) भारतवर्ष या उसके किसी भाग में शान्ति-भग करनेवाले खतरो का निवारण:

(२) संघ-शासन की आर्थिक स्थिरता और साख का सुरक्षित रखना;

(३) अल्प-संख्यक जन-समुदायो के उचित हितो की रक्षा करना;

(४) सरकारी नौकरियो के सदस्यो और उनके आश्रितो को शासन-विधान द्वारा दिये गये अधिकार दिलाना और उनकी रक्षा करना;

(५) व्यापारिक और जातिगत भेदभाव-संबन्धी उन नियमों पर अमल करना जिनकी व्यवस्था विधान के पांचवें भाग के तीसरे अध्याय में की गयी है,

(६) ब्रह्मा और इंग्लैंड के बने हुए आयात-माल के संबंध में ऐसे कामो को रोकना जिनके कारण इस माल के साथ भेद-भाव की नीति का व्यवहार होता हो;

(७) देशी रियासतो और उनके नरेशो के अधिकारो व मर्यादा की रक्षा करना;

(८) इस बात का प्रबंध करना कि अपने विवेक एवं व्यक्तिगत निर्णय द्वारा किये जानेवाले कार्यो के संपादन में अन्य किसी संबधित विपय से बाधा न पडे।

उपर्युक्त विषयो के शासन मे गवर्नर-जनरल अपनी नीति और कार्यो के लिए भारतमंत्री के प्रति उत्तरदायी होगा और अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य-संपादन करेगा। गवर्नर-जनरल पर भारतमंत्री का नियत्रण है। इसके अतिरिक्त उसपर किसी भारतीय संघ-सस्था या जनता का नियत्रण नही है और न वह सघ के प्रति उत्तरदायी ही है। वह भारत का सर्वेसर्वा है।

सघीय व्यवस्थापक-मण्डल मे सम्राट का प्रतिनिधि गवर्नर-जनरल, कौसिल ऑव स्टेट और हाउस ऑव असेम्बली शामिल है। कौसिल ऑव स्टेट मे २६० सदस्य होगे। इनमे से १५६ ब्रिटिश भारत के और १०४ देशी राज्यो के होगे। चुनाव साम्प्रदायिक प्रणाली के आधार पर होगा। उसके अधिकाश सदस्यो का चुनाव जनता द्वारा होगा। हिन्दू, सिख तथा मुस्लिम प्रतिनिधियो का चुनाव उन्हीके सम्प्रदायो के निर्वाचकों द्वारा होगा। वड़े देशी राज्यो को अकेले एक सदस्य और छोटी रियासतो को कई मिलकर एक प्रतिनिधि मनोनीत कर भेजने का अधिकार होगा। एंग्लो-इडियन, यूरोपियन, भारतीय ईसाई और दलित जातियो के प्रतिनिधि परोक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जायेगे और इनके चुनाव मे वे ही व्यक्ति मताधिकारी होगे, जो प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्य होगे। इस कौसिल का कार्य-काल ९ वर्ष का होगा। एक तिहाई सदस्य ३ साल के लिए, एक तिहाई ६ साल के लिए और शेष एक तिहाई ९ साल के लिए होगे। $\frac{1}{6}$ सदस्यो का कोरम होगा और साल में एक वार अधिवेशन अवश्य होगा।

हाउस ऑव एसम्वली मे ३७५ सदस्य होंगे। इनमे से २५० ब्रिटिश भारत के और १२५ देशी राज्यों के होगे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि विभिन्न प्रान्तो मे इस प्रकार होंगे—मद्रास ३७, वम्बई ३०, वगाल ३७, संयुक्तप्रान्त ३७, पजाव ३०, विहार ३०, मध्यप्रान्त व वरार १५, आसाम १०, सीमाप्रान्त ५, उडीसा ५, सिन्ध ५, ब्रिटिश विलोचिस्तान १, दिल्ली २, अजमेर १ और कुर्ग १। ३ प्रतिनिधि उद्योग-धन्धों के और १ मजदूरो का होगा। चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर होगा।

असेम्बली का जीवन-काल ५ वर्ष होगा। उसकी अवधि नही बढायी जायेगी। असेम्बली के सदस्यो का चुनाव परोक्ष रूप से प्रान्तीय असेम्बली के सदस्यो के आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर होगा।

उपर्युक्त सघीय व्यवस्थापक-मण्डल के तीन अधिकार होगे। (१) शासन-निरीक्षण (२) नियम-निर्माण और (३) आर्थिक।

गवर्नर-जनरल के सुरक्षित विषयो, विशेष उत्तरदायित्वो और व्यक्तिगत निर्णयो के कामो को छोड़कर, सघीय-मत्रि-मडल हस्तान्तरित विषयो के शासन मे सामूहिक रूप से सघीय व्यवस्थापक-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होगा। प्रत्येक सदस्य को नियमानुसार मत्रियो से उनके कार्यों के बारे में प्रश्न पूछकर उत्तर माँगने का अधिकार होगा। वे शासन-विभाग की आलोचना करते हुए स्थगित प्रस्ताव भी रख सकेगे। कानून बनाने की सुविधा के लिए शासन-विधान द्वारा समस्त विषय प्रान्तीय और सघीय दो श्रेणियो में विभाजित कर दिये है। सघीय व्यवस्थापक-मण्डल को सम्पूर्ण सघीय विषयो पर कानून बनाने का अधिकार होगा।

कौंसिल ऑव स्टेट तथा असेम्बली दोनो का एक-एक निर्वाचित अध्यक्ष-उपाध्यक्ष तथा प्रधान-उपप्रधान होगा।

प्रत्येक कानून दोनो सभाओ की स्वीकृति से बनाया जायेगा। गवर्नर-जनरल कानून बनाने के लिए दोनो का सयुक्त अधिवेशन भी आमत्रित कर सकेगा। उसकी स्वीकृति के बिना कोई भी 'बिल' ऐक्ट नही बन सकेगा। गवर्नर-जनरल को स्वेच्छानुसार आर्डिनेस जारी करने तथा कानून बनाने का भी अधिकार होगा। आवश्यकता पड़ने पर वह सारे शासन-विधान को स्थगित कर उसकी बागडोर अपने हाथ में ले सकेगा।

भारतीय सघ के प्रान्तो व राज्यो के पारस्परिक झगडो, विधान-सबधी निर्णय तथा व्याख्या के लिए एक सघीय-न्यायालय होगा। इस न्यायालय में कोई भी मामला नियमानुसार निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जा सकेगा और अपील भी की जा सकेगी। प्रान्तो में या देशी राज्यो

मे यदि किसी अधिकार के सबध मे झगड़ा होगा, तो सघीय न्यायालय को निर्णय देने का अधिकार होगा।

सक्षेप में यह भारत के केन्द्रीय शासन की रूप-रेखा है। विधान के अनुसार-संघ शासन की स्थापना के लिए दो शर्तों की पूर्ति आवश्यक है :

(१) कम-से-कम इतने देशी राज्य सघ मे शामिल होने के लिए तैयार हो जायें जो कौंसिल ऑव स्टेट में ५२ सदस्य भेज सके और जिनकी जन-सख्या समस्त देशी राज्यो की जन-सख्या की आधी हो।

(२) प्रथम शर्त की पूर्ति के पश्चात, यदि ब्रिटिश पार्लमेंट की दोनों सभाएँ सम्राट से सघ-राज्य स्थापित करने की प्रार्थना करें, तो सम्राट इस आशय की घोषणा करेंगे कि अमुक तिथि से सम्राट के अधीन सघ-शासन स्थापित किया जाये।

जब सन् १९३५ मे ब्रिटिश पार्लमेंट ने भारत का शासन-विधान स्वीकृत किया तभी से भारत के वायसराय लार्ड लिनलिथगो द्वारा देशी राज्यो को सघ में शामिल कराने के लिए प्रयत्न हो रहा था। परन्तु नरेशो ने अपनी स्वीकृति नही दी थी। इतने ही मे सितम्बर १९३९ मे इग्लैंड और जर्मनी मे युद्ध छिड गया और सरकार ने भारतीय सघ की स्थापना के प्रयत्न को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया।

भारतीय लोकमत ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा प्रस्तावित इस संघ-योजना के विरुद्ध शुरू से ही है। काग्रेस तो सम्पूर्ण शासन-विधान को अस्वीकार्य घोषित कर चुकी है और संघ-योजना के अनुसार शासन की स्थापना न होने देने के लिए भी वह प्रयत्न कर रही थी। मुस्लिम लीग भी सघ-योजना के विरुद्ध है, परन्तु उसका दृष्टिकोण और उद्देश्य भिन्न है। देशी राज्यो के नरेश भी इसके विरुद्ध हैं।

ऊपर कहा जा चुका है। कि भारतीय शासन-विधान के 'सघ-शासन' और 'प्रान्तीय स्वराज्य' दो प्रमुख अंग है। इनमे से 'प्रान्तीय स्वराज्य' की स्थापना भारत के ग्यारहो प्रान्तो मे १ अप्रैल १९३७ से हो गयी है। अब प्रश्न यह है कि 'प्रान्तीय स्वराज्य' की स्थापना के बाद से 'सघ-शासन'

तक के काल मे भारत का केन्द्रीय शासन किस प्रणाली पर होगा ? इस सक्रमण-काल मे सपरिषद् गवर्नर-जनरल सघीय शासन-विभाग का काम करेगा और केन्द्रीय व्यवस्थापक-मण्डल सघीय व्यवस्थापक-मण्डल का। गवर्नर-जनरल की सारी जिम्मेदारियाँ नये विधान के अनुसार होगी। वह भारत-मन्त्री के आधीन होगा। फेडरल पबलिक सर्विस कमीशन, फेडरल रेलवे ऑथारिटी तथा फेडरल कोर्ट की स्थापना हो चुकी है। शासन-विधान मे परिवर्तन पार्लमेंट द्वारा अथवा आर्डर-इन-कौंसिल द्वारा ही हो सकेगा।

प्रान्तीय शासन-प्रणाली

भारत में दो प्रकार के प्रान्त है (१) गवर्नर के प्रान्त और (२) चीफ कमिश्नर के प्रान्त। गवर्नरो से शासित ११ प्रान्त है—बगाल, मद्रास, वम्बई, सयुक्त-प्रान्त, पजाव, विहार, उडीसा, आसाम, सिंध, सीमा-प्रान्त और मध्यप्रान्त तथा चीफ कमिश्नरो के प्रान्त है—ब्रिटिश बिलोचिस्तान, अजमेर-मेरवाडा, दिल्ली, कुर्ग, अन्डमान-निकोवार और पथ-पिपलोदा।

सन् १९३५ के विधान के अनुसार केवल उपर्युक्त ११ गवर्नरो के प्रान्तो में ही उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी है। इसीको 'प्रान्तीय स्वराज' कहा जाता है। गवर्नर-जनरल की भाँति गवर्नरो को भी नियुक्ति के समय आदेश-पत्र मिलता है। इस आदेश-पत्र में यह वतलाया जाता है कि वे अपने अधिकारो का प्रयोग किस प्रकार कर सकते है? गवर्नर उस व्यक्ति के परामर्श से अपने मन्त्रियो को नियुक्त करेगा जिसके साथ, उसके विचार में, प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा (असेम्वली) का वहुमत हो। वह अल्पसख्यक जन-समुदायो के प्रतिनिधियो को जहाँ-तक सभव होगा, मिलाने की कोशिश करेगा और इस वात का ध्यान रखेगा कि समस्त मन्त्रि-मडल में व्यवस्थापक-मडल को विश्वास हो। वह मन्त्रि-मण्डल के सयुक्त उत्तरदायित्व पर जोर देगा। प्रान्तीय गवर्नर अपने शासन-सवधी अधिकारो का उपयोग मन्त्रियो के परामर्श से तवतक

करेगा जबतक उसके विशेष उत्तरदायित्वो को पूरा करने मे कोई बाधा न पड़े। विशेष उत्तरदायित्वो को पूरा करने में बाधा पड़ने पर वह मन्त्रियो के परामर्श से प्रतिकूल व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य-सपादन करेगा।

प्रत्येक प्रान्त के शासन में गवर्नर की सहायता करने और उसे परामर्श देने के लिए एक मन्त्रि-मडल होता है। मन्त्रि-मडल के सदस्यो की सख्या निर्धारित नही है। किसी प्रान्त मे ३ मन्त्री है, किसी में १०, किसी मे ६। मन्त्रियो की नियुक्ति व्यवस्थापक-मडल मे बहुमत-दल के नेता के परामर्श से गवर्नर द्वारा की जाती है। उसी बहुमत-दल का नेता प्रधान-मन्त्री होता है। प्रत्येक मन्त्री का व्यवस्थापक-मण्डल का सदस्य होना आवश्यक है।

गवर्नरो के विशेष उत्तरदायित्व इस प्रकार है—

(१) प्रान्त या उसके किसी भाग मे शान्ति-भग करनेवाले खतरो को दूर करना;

(२) अल्प-सख्यक जनसमुदायो के उचित हितों की रक्षा करना,

(३) सरकारी नौकरियो के सदस्यो और उनके आश्रितो को शासन-विधान द्वारा दिये गये अधिकारों को दिलाना और उनके उचित अधिकारो की रक्षा करना,

(४) इग्लैंड और ब्रह्मा के बने हुए आयात माल के सबध मे ऐसे कामो को रोकना जिनके कारण इस माल के साथ भेदभाव-सबधी नीति का व्यवहार होता हो,

(५) प्रान्त के जिन भागो को नये शासन-विधान के अनुसार पथक् घोषित किया जाये उनके शासन तथा सुव्यवस्था का प्रबध करना,

(६) देशी राज्यो के अधिकारो और उनके नरेशो के अधिकारो और मर्यादा की रक्षा करना,

(७) गवर्नर-जनरल के उन आदेशों पर अमल करना जो वह अपने व्यक्तिगत निर्णय अथवा विवेक के द्वारा किये गये कार्यों के लिए जारी करे।

उपर्युक्त विषयो का शासन प्रान्तीय गवर्नर स्वेच्छानुसार करते है। इस प्रकार प्रान्तो में आज भी पूर्ण उत्तरदायी शासन-प्रणाली जारी नही है। उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त और भी कार्य है जिन्हे गवर्नर अपने विवेक या व्यक्तिगत निर्णय से करते है और जिनके लिए वे प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल के प्रति उत्तरदायी नही होते।

गवर्नरों के अधिकार

गवर्नरो को तीन प्रकार के अधिकार प्राप्त है—शासन-सबधी (Executive), व्यवस्था-सबधी (Legislative) तथा आर्थिक (Financial)।

(१) शासन-सम्बन्धी अधिकार—

(१) मन्त्रि-मडल की नियुक्ति;

(२) मन्त्रि-मडल के अधिवेशनो का सभापतित्व;

(३) एडवोकेट जनरल की नियुक्ति तथा पदच्युति;

(४) आतकवाद के दमन के लिए विशेष व्यवस्था;

(५) मन्त्रि-मडल के कार्यो के सचालन के लिए नियम बनाना;

(६) वैधानिक शासन-पद्धति के असफल होने पर अपने विवेक के अनुसार घोषणा द्वारा उसके अन्तर्गत उल्लिखित सारे काम अपने विवेक या इच्छानुसार कर सकते है और आवश्यकतानुसार, हाई-कोर्ट के अधिकारो के अतिरिक्त, किसी भी प्रान्तीय शासन-सस्था के अधिकारो को स्वय प्रयोग कर सकते है। इस प्रकार की घोषणा की सूचना भारत मत्री द्वारा पार्लमेंट को देनी पडती है। छ मास बाद इसका कार्यकाल पार्लमेंट की स्वीकृति से बढ़ाया जा सकता है। इस घोषणा के अनुसार शासन अधिक-से-अधिक तीन वर्ष तक किया जा सकता है।[1]

---

१. यूरोपीय युद्ध के प्रश्न पर कांग्रेसी मंत्रि-मडलो द्वारा त्याग-पत्र दे देने के बाद नवम्बर सन् १९३९ से भारत के उन प्रान्तों (मद्रास, बम्बई, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश, बिहार, उडीसा तथा सीमाप्रान्त) में गवर्नरो द्वारा परामर्शदाताओ की सहायता से शासन होरहा है। प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल स्थगित कर दिये गये है।

(२) व्यवस्था-संबंधी अधिकार—

(१) व्यवस्थापक सभाओं के अधिवेशन आमन्त्रित करने तथा विसर्जन करने का अधिकार,

(२) व्यवस्थापक-मडल भग करने का अधिकार;

(३) दोनो सभाओं के सयुक्त अधिवेशन आमत्रित करना,

(४) सदस्यो या मत्रियो का त्यागपत्र मजूर करना,

(५) प्रान्तीय व्यवस्थापक-मडल द्वारा पास कानूनो पर स्वीकृति देना या न देना गवर्नर-जनरल के लिए सुरक्षित रखना;

(६) किसी भी कानून के मसविदे को पुर्नविचार के लिए पुनः व्यवस्थापक सभा मे भेजना,

(७) आर्डिनेंस जारी करना,

(८) गवर्नर के कानून बनाना और जारी करना;

(३) आर्थिक अधिकार—

(१) प्रान्तीय व्यय की सारी माँगे गवर्नर की सिफारिश पर प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा मे पेश की जाती हैं। व्यय के दो भाग है—

(अ) प्रातीय व्यय का वह भाग जिसका उल्लेख विधान मे किया गया है।

(ब) वह व्यय जिसकी माँग प्रथम भाग के अतिरिक्त पेश की जाती है।

अमुक माँग प्रथम भाग की है या द्वितीय की—इसका निर्णय गवर्नर पर निर्भर है। प्रथम भाग की माँग पर व्यवस्थापक सभा को मत देने का अधिकार नही है। द्वितीय भाग की माँगो पर सभा की राय जरूरी है।

प्रान्तीय व्यवस्थापक-मंडल

नये विधान के अनुसार भारत के केवल छ प्रान्तो बगाल, मद्रास, बम्बई, सयुक्तप्रान्त, बिहार और आसाम मे व्यवस्थापक-मडल के अन्तर्गत दो सभाएँ है जो कौसिल और असेम्बली कहलाती है। शेष ५ प्रान्तो मे केवल एक व्यवस्थापक सभा है जो असेम्बली कहलाती है। प्रान्तीय कौसिले स्थायी सस्थाएँ है और उनका कार्यकाल ९ वर्ष का है। प्रति

तीसरे वर्ष एक तिहाई सदस्य नये चुने जाते है। उसके सगठन का आधार साप्रदायिकता है। असेम्वली की रचना भी साम्प्रदायिक है।[१]

व्यवस्थापक-मण्डल के अधिकार तीन प्रकार के है—(१) शासन-नियत्रण (२) कानून निर्माण (३) आर्थिक।

(१) शासन-नियंत्रण—

प्रान्तीय गवर्नर अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के कामो को छोड़कर शेष सब कार्य अपने मन्त्रि-मडल की सहायता एव परामर्श से करते है। गवर्नर के द्वारा किये जानेवाले उन कार्यों पर जिन्हे वे अपने व्यक्तिगत निर्णय या विवेक से करते है प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल का कोई अधिकार नही है। व्यवस्थापक-मण्डल का कोई भी सदस्य किसी भी सरकारी विभाग की नीति व कार्य के सबध मे प्रश्न पूछ सकता है और मन्त्रियो को ऐसे प्रश्नो का उत्तर देना होता है। शासन-नीति के विरोध के लिए व्यवस्थापक सभा के अधिवेशन को स्थगित करने के लिए प्रस्ताव पेश किया जा सकता है। अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाने पर मन्त्रि-मडल को त्याग-पत्र देना पडता है।

---

१ प्रान्तीय कौंसिलो का संगठन इस प्रकार है—

प्रात	सामान्य	मु०	यूरो०	हि०ईसाई	असेवली द्वारा नियुक्त	गवर्नर द्वारा नियुक्त	योग
मद्रास	३५	७	१	३	...	८ से १०	५६
वम्बई	२०	५	१	..	...	३ से ४	३०
वगाल	१०	१७	३	...	२७	६ से ८	६५
सयुक्तप्रात	३४	१७	१	...	...	६ से ८	६०
विहार	९	४	१	...	१२	३ से ४	३०
असाम	१०	६	२	...	...	३ से ४	२२

प्रान्तीय असेम्वलियो का संगठन इस प्रकार है—

प्रान्त	कुल सदस्य	हिन्दू	दलितों के सुरक्षित स्थान	पिछड़ी जातियाँ व प्रदेश	सिक्ख	मुसलमान	एंग्लो इंडियन	यूरोपियन	हि० ईसाई	व्यापार-संघ	मजदूर	जमींदार	विश्वविद्यालय	महिला
मद्रास	२१५	१४६	३०	१	०	२८	२	३	८	६	६	६	१	८
बम्बई	१७५	११४	१५	१	०	२९	२	३	३	७	७	२	१	६
बंगाल	२५०	७८	३०	०	०	११७	३	११	२	१९	८	५	२	५
संयुक्तप्रांत	२२८	१४०	२०	०	०	६४	१	२	२	३	३	६	१	६
पंजाब	१७५	४२	८	०	३१	८४	१	१	२	१	३	५	१	४
बिहार	१५२	८६	१५	७	०	३९	१	२	१	४	३	४	१	४
मध्यप्रान्त	११२	८४	२०	१	०	१४	१	१	०	२	२	३	१	३
आसाम	१०८	४७	७	९	०	३४	०	१	१	११	४	०	०	१
सीमाप्रान्त	५०	९	०	०	३	३६	०	०	०	०	०	२	०	०
उडीसा	६०	४४	६	५	०	४	०	०	१	१	१	२	०	२
सिन्ध	६०	१८	०	०	०	३३	०	२	०	२	१	२	०	२

(२) नियम-निर्माण—

प्रान्तीय व्यवस्थापक-मडल को उन समस्त निर्धारित विषयो पर कानून बनाने का अधिकार है जो प्रान्तीय सूची के अन्तर्गत विधान में उल्लिखित है।

(३) आर्थिक अधिकार—

मन्त्रि-मडल प्रति वर्ष आर्थिक वर्ष के आरम्भ होने से पूर्व सरकारी आय-व्यय का व्योरा व्यवस्थापक-मण्डल के समक्ष स्वीकृति के लिए रखता है। निम्नलिखित मुद्दो पर असेम्बली और कौसिल मे बहस की जा सकती है; परन्तु उनपर मत देने का उन्हे अधिकार नही है—

१ गवर्नर का वेतन, भत्ते और उसके कार्यालय का वह खर्च जिसकी व्यवस्था सपरिपद सम्राट द्वारा की गयी हो,

२. प्रान्तीय सरकारी ऋण-सम्बन्धी खर्च,

३ मन्त्रियो तथा एडवोकेट जनरल का वेतन और भत्ता,

४ हाईकोर्ट के न्यायाधीशो का वेतन व भत्ता,

५ पृथक् प्रदेशो के शासन का व्यय;

६ किसी न्यायालय के निर्णय के अनुसार चुकायी जानेवाली रकम;

७ कोई और खर्च जो शासन-विधान और प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल द्वारा इस प्रकार का घोषित किया गया हो।

स्थानिक स्वायत्त शासन

प्रत्येक गवर्नर का प्रान्त कई भागो मे विभक्त होता है—प्रान्त का सबसे बडा भाग कमिश्नरी कहलाता है। एक प्रान्त में कई कमिश्नरियाँ होती है। कई जिलों को मिलाकर एक कमिश्नरी बनती है। कमिश्नरी का शासन कमिश्नर के आधीन होता है। वह इडियन सिविल सर्विस (आई० सी० एस०) का सदस्य होता है। वह मालगुजारी तथा भूमि सम्बन्धी कार्यो का नियन्त्रण करता है। वह जिलो के शासन का भी निरीक्षण करता है तथा स्थानिक बोर्डो का नियन्त्रण भी उसीके अधी होता है।

प्रत्येक जिले का शासन-प्रवध कलेक्टर के हाथ मे होता है। वह जिले का प्रमुख शासक है। मुख्यत उसके अधिकार मालगुजारी, शासन-प्रवन्ध, न्याय और निरीक्षण-सम्वन्धी हैं। मालगुजारी वसूलकरना कलेक्टर का प्रमुख काम है (जो कि नाम से ही स्पष्ट है)। जिले के शासन की देखभाल, जनता मे शान्ति-व्यवस्था तथा नागरिको के अधिकारो की सुरक्षा आदि उसके आनुषगिक कार्य हैं। कलेक्टर जिले का प्रधान मजिस्ट्रेट भी होता है। शासन-प्रवध के अतिरिक्त वह मुकद्दमो के फैसले करता है तथा डिप्टी कलेक्टरो के फैसलो की अपील सुनता है। जिले के प्रत्येक सरकारी विभाग के निरीक्षण करने का अधिकार कलेक्टर को है। वह भी इडियन सिविल सर्विस का सदस्य होता है। कुछ डिप्टी कलेक्टर भी कलेक्टर वना दिये जाते हैं। सिविल सर्जन, जेल सुपरिन्टेण्डेन्ट, पुलिस सुपरिन्टेण्डेन्ट आदि उसके कार्य मे योग देते हैं।

प्रत्येक जिले मे कई तहसीलें होती हैं। इन्हे परगना भी कहते हैं। प्रत्येक परगना या कई परगने का एक अफसर होता है जो डिप्टी कलेक्टर कहलाता है। डिप्टी कलेक्टर प्रान्तीय सिविल सर्विस का सदस्य होता है। डिप्टी कलेक्टर के कार्य भी कई प्रकार के हैं। अपने परगने के शासन-प्रवध की देख-रेख उसका प्रमुख कार्य है। वह फौजदारी और मालगुजारी के मुकद्दमे लेता है तथा तहसीलदारो के फैसलो की अपील भी सुनता है। प्रत्येक डिप्टी कलेक्टर जो परगना का अफसर होता है, प्रथम दर्जे का मजिस्ट्रेट होता है। प्रत्येक तहसील मे एक तहसीलदार और उसकी सहायता के लिए एक नायव-तहसीलदार होता है।

म्यूनिसिपल वोर्ड

सामान्य तथा औद्योगिक नगरो के प्रवध के लिए चार प्रकार की स्थानीय सस्थाएँ होती हैं—(१) कॉरपोरेशन (२) म्यूनिसिपैलिटी (३) पोर्ट-ट्रस्ट (४) इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट।

मद्रास, वम्वई, कलकत्ता, करॉची आदि वड़े-वडे नगरो मे म्यूनिसिपल वोर्ड को 'कॉरपोरेशन' और उसके अध्यक्ष को 'मेयर' कहते है।

म्युनिसिपैलिटी का शासन एक समिति के हाथ में होता है, जिसे 'म्युनिसिपल बोर्ड' कहते है। इस बोर्ड का चुनाव मतदाताओं द्वारा साम्प्रदायिक आधार पर होता है। निर्वाचन की सुविधा के लिए प्रत्येक शहर को कई वार्डो (हल्कों) मे बाँट दिया जाता है। प्रत्येक वोर्ड से सामान्यतया जनसख्या के आधार पर १ से ३ तक सदस्य चुने जाते है। कुछ म्युनिसिपल वोर्डो मे महिलाओ तथा दलित वर्गो के प्रतिनिधि सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते है।

म्युनिसिपल बोर्ड के उम्मीदवारो की योग्यताएँ—वोर्ड के उम्मीदवारों की योग्यताएँ एकसी है। सयुक्तप्रान्त मे प्रत्येक म्युनिसिपल मतदाता जो अग्रेजी, हिन्दी या उर्दू पढ लेता हो, जो म्युनिसिपल नौकर न हो, जो म्युनिसिपल वोर्ड के किसी ठेके का ठेकेदार या हिस्सेदार न हो, जो वैतनिक मजिस्ट्रेट या पुलिस का अफसर न हो, या सरकारी कर्मचारी न हो, म्यूनिसिपल वोर्ड का सदस्य चुना जा सकता है।

निर्वाचन—पहले चुनाव के लिए मतदाताओ की सूची तैयार होती है। एक निश्चित तारीख तक प्रस्तावकगण उम्मीदवारों का (नाम-पता सहित) प्रस्ताव और अनुमोदन आवेदनपत्रो द्वारा पेश करते है और निश्चित तिथि को रिटर्निंग अफसर उनकी जाँच करके उन्हे स्वीकृत या रद्द करता है। प्रत्येक आवेदन-पत्र के साथ ५०) दाखिल करने पडते है। म्युनिसिपल वोर्ड के चुनाव के दिन सरकार छुट्टी घोषित करती है। फिर प्रत्येक वोर्ड मे पर्चियों द्वारा उम्मीदवारो के मत लिये जाते है।

पदाधिकारी—जब इस प्रकार म्यूनिसिपल वोर्ड के सदस्यो का चुनाव हो जाता है तो सबसे पहली बैठक मे उसके अध्यक्ष (चेयरमैन) और उपाध्यक्ष चुने जाते है।

वोर्ड मे कुछ वेतनभोगी म्युनिसिपल पदाधिकारी भी होते है। जिनमें से मुख्य ये है—एक्जीक्यूटिव ऑफिसर, हेल्थ ऑफिसर, म्युनिसिपल इन्जीनियर, वाटर वर्क्स सुपरिण्टेण्डेण्ट, एजूकेशन सुपरिण्टेण्डेण्ट। इन उच्च पदाधिकारियो और अन्य छोटे कर्मचारियो की नियुक्ति वोर्ड

करता है और सुचारु रूप से काम चलाने के लिए अर्थ-समिति, शिक्षा-समिति, जल-व्यवस्था-समिति, पब्लिक वर्क्स कमेटी आदि उपसमितियाँ निर्वाचित करता है।

म्युनिसिपल बोर्ड अपने कार्य-सचालन मे एक बड़ी सीमा तक स्वतन्त्र है; परन्तु कमिश्नर और सरकार का उनपर नियंत्रण होता है। नागरिक जीवन को अधिक-से-अधिक सुखी बनाना ही इनका मुख्य लक्ष्य है। वे जनता की प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करते है, स्वास्थ्य की रक्षा के लिए नियमों का पालन कराते है, भोजन की शुद्धि और पवित्रता की रक्षा कराते है, मकान आदि बनाने के लिए मजूरी देते है और अपने नगरवासियो पर अनेक तरह के कर भी लगाते है।

जिला-बोर्ड

जिले के प्रबन्ध के लिए प्राय प्रत्येक जिले मे एक बोर्ड होता है, जिन्हे प्रान्तीय सरकार बनाती है। भारत मे कुल २०७ जिला बोर्ड है। इनकी भी रचना, सगठन, कार्य-प्रणाली, अधिकार इत्यादि म्युनिसिपल बोर्ड के समान ही है और चुनाव भी साम्प्रदायिक प्रणाली के आधार पर होता है।

ग्राम-पंचायतें

प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने प्रान्त में ग्राम-पचायत-कानून द्वारा ग्राम-पंचायतो की स्थापना करती है। (बगाल मे इन्हे यूनियन-बोर्ड कहा जाता है) ये ग्राम-पचायते ग्रामों के स्थानीय मामलो से सम्बन्ध रखती है। प्रत्येक ग्राम या कई ग्रामो की एक ग्राम-पचायत होती है। इसकी सदस्य-सख्या ५ या इससे अधिक होती है। ग्राम-पचायत के सदस्य, जिन्हे सरकार मनोनीत करती है, 'पच' कहलाते है। कही-कही (जैसे मध्यप्रान्त में) पचो का चुनाव होता है और कही-कही (जैसे सयुक्तप्रान्त मे) उनकी नियुक्ति कलेक्टर करता है।

इन पचायतो के अधिकार दो प्रकार के है—(१) न्याय-सबधी और (२) शासन-सबधी।

सयुक्त-प्रान्त में ग्राम-पचायते निम्नलिखित फौजदारी-दीवानी झगडों की जाँच करती और फैसले देती है—

(१) २५) रुपये तक के रुपये-पैसे के मुकद्दमे;

(२) साधारण मार-पीट या १०) रुपये तक की चोरी या १०) रुपये तक की हानि या जानबूझकर अपमान करने के फौजदारी मुकद्दमे;

(३) जानबूझकर जानवर पकडने और स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातो पर ध्यान न देने के मुकद्दमे।

ग्राम-पचायतो को फौजदारी के मामलो में १०) रुपये, मवेशियो के मामलो में ५) रुपये और स्वास्थ्य-सम्बन्धी मामलो में १) रुपये तक जुर्माना करने का अधिकार है, परन्तु मुचलके की कार्रवाई करने पर जमानत लेने अथवा कैद की सजा देने का अधिकार नही है।

पचायतो के शासन-सम्बन्धी-कार्य निम्नलिखित है—

ग्रामो में सडके बनाना, रास्ते बनाना, नये कुएँ बनाना, तालाबो और कुओ की सफाई, स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों की देखभाल; ग्रामवालो की शिक्षा, उनके खेल-तमाशो का प्रबन्ध, स्मशान-भूमि की व्यवस्था आदि। लेकिन बगाल के 'यूनियन बोर्ड' के अधिकार क्षेत्र मे सफाई, सार्वजनिक हित के काम आदि की भी देखभाल होती है।

राष्ट्रीय नवजागरण

राष्ट्रीयता का उदय

पृथ्वीराज के पतन के बाद से ही मुस्लिम शासन की जड जमी, जो मुगल साम्राज्य के निर्मूल होने पर उखड़ी; किन्तु उसको निर्मूल करनेवाली भी एक विदेशी सत्ता ही थी। मुगल खानदान के सदियों लम्बे शासन-काल में ही अग्रेजो ने भारतवर्ष मे अपना सिक्का जमाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। सन् १६०८ में व्यापार के लिए आये हुए अग्रेजो ने सूरत नगर मे अपनी पहली व्यापारिक कोठी बनायी। इसके तीन साल बाद इंगलैण्ड के राजा ने सर टामस रो को जहाँगीर के दरबार मे अपना राजदूत नियुक्त करके भेजा। इसी समय मे भारत में

अंग्रेजी व्यापार की जड जम गयी। धीरे-धीरे तराजू के साथ-साथ तलवार का राज्य भी जमने लगा।

मुगल शासन-काल और कम्पनी के शासन-काल में भारतीय जनता पतन की सीमा तक पहुँच चुकी थी। राजनीतिक पराधीनता के साथ-साथ भारतवासियो मे सामाजिक तथा धार्मिक पतन के लक्षण भी साफ-साफ दिखायी देने लगे। दस्तकारियो और ग्रामोद्योगों के नाश के साथ-साथ सस्कृति, कला तथा साहित्य का भी ह्रास होने लगा। हिन्दू लोग ईसाई धर्म के प्रति आकर्षित होने लगे और अपनी भाषा, साहित्य और धर्म का परित्याग कर विदेशी (ईसाई) धर्म, संस्कृति तथा भाषा को अपनाने लगे।

एक ओर भारतीय जीवन मे इस अवाछनीय परिवर्तन ने हिन्दू समाज के सामने एक भयानक समस्या ला दी, दूसरी ओर कम्पनी के शासक मनमाने ढग से जनता का शोषण करने लगे। सन् १८५७ मे जो भारतीय विद्रोह (गदर) हुआ वह इसी दु शासन के प्रति विद्रोह था। यह भारत का अन्तिम सशस्त्र विद्रोह था जिसमें राजा-रक सभी ने भाग लिया था।

इस प्रकार भारत मे राष्ट्रीयता के उदय का बीज वहाँ के विदेशी शासन की दमन और शोषण-नीति मे ही छिपा हुआ है।

हमारे आचार-विचार, धर्म, सस्कृति आदि की भावनाओ को बदलने-वाली हानिकर पाश्चात्य शिक्षा का एक लाभ यह भी हुआ कि भारतीयो मे पश्चिम के नवीन राजनीतिक आदर्शों तथा सिद्धान्तो को ग्रहण करने की प्रवृत्ति हुई। भारतवासी विदेशो मे अध्ययन के लिए गये और वहाँ के स्वतन्त्र वातावरण मे उन्होने नयी प्रेरणाएँ पायी। विदेशो में स्वतन्त्रता और समानता का जैसा स्वरूप उन्होंने देखा, स्वदेश मे वापस आने पर उसका उन्होने अभाव पाया। इससे उन्हे अपनी हीन स्थिति का बोध हुआ। फलत शिक्षित वर्ग मे असन्तोष उठ खडा हुआ।

उन्नीसवी सदी में राष्ट्रव्यापी धार्मिक पुनरुद्धार-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। राजा राममोहनराय ने वगाल मे ब्राह्म-समाज की

स्थापना की। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और श्री केशवचन्द्रसेन ने उनके कार्य में सहयोग दिया। वम्बई मे प्रार्थना-समाज स्थापित हुआ। न्यायमूर्ति रानाडे, सर रामकृष्ण भडारकर और सर नारायण चन्द्रावरकर ने वम्बई में हिन्दू-समाज-सुधार आन्दोलन की नींव डाली। श्री ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर ने विधवा-विवाह आन्दोलन का श्रीगणेश किया। श्री प्यारीचरण सरकार ने मद्य-निषेध-आन्दोलन द्वारा जनता के स्वास्थ्य-निर्माण मे योग दिया। महर्षि दयानन्द ने 'आर्य-समाज' की स्थापना करके उसके द्वारा ज्ञान-प्रचार से अधविश्वासो या रूढियो को छिन्न-भिन्न करने का काम किया। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ "सत्यार्थ-प्रकाश" में लिखा है कि "विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य, चाहे उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यो न हों, अच्छा होता है।" आर्य-समाज ने भारत में धार्मिक जाग्रति के साथ-साथ सामाजिक सुधार तथा राजनीतिक स्वाधीनता का भी मार्ग दिखाया।

मद्रास प्रान्त मे थियोसॉफिकल सोसायटी (ब्रह्मविद्या-समाज) की स्थापना हुई। इसकी सचालिका श्रीमती ब्लावस्टकी और उनके सह-योगी कर्नल आलकर ने राष्ट्रीय जागरण में प्रमुख योग दिया। श्रीमती वासन्तीदेवी (ऐनी बीसेंट) ने इस कार्य को आगे बढाया। प्राचीन भारतीय सस्कृति के पुनरुद्धार के लिए समाज ने पर्याप्त उद्योग किया। रामकृष्ण परमहस और उनके योग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का भारत मे ही नही विदेशो में, और विशेषरूप से अमरीका मे भी प्रचार किया।

यद्यपि मूलत ये आन्दोलन धार्मिक थे, किन्तु उनका एकमात्र लक्ष्य विदेशी जाति द्वारा शासित प्रजा में नवचेतना तथा नवजागरण की भावना उत्पन्न करना ही था। इन आन्दोलनो ने भारतवासियो के हृदय पर पुन यह छाप लगादी कि आर्य-सस्कृति ही सर्वश्रेष्ठ है, वैदिक धर्म ही प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ धर्म है, भारत का प्राचीन इतिहास बडा गौरवपूर्ण है आदि। इस विचारधारा से जनता में देशभक्ति की भावना उत्पन्न हुई।

धार्मिक पुनरुत्थान के साथ-साथ कला, साहित्य तथा औद्योगिक

क्षेत्रो मे भी राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार होने लगा। साहित्यकारो ने अपने नाटको, काव्यो, कहानियों, उपन्यासो और लेखो द्वारा जनता मे देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता के भाव भरना शुरू किया।

राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना

जब भारत मे हिमाचल से लेकर कन्याकुमारी और सिन्ध से लेकर ब्रह्मा तक राष्ट्रीय भावना का जागरण हो गया तो एक राजनीतिक सगठन की स्थापना की आवश्यकता अनुभव होना स्वाभाविक ही था। फलत. बगाल मे सन् १८५१ मे 'ब्रिटिश भारतीय सभा' (British Indian Association) की स्थापना हुई।

बम्बई तथा पूना में भी 'बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन' तथा 'पूना सार्वजनिक सभा' खोली गयी। सन् १८७६ मे बगाल मे श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व मे 'इडियन एसोसियेशन' की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य बगाल और सामान्यतया समस्त भारत मे राजनीतिक आन्दोलन करना था। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उत्तरी भारत में भ्रमण करके अपने ओजस्वी व्याख्यानो तथा भाषणो द्वारा राजनीतिक चेतना उत्पन्न की। सन् १८७७ मे देहली मे राज-दरबार हुआ। इसमे भारत के सभी प्रसिद्ध नेता तथा राजा-महाराजा सम्मिलित हुए। ऐसा कहा जाता है कि इस सुविशाल दरबार को देखकर श्रीसुरेन्द्रनाथ बनर्जी के हृदय मे एक अखिल भारतीय सस्था स्थापित करने का विचार आया और जब सन् १८८३ में कलकत्ता के एलबर्ट हाल में एक राजनीतिक सम्मेलन हुआ तो उसमे श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एक अखिल भारतीय सस्था स्थापित करने पर जोर दिया। यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि राष्ट्रीय महासभा की स्थापना के लिए सबसे पहले किसके हृदय मे विचार पैदा हुआ; परन्तु यह तो निश्चित है कि देश मे ऐसी सस्था की स्थापना के लिए वातावरण पहले से तैयार था। इडियन सिविल सर्विस के अवकाश-प्राप्त सदस्य श्री एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम ने इस दिशा मे आगे पग वढाया और २३ मार्च १८८५ मे पूना मे प्रथम राष्ट्रीय सभा (Indian National Union) बुलायी।

राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना

पूना मे हैजे के प्रकोप के कारण उपर्युक्त निश्चय के अनुसार सभा न हो सकी। इसलिए प्रथम अधिवेशन बम्बई मे ता० २८ दिसम्बर १८८४ को हुआ। इसमें देश के ७२ प्रमुख नेता शामिल हुए। इस अधिवेशन मे केवल ९ प्रस्ताव स्वीकार किये गये। इन प्रस्तावों का साराश इस प्रकार है—

भारत मे शासन-प्रवन्ध की जाँच की जाये, भारत-मन्त्री की कौसिल भग कर दी जाये, धारा-सभाओ मे सुधार किये जाये, आई० सी० एस० की परीक्षाएँ भारत और लन्दन मे साथ-साथ हो; सेना-व्यय मे कमी की जाये तथा भारत में ब्रह्मा को न मिलाया जाये।

काग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता मे दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में हुआ। इसमें ४४० प्रतिनिधि शामिल हुए। प्रारम्भ में दो-तीन वर्षोतक सरकारी अफसर तथा अग्रेज काग्रेस के कार्य में सहयोग देते रहे, परन्तु बाद मे सरकारी अफसर इसके विरोधी हो गये।

वंग-भंग और स्वदेशी आन्दोलन

कुछ वर्षो तक काग्रेस के कार्यक्रम में कोई रचनात्मक प्रवृत्ति नही रही। वह एक सुधारवादी वैधानिक सस्था थी। जनता से भी उसका सम्पर्क नही के बराबर था। उसके नेता उच्च-मध्यमवर्ग के धनी और उच्च-शिक्षित जन थे। लार्ड कर्जन की दमन-नीति और बगाल के विभाजन से जनता में असन्तोष उठ खडा हुआ। इसके फलस्वरूप जनता राजनीतिक आन्दोलन में दिलचस्पी लेनें लग गयी। पूना में महामारी के प्रकोप के अवरोध के लिए जो उपाय काम में लाये गये, वे इतने कठोर थे कि जनता उनके कारण बड़ी पीड़ित थी। वंग-भग का उद्देश्य सरकार ने बताया यह कि इससे शासन-प्रवन्ध में सुविधा मिलेगी, परन्तु वास्तव मे इसका उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय जागरण को शिथिल कर देना था।

सरकार पूर्वी बगाल में मुसलमानो का बहुमत बनाकर एक

समूचा मुस्लिम प्रान्त बना देना चाहती थी, जिससे वे हिन्दुओं के विरुद्ध हर समय आन्दोलन में लगे रहे। १९०५ की १९ जुलाई को सरकार ने बग-भग का प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसके विरोध मे बगाल में घोर आन्दोलन किया गया; परन्तु इस विरोध पर भी सरकार ने १६ अक्टूबर १९०५ को बगाल को दो प्रान्तो मे बाँट ही दिया। इसी समय बगाल में स्वदेशी-आन्दोलन का जन्म हुआ। विलायती वस्तुओ का बहिष्कार किया जाने लगा। बग-भग के दो परिणाम निकले। एक तो यह कि समस्त भारत मे स्वदेशी-आन्दोलन व्याप्त हो गया और दूसरा यह कि इसके गर्भ से साम्प्रदायिकता को जन्म मिला। अबतक हिन्दू-मुस्लिम नाम की कोई समस्या नही थी। परन्तु इसी समम से यह समस्या अपने उग्ररूप मे हमारे सामनें आ खडी; ई।

स्वराज की माँग

सन् १९०८ मे कांग्रेस का ध्येय इस प्रकार निश्चित किया गया —

'कॉग्रेस का उद्देश्य भारत की जनता के लिए एक ऐसी शासन-प्रणाली की स्थापना करना है जैसी ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत उपनिवेशो में प्रचलित है। इसके साथ ही साथ ब्रिटिश साम्राज्य के दायित्वों एवं अधिकारो में समानता के साथ भाग लेना भी उसका एक उद्देश्य है। इन उद्देश्यो की प्राप्ति वैधानिक उपायो द्वारा ही की जाये''' ।'

सन् १९०६ मे दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस नें अपना लक्ष्य 'स्वराज' की प्राप्ति घोषित कर दिया था। लोकमान्य बाल गगाधर तिलक के शब्द—'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है'—सारे देश मे प्रतिध्वनित होने लगे। इसी समय कांग्रेस मे दो दल पैदा हो गये—नरम और गरम। जब सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो इन दोनो दलों में तीव्र मतभेद पैदा हो गया। इस अधिवेशन मे गरम तथा नरम दोनो दलो मे सघर्ष हो गया। लोकमान्य तिलक गरम-दल के नेता थे और सर फीरोजशाह मेहता तथा श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी नरम-दल के। नरम-दल के नेताओ ने कांग्रेस का अधिवेशन हो जाने पर एक कमेटी

बनायी जिससे काग्रेस का विधान तैयार किया गया। वैध उपायो द्वारा भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज प्राप्त करना उसका लक्ष्य निर्धारित किया गया। गरम-दल के नेता इसके विरुद्ध थे, इसलिए सन् १९१६ तक वे काग्रेस से पृथक् रहे और काग्रेस पर नरम-दल का पूरा प्रभुत्व स्थापित हो गया।

यद्यपि लार्ड कर्जन भारत से विदा हो चुके थे तो भी सरकार का दमन-चक्र पूर्ववत् चल रहा था। काग्रेस के गरम-दल के नेताओ का देश से निर्वासन किया गया और राजद्रोह के अपराध में नेताओ को राज-वन्दी बनाया गया। इसी काल में मिन्टो-मार्ले शासन-सुधार योजना के अनुसार भारत मे नये शासन-सुधारो को कार्यान्वित किया गया। इस योजना द्वारा सर्वप्रथम साम्प्रदायिक चुनाव-प्रणाली को स्वीकार किया गया।

राष्ट्रीय आन्दोलन

गांधी-युग का आरम्भ

सन् १९१४ मे यूरोप में जर्मनी और ब्रिटेन मे महायुद्ध छिडा। ब्रिटिश सरकार की ओर से काग्रेस के नेताओ को यह आश्वासन दिया गया कि महायुद्ध की समाप्ति पर भारत की आकाक्षा पूरी कर दी जायेगी। इस आशा से लाखो की सख्या मे वीर भारतीयो ने यूरोप की रणभूमि में अपने प्राणो का होम किया तथा करोडो रुपये युद्ध-सचालन के निमित्त ब्रिटिश सरकार को दिये। महात्मा गाधी स्वय युद्ध मे घायलो की सेवा के लिए गये और बारडोली तथा खेडा आदि ग्रामो में उन्होने सेना मे भर्ती के लिए प्रचार किया। उस समय गाधीजी गाँव-गाँव में यह सन्देश सुनाते थे कि साम्राज्य की रक्षा से ही हमें स्वराज मिलेगा।

परन्तु राजभक्ति का पुरस्कार मिला—रौलट-कानून[1] के रूप मे दमन। इस कानून का समस्त देश में घोर विरोध किया गया।

---

१ सन् १९१५ में भारत में क्रान्तिकारी-दल ने विप्लव की एक योजना बनायी; किन्तु उसका रहस्योद्घाटन हो जाने से वह सफल न

महात्मा गाधी ने रौलट-कानून के विरोध मे सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू किया। उनके आदेशानुसार ६ अप्रेल १९१९ को समस्त भारत मे हडताल की गयी और सार्वजनिक उपवास रखा गया। पजाब मे घोर दमन हो रहा था। वहाँसे गाधीजी को निमत्रण मिला। ८ अप्रैल १९१९ को जब वे मथुरा होकर रेल द्वारा पजाब के लिए जा रहे थे, तब पलवल स्टेशन पर पुलिस ने उन्हे गिरफ्तार कर लिया और बम्बई ले जाकर छोड दिया। अमृतसर के जलियाँवाला बाग और अहमदाबाद मे हत्याकाड हुए और वहाँ मार्शल-लॉ (फौजी-कानून) जारी किया गया। नेताओ और कार्यकर्ताओ की गिरफ्तारी से देश मे अशान्ति की आग सुलगती गयी।

दमन तथा शासन-सुधार

भारत मे अग्रेजी शासन की यह एक विशेषता रही है कि वह दमन के साथ-साथ शासन-सुधार की योजनाएँ भी तैयार करके उदार-दली भारतीयो का सहयोग प्राप्त करने के लिए उद्योग करती रही है। एक ओर १३ अप्रेल १९१९ को अमृतसर के जलियाँवाला बाग मे एक सार्वजनिक सभा पर, जिसमें कोई २०,००० स्त्री-पुरुष मौजूद थे, जनरल डायर ने १५० सैनिकों से गोली चलवा दी, जिसमे ४०० व्यक्ति मारे गये तथा लगभग २००० व्यक्ति घायल हुए और दूसरी ओर भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड तथा भारत-मत्री मि० माण्टेग्यू भारत मे शासन-सुधार के लिए योजना तैयार कर रहे थे।

जब अमृतसर मे दिसम्बर १९१९ मे काग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था, तो उससे २-३ दिन पहले २४ दिसम्बर को ब्रिटिश सम्राट की ओर से भारत के शासन-विधान पर स्वीकृति के हस्ताक्षर कर दिये गये।

हो सकी। भारत सरकार ने दमन के लिए भारत-रक्षा-कानून बनाया। यह युद्ध-काल में जारी रहा और युद्ध के बाद भी इसे जारी रखा गया। स्थिति पर विचार करने के लिए जस्टिस रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गयी जिसने यह सिफारिश की कि दमन जारी रखा जाये।

काग्रेस के दोनो दलो मे मतभेद इतना अधिक बढ़ गया था कि उनका मिलकर काम करना असभव था। नरम-दल के काग्रेसी शासन-सुधारो को कार्यान्वित कर प्रान्तो में पदग्रहण करना चाहते थे और गरम-दल इससे विरुद्ध था। अत बम्बई मे नरम-दल के लोग काग्रेस से अलग हो गये और उन्होने उसी वर्ष कलकत्ता मे अखिल भारतवर्षीय उदार-सघ (All India Liberal Federation) की स्थापना की।

असहयोग-आन्दोलन

सन् १९२० मे महात्मा गाधी ने 'असहयोग आन्दोलन' का श्रीगणेश किया। कलकत्ता-काग्रेस ने महात्मा गाधी के नेतृत्व मे असहयोग की नीति को स्वीकार किया। विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलो का वहिष्कार किया, वकीलो ने न्यायालयो का बॉयकॉट किया, व्यापारियो ने विदेशी कपडों का वहिष्कार किया तथा काग्रेस-जनो ने धारासभाओ से त्याग-पत्र दे दिये। प्रान्तीय काग्रेस कमिटियो को अपने-अपने प्रान्त में व्यक्तिगत सत्यागह सचालन करने की आज्ञा मिली। सबसे पहले गुजरात के बारडोली और आनन्द स्थानो में आन्दोलन किया गया।

इसी समय 'खिलाफत आन्दोलन' भी बडे जोर से चलने लगा। मौलाना मुहम्मदअली और मौलाना शौकतअली गाधीजी के दाहिने हाथ थे। काग्रेस में मुसलमानो की सख्या भी बढ गयी। १ फर्वरी १९२२ को गाधीजी ने वायसराय को इस आशय का एक पत्र लिखा कि एक सप्ताह मे सरकार अपनी नीति मे परिवर्तन कर दे अन्यथा बारडोली मे सत्याग्रह किया जायेगा। यह पत्र वायसराय के पास नही पहुँचा कि गोरखपुर मे चौरीचौरा की दुर्घटना से सारे देश में क्षोभ पैदा होगया। चौरीचौरा के पुलिस थाने पर काग्रेस-भीड ने आक्रमण करके उसमें आग लगादी। १३ मार्च १९२२ को गाधीजी गिरफ्तार कर लिये गये। उनपर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया और उन्हे ६ वर्ष कैद की सजा दी गयी। इसके बाद काग्रेस-आन्दोलन में शिथिलता आगयी और काग्रेस-जन कौंसिल-प्रवेश के लिए लालायित हो उठे।

स्वराज-दल का जन्म

दिसम्बर १९२२ मे गया मे देशबन्धु श्री चित्तरजन दास के सभापतित्व मे काग्रेस का अधिवेशन हुआ। काग्रेस में इस समय दो दल थे—एक परिवर्तनवादी और दूसरा अपरिवर्तनवादी।

परिवर्तनवादी काग्रेस की नीति और कार्यक्रम मे परिवर्तन चाहते थे। वे काग्रेस द्वारा कौसिल-प्रवेश का कार्यक्रम स्वीकार कराने के पक्ष मे थे। स्वर्गीय श्री चित्तरजनदास, प० मोतीलाल नेहरू, श्री श्रीनिवास अयगार, हकीम अजमल खाँ, श्री विट्ठल भाई पटेल आदि परिवर्तनवादी थे और श्री राजगोपालाचार्य, डा० अन्सारी आदि नेता अपरिवर्तनवादी थे। गया-काग्रेस मे पिछले दल का बहुमत था। इसलिए कौसिलवादियो की इसमे पराजय हुई। सितम्बर १९२३ मे मौलाना अबुलकलाम आजाद के सभापतित्व मे देहली में काग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ जिसमे कौसिल-प्रवेश का कार्य-क्रम स्वीकार किया गया। इस प्रकार काग्रेस के अन्तर्गत स्वराज-दल की-स्थापना की गयी। काग्रेसवादी प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारासभाओ मे सदस्य चुने गये। बगाल की धारा-सभा मे देशबन्धु चित्तरजनदास के नेतृत्व में स्वराज-दल ने कार्य किया। केन्द्रीय धारासभा मे प० मोतीलाल नेहरू स्वराज-दल के नेता चुने गये। इस प्रकार अगले सत्याग्रह (१९३०) तक काग्रेसवादी सदस्य कौसिलो के भीतर कार्य करते रहे। वे असहयोग की जिस नीति को स्वीकार करके कौसिलो मे गये उसका पालन न कर सके। इसम शक नही कि विरोधी दलो के रूप मे इन्होने अवरोध-नीति का काफी प्रयोग किया।

सन् १९२७ मे ब्रिटिश पार्लिमेंट ने भारतीय शासन-सुधारो की जाँच के लिए एक शाही कमीशन सर जान साइमन की अध्यक्षता मे नियुक्त किया जिसमे ७ अग्रेज सदस्य थे। इसमे एक भी भारतीय सदस्य नियुक्त नही किया गया। अत काग्रेस ने कमीशन का पूर्ण बहिष्कार किया। इसमे काग्रेस को पूरी सफलता मिली।

पूर्ण स्वराज की ओर

मद्रास-काग्रेस के प्रस्तावानुसार काग्रेस कार्य-समिति ने भारत के लिए शासन-विधान बनाने के निमित्त एक सर्व-दल सम्मेलन (All Parties' Conferenec) आमन्त्रित किया। फलत फर्वरी १९२८ मे भारत के सभी दलो का सम्मिलित अधिवेशन हुआ जिसमें निश्चय किया गया कि भारत मे उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए शासन-विधान की रचना की जाये। मई १९२८ में बम्बई में सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन हुआ जिसने प० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में विधान की रूप-रेखा बनाने के लिए एक समिति नियुक्त की। इसने अगस्त १९२८ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। लखनऊ के सर्वदल सम्मेलन के तीसरे अधिवेशन में वह स्वीकृत हुई। कलकत्ता मे समस्त राजनीतिक दल, व्यापारिक तथा मजदूर-सघ विधान-निर्मात्री परिषद् (Constituent Assembly) के रूप मे सम्मिलित हुए और एक प्रस्ताव द्वारा 'नेहरू-रिपोर्ट' को शासन-विधान के रूप मे स्वीकार किया गया। परन्तु साम्प्रदायिक प्रश्न पर अन्तिम रूप से निर्णय न हो सका।

दिसम्बर १९२८ में कलकत्ता में प० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता मे काग्रेस हुई। इसमें पूर्ण स्वराज तथा औपनिवेशिक स्वराज के प्रश्न पर बडा वादविवाद हुआ। पं० जवाहरलाल नेहरू तथा श्री सुभापचन्द्र पूर्ण स्वराज के पक्ष मे थे और प० मोतीलाल नेहरू औपनिवेशिक स्वराज के पक्ष मे। अन्त में एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया गया कि ब्रिटिश सरकार 'नेहरू रिपोर्ट' को ३१ दिसम्बर १९२९ तक स्वीकार न करे तो काग्रेस अपना ध्येय 'पूर्ण स्वराज' घोपित कर देगी। ३१ दिसम्बर १९२९ तक ब्रिटिश सरकार ने 'नेहरू-रिपोर्ट' को स्वीकार नही किया। प० जवाहरलाल नेहरू के राष्ट्रपतित्व मे लाहौर-काग्रेस में 'पूर्ण स्वराज' का प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

सत्याग्रह-आन्दोलन

सन् १९३० की २६ जनवरी को काग्रेस की ओर से देशभर में

'स्वाधीनता-दिवस' मनाया गया। इस अवसर पर सार्वजनिक सभाओं में एक प्रतिज्ञा पढ़ी गयी। तबसे प्रति वर्ष यह राष्ट्रीय दिवस मनाया जाता है। कार्य-समिति ने १७ फर्वरी १९३० को सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू करने का निश्चय किया। गांधीजी संचालक नियुक्त हुए। २ मार्च १९३० को महात्मा गांधी ने वायसराय लार्ड इर्विन के समक्ष अपने पत्र में निम्नलिखित ११ माँगें रखीं : मादक-द्रव्य-निषेध; एक रुपया १६ पैंस के बराबर माना जाये; मालगुजारी में ५०% कमी की जाये; सरकारी कर्मचारियों के वेतनों में ५०% कमी हो; सामुद्रिक तटकर-संरक्षण कानून बनाया जाये; राजनीतिक बन्दियों को रिहा कर दिया जाये; सन् १८१८ के रेग्यूलेशन ३ तथा दण्ड-विधान की धारा १२४ अ (राज द्रोह) को रद्द कर दिया जाये; निर्वासित भारतीयों को भारत में आने की आज्ञा दी जाये; खुफिया विभाग या तो बन्द कर दिया जाये या भारतीय मंत्रियों के नियंत्रण में कर दिया जाये ;स्वदेशी वस्त्र-व्यवसाय के संरक्षण के लिए विदेशी वस्त्र-व्यवसाय पर अधिक कर लगाया जाये; आत्म-रक्षा के निमित्त अस्त्र-शस्त्रों के रखने की आज्ञा दी जाये।

वायसराय ने इन माँगों में से एक को भी स्वीकार नहीं किया। अतः १२ मार्च १९३० को गांधीजी ने नमक-कानून भंग करके सत्याग्रह आरम्भ कर दिया।

यह सत्याग्रह-आंदोलन पूरे एक वर्ष तक जारी रहा। इसमें हजारों की संख्या में कांग्रेसवादियों को जेल-यात्रा करनी पड़ी। अन्त में सर तेजबहादुर सप्रू तथा श्री मुकुन्दराव जयकर के प्रयत्नों से लार्ड इरविन और गांधीजी में ५ मार्च १९३१ को समझौता हो गया। इसे 'गांधी-इर्विन समझौता' कहा जाता है। इसके अनुसार सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया, ब्रिटिश मालका बहिष्कार बन्द कर दिया गया,कांग्रेस कानूनी संस्था घोषित कर दी गयी,समस्त कांग्रेसी बन्दी रिहा कर दिये गये, व्यक्तिगत उपयोग के लिए नमक बनाने की सुविधा मिल गयी; परन्तु नमक-कर कायम रहा।

गोलमेज-परिषद्

गांधी-इर्विन समझौते का भंग कई प्रान्तों में किया गया। कांग्रेस ने

सरकार पर इसका दोषारोपण किया और सरकार ने कांग्रेस पर। अन्त में महात्मा गांधी, प० मदनमोहन मालवीय तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू के साथ गोलमेज-परिषद (लन्दन) में कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लेने गये।

जब २८ दिसम्बर १९३१ को वह वापस आये तो भारत की स्थिति बहुत ही नाजुक थी। किसानो मे भारी सकट पैदा होगया था। महात्माजी के भारत आने से ५ दिन पूर्व ही प० जवाहर लाल नेहरू, श्री तसद्दुक अहमद शेरवानी तथा श्री पुरुषोत्तमदास टडन गिरफ्तार कर लिये गये। सीमाप्रान्त मे खुदाई खिदमतगार नेता खान अब्दुलगफ्फार खाँ और डा० खानसाहब भी गिरफ्तार किये जा चुके थे। जब गाधीजी भारत में आये तो उन्होने वायसराय लार्ड विलिंगडन से भेट करने के लिए आज्ञा माँगी, परन्तु उन्हे आज्ञा नही मिली। ४ जनवरी १९३२ को महात्माजी को भी राजवन्दी बना लिया गया।

ऐतिहासिक उपवास

१७ अगस्त १९३२ को ब्रिटिश प्रधान-मंत्री स्वर्गीय श्री रेमज़े मैकडानल्ड ने अल्प-सख्यक जातियो के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध मे अपना 'साम्प्रदायिक निर्णय' (Communal Award) प्रकाशित कर दिया। गोलमेज परिषद में महात्माजी अपने एक भाषण में यह कह चुके थे कि यदि दलित जातियों को पृथक् निर्वाचन दिया गया तो मे अपने प्राणो की आहुति देकर भी उसका विरोध करूँगा। इस निर्णय में दलित जातियो के लिए 'विशेष निर्वाचन-पद्धति' निर्धारित की गयी, जिसके अनुसार दलित जातियो के मतदाताओ को अपने निर्वाचन-क्षेत्र मे अपने उम्मीदवारो को चुनने का अधिकार दिया गया और साथ ही उन्हें हिन्दुओ के चुनाव में मत देने और खडे होने का भी अधिकार दिया गया।

गाधीजी ने इस निर्णय की दलित जातियो-सबधी चुनाव-व्यवस्था के विरोध में यरवदा जेल में २० सितम्बर १९३२ को उपवास आरम्भ

किया। उनकी जीवन-रक्षा के लिए देश भर मे प्रार्थनाएँ की गयी तथा बम्बई और पूना मे दलित जातियो तथा हिन्दू नेताओ का सम्मेलन हुआ जिसके अध्यक्ष प० मदनमोहन मालवीय थे। इसमे परस्पर दोनो पक्षो मे समझौता हो गया और २५ सितम्बर को गाधीजी ने व्रत छोडा। इसके बाद गाधीजी यरवदा जेल से 'हरिजन-आन्दोलन' का सचालन करने लगे।

८ मई १९३३ मे गाधीजी ने पुन आत्म-शुद्धि के लिए व्रत रखा। गाधीजी जेल से मुक्त कर दिये गये। मुक्ति के बाद गाधीजी ने राष्ट्रपति से यह सिफारिश की कि सत्याग्रह-आन्दोलन १½ मास के लिए स्थगित कर दिया जाये। अत आन्दोलन स्थगित हो गया।

१२ जुलाई १९३३ को पूना में काग्रेस-जनो का एक सम्मेलन स्थिति पर विचार करने के लिए हुआ। इसमें यह निश्चय किया गया कि समझौते के लिए गाधीजी वायसराय से मिलें। परन्तु वायसराय ने इसे स्वीकार नही किया। १ अगस्त को गाधीजी ने पुन रास गाँव मे सत्याग्रह करने का विचार किया। परन्तु वह पहले ही गिरफ्तार कर लिये गये। ४ अगस्त १९३३ को वह छोड दिये गये और उन्हे कहा गया कि यरवदा से बाहर रहे। गाधीजी ने यह आज्ञा नही मानी, अत उन्हे ½ टे मे फिर गिरफ्तार कर लिया गया और १ वर्ष की सजा दी गयी। जेल मे हरिजन-कार्य सम्बन्धी सुविधाओं के न मिलने पर उन्होने फिर १६ अगस्त से व्रत रखा। २३ अगस्त को उनकी हालत बहुत नाजुक हो गयी, और उन्हे मुक्त किया गया। तब उन्होने यह प्रण किया कि मै ४ अगस्त १९३४ तक कोई ऐसा कार्य नही करूँगा जिससे जेल जाना पडे। तबसे वह अपना सारा समय हरिजन-सेवा मे लगाने लगे।

विधानवाद की ओर

देहली में ३१ मार्च १९३४ को डा० असारी के सभापतित्व मे काग्रेस-जनो का एक सम्मेलन हुआ, जिसमे यह स्वीकार किया गया कि स्वराज-दल की पुन स्थापना की जाये। यह भी निश्चय किया गया कि

केन्द्रीय धारासभा के चुनावो मे भाग लिया जाये। मई १९३४ में राँची मे काग्रेसवादियो का एक दूसरा सम्मेलन हुआ। इसमे पहले सम्मेलन के प्रस्तावों को स्वीकार किया गया। १८ व १९ मई १९३४ को पटना मे काग्रेस-कार्य-समिति और अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन हुए, जिनमे सत्याग्रह-आन्दोलन को स्थगित करने तथा कौसिल-प्रवेश का कार्यक्रम स्वीकार करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार किये गये।

तदनुसार दिसम्बर १९३४ मे काग्रेस ने केन्द्रीय चुनावों में भाग लिया और उसे आशातीत सफलता मिली।

नया शासन-विधान और कांग्रेस

सन् १९३५ मे जो नया शासन-विधान बनाया गया था उसे कार्यान्वित करने के लिए तैयारियाँ होने लगी। सन् १९३६ के नवम्बर मास से ही चुनाव-सग्राम शुरू हो गया। भारत के ११ प्रान्तो मे से ७ मे धारासभाओ के चुनावो में काग्रेस सफल हुई।

सयुक्तप्रान्त, बम्बई, मध्यप्रान्त, मद्रास, बिहार, उडीसा में और बाद मे सीमा-प्रान्त में काग्रेस का बहुमत हो गया। इन प्रान्तो मे काग्रेस शासन-भार को ग्रहण करने में समर्थ थी। अत. काग्रेस में दो प्रकार के दल पैदा हो गये। एक दल मन्त्रि-पद ग्रहण करने के पक्ष मे था और दूसरा इसके विरुद्ध।

जब दिल्ली में अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी मे पद-ग्रहण के प्रश्न पर विचार किया गया, तो ऐसा प्रतीत होता था कि इस विषय पर काग्रेस में तीव्र मतभेद हो जायेगा, परन्तु महात्मा गाधी ने पद-ग्रहण का प्रस्ताव अपने प्रभाव से इस शर्त के साथ स्वीकार करा लिया, कि गवर्नर अपने विशेषाधिकारो को प्रयोग न करने का आश्वासन दे दे। ऐसा आश्वासन न मिलने के कारण, काग्रेस ने ३ मास तक मन्त्रिमण्डल नहीं बनाये। अन्त में स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाने पर जुलाई १९३७ में ६ प्रान्तो मे काग्रेस के मन्त्रि-मण्डल बने, बाद में

सीमाप्रान्त और आसाम मे भी मन्त्रि-मण्डल बनाये गये। इस प्रकार ८ प्रान्तों मे कांग्रेस का शासन स्थापित हो गया।

कांग्रेस संघ-शासन का विरोध तथा विधान का अन्त करने के लिए धारा-सभाओं में गयी थी। इस कार्य में उसे कहाँ तक सफलता मिली, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नही कि कौंसिलो में जाकर कांग्रेस अपने वास्तविक कार्यक्रम और लक्ष्य से दूर हटकर 'शासन-संचालन' में तल्लीन हो गयी। हाँ, कुछ रचनात्मक कार्य अवश्य आरम्भ हुआ, जिससे कई लोकोपकारी सुधार हुए—मादक द्रव्य-निषेध, ग्राम-सुधार, जेल-सुधार तथा शिक्षा-सुधार।

कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों का पद-त्याग

१ सितम्बर १९३९ को यूरोप मे इंग्लैण्ड और जर्मनी मे महायुद्ध छिड़ गया। भारत के वायसराय ने यह घोषणा कर दी कि इस यूरोपीय युद्ध में भारत भी ब्रिटेन के साथ है। ऐसी घोषणा करने का विधान के अनुसार वायसराय को पूरा अधिकार था। परन्तु कानूनी दृष्टि से अधिकार होने पर भी नैतिक दृष्टि से यह उचित था कि भारत को युद्ध मे सम्मिलित करने से पहले भारतीय नेताओ से परामर्श किया जाता। इस स्थिति से भारतीय लोकमत बड़ा विक्षुब्ध हो गया और कांग्रेस भारत-सरकार की इस नीति से असन्तुष्ट हो गयी।

१४ सितम्बर १९३९ को कांग्रेस कार्य-समिति ने एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। इसमें कांग्रेस ने अंग्रेज सरकार से कहा कि वह युद्ध और शान्ति के उद्देश्यो की घोषणा करे। यदि यह युद्ध वास्तव में प्रजातन्त्र और स्वाधीनता की रक्षा के लिए है, तो क्या ब्रिटिश-सरकार इन सिद्धान्तो को भारत मे भी लागू करना चाहती है? इस घोषणा का सरकार ने कोई सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दिया।

कांग्रेस की ओर से यह स्पष्ट कर दिया गया कि कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता चाहती है अत भारत को स्वाधीन राष्ट्र घोषित कर दिया जाये। भारत का शासन-विधान-निर्माण करने का अधिकार वयस्क

मताधिकार द्वारा चुनी हुई विधान-निर्मात्री-परिषद् (Constituent Assembly) को ही होना चाहिए।

ब्रिटिश सरकार ने भारत में 'औपनिवेशिक स्वराज' की स्थापना को अपना अन्तिम लक्ष्य घोषित कर दिया है, जैसा कि वह पिछली वार भी कई वार घोपित कर चुकी है। उसने इस वार यह और जोड दिया है कि औपनिवेशिक स्वराज शीघ्र से शीघ्र दिया जायेगा और वह सन् १९३० के वैस्टमिंस्टर-कानून (Westminster Statute) के ढग का होगा। परन्तु अभी तक पार्लिमेंट ने इस सम्वन्ध मे कोई घोषणा नही की। यह भी निश्चय-पूर्वक नही कहा गया है कि औपनिवेशिक स्वराज कव स्थापित किया जायेगा ?

८ अगस्त १९४० को वायसराय ने जो घोषणा की, उससे स्थिति में परिवर्तन नही हुआ। इस प्रकार भारत की इस वैधानिक समस्या को सुलझाने का लगातार दोनो ओर से प्रयत्न किया गया, परन्तु इसमे सफलता नही मिली।

युद्ध-विरोधी सत्याग्रह

समझौते के लिए एक साल तक घोर प्रयत्न करने के वाद महात्मा गाधी ने प्रकट किया कि जव आज स्वयम् इग्लैण्ड सकट में है, तो भारत को उससे अपनी स्वाधीनता माँगना उचित नही है। एक भाषण मे गाधीजी ने स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा कि स्वाधीनता माँगने से प्राप्त नही की जा सकती। उसके लिए शक्ति की आवश्यकता है।

तदनुसार स्वाधीनता के प्रश्न को अलग रखकर उन्होने भाषण-स्वातन्त्र्य के प्रश्न पर अक्तूबर १९४० में देशव्यापी व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया। गाधीजी तथा काग्रेस, जिसके वह अधिनायक हैं, वर्तमान युद्ध मे इग्लैड को सहायता नहीं देना चाहती। साथ ही गाधीजी इस युद्ध में ब्रिटेन की हार भी नहीं चाहते। वह ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्न मे किसी प्रकार की वाधा डालना नहीं चाहते। परन्तु वर्तमान युद्ध में भारत का भाग लेना या सहायता देना अनैतिक और हिंसात्मक मानते हैं। उनके

द्वारा सचालित इस सत्याग्रह-आन्दोलन मे सत्याग्रहियो ने युद्ध-विरोधी नारा लगाकर सत्याग्रह किया और जेल गये।

मुस्लिम लीग की राजनीति

इसमे थोडा भी शक नही कि भारतीय राष्ट्रीय-जीवन को विषैला बनाने म सबसे अधिक काम साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली ने किया है। सन् १९०९ मे ब्रिटिश सरकार ने भारत में मुसलमानो की पृथक चुनाव की माँग को मजूर कर वास्तव मे एक बडी भारी भूल की और सबसे भयकर भूल तो काग्रेस ने की—जब सन् १९१६ मे उसने लखनऊ-पैक्ट को स्वीकार करके साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली को भी स्वीकार कर लिया।

काग्रेस की दुर्बल नीति तथा काग्रेस-मन्त्रि-मण्डलो की मुस्लिम-पक्षीय नीति ने अखिल-भारतीय मुस्लिम लीग और उसके सर्वेसर्वा श्री मुहम्मदअली जिन्ना को एक शक्तिशाली व्यक्तित्व और सत्ता प्रदान कर दी। आज भारत की मुस्लिम राजनीति पर उनका प्रभाव है, चाहे मुस्लिम जनता पर उनका प्रभाव भले ही न हो। 'प्रजातन्त्र' अध्याय मे कहा जा चुका है कि मुस्लिम लीग ने उनके सभापतित्व मे मार्च १९४० के लाहौर-अधिवेशन तथा अप्रैल १९४१ के मद्रास-अधिवेशन मे 'पाकिस्तान' का नारा लगाया है और आज वह भारत मे पाकिस्तान' की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है।

सकीर्ण साम्प्रदायिकता के फलस्वरूप ही सन् १९४१ के अप्रैल मास से पूर्व जिस मुस्लिम लीग का लक्ष्य भारत मे पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना करना था उसीका लक्ष्य उस वर्ष से भारत मे मुस्लिम राज्य की स्थापना हो गया है।

इसमे सन्देह नही कि 'पाकिस्तान'-योजना का एक स्वर से सभी हिन्दुओ, काग्रेस-जनो, सिक्खो तथा ईसाइयो ने विरोध किया है। भारत की दलित जातियाँ भी उसके विरुद्ध है। अप्रैल १९४० मे दिल्ली मे 'अखिल भारतीय आज़ाद-मुस्लिम-सम्मेलन' ने भी 'पाकिस्तान' का घोर विरोध किया।

इस सम्मेलन में मुसलमानों की प्रमुख प्रभावशाली संस्थाओं ने भाग लिया जिनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—(१) मजलिसे अहरार (२) जमीयत-उल्-उलेमा-ए-हिन्द (३) बिहार मुस्लिम स्वतन्त्र दल (४) अंजुमन-ए-वतन (५) अखिल भारतीय मोमिन सम्मेलन (६) राष्ट्रीय मुस्लिम।

इसमें शक नही कि भारत की वैधानिक उलझन के समाधान में साम्प्रदायिक समस्या एक बडी भारी अडचन है। इसके समाधान पर ही भारत का भविष्य निर्भर है।

नरम-दल की राजनीति

आज से बीस वर्ष पूर्व भारत मे पुराने नरम-दली काग्रेसजनो ने त्याग-पत्र देकर अखिल-भारतीय उदार-सघ की स्थापना की।

यह उदार-सघ भारत के उच्चशिक्षित, सुसस्कृत तथा अर्द्ध-सरकारी पूंजीपतियो का सघ है। इसका सगठन काग्रेस-जैसा नहीं है, बल्कि उच्चकोटि के नेताओ का एक सघ है जिसका जनता से कोई सम्पर्क नही है। यही कारण है कि प्रान्तीय धारा-सभाओ मे इसका कोई प्रतिनिधित्व नही है। हाँ, केंद्रीय व्यवस्थापक-मण्डल—लेजिस्लेटिव असेम्बली तथा कौसिल ऑव स्टेट (जो माटेग्यू-चेम्सफोर्ड की योजना के अनुसार बनायी गयी थी) में इनके कुछ सदस्य है। इस सघ के प्रसिद्ध नेताओ मे सर तेजबहादुर सप्रू, प० हृदयनाथ कुजरू, माननीय प्रकाशनारायण सप्रू, सर कवासजी जहाँगीर, सर चिमनलाल सीतलवाद, माननीय श्रीनिवास शास्त्री आदि प्रमुख है। इसका न कोई आर्थिक कार्यक्रम है न सामाजिक। इसका राजनीतिक लक्ष्य है—भारत मे भारतवासियो के लिए औपनिवेशिक स्वराज प्राप्त करना। सीधी कार्रवाई से लिबरल लोग अलग रहते है। इसीलिए वे केवल प्रस्तावो द्वारा सरकार की नीति की आलोचना करने मे ही सन्तुष्ट हो लेते है और उसके साथ सहयोग के लिए हर हालत में तैयार रहते है। वे स्थापित हितों (Vested Interests) की रक्षा तथा वस्तुस्थिति (Status quo) को ज्यों-का-त्यो कायम रखने के पक्ष में है।

उनका विकासवाद मे विश्वास है, क्रान्ति मे विश्वास नही है और वे शान्तिमय साधनो द्वारा अपनी उन्नति चाहते हैं। विधान-निर्मात्री-'परिषद् का तरीका भी उनकी विचारधारा के अनुकूल नही है। वर्तमान् युद्ध मे यद्यपि वे ब्रिटिश सरकार की भारत-सम्बन्धी-नीति से असन्तुष्ट है, तो भी सरकार को हर प्रकार की सहायता दे रहे है। उदार-दल के सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी नेताओ ने बम्बई मे एक निर्दल-नेता-सम्मेलन का आयोजन किया था। सर तेजबहादुर सप्रू उसके अध्यक्ष थे। इस सम्मेलन के नरम प्रस्ताव तक को भारत-मन्त्री ने पसद नही किया। इससे सर सप्रू तथा अन्य नेताओ को घोर निराशा हुई।

हिन्दू-महासभा की राजनीति

'हिन्दू महासभा' की स्थापना २० वर्ष पूर्व हिन्दू-धर्म, सस्कृति तथा हिन्दुत्व की रक्षा के उद्देश्य से की गयी थी। प्रारम्भ मे यह धार्मिक सस्था थी। इसका कार्यक्रम भी सामाजिक तथा धार्मिक था, परन्तु विगत १० वर्षो मे वह एक राजनीतिक सस्था के रूप मे बदल गयी है। भाई परमानन्द तथा वीर विनायक दामोदर सावरकर के शक्तिशाली नेतृत्व मे हिन्दू महासभा का आन्दोलन अब अत्यन्त शक्तिशाली हो गया है। हिन्दू महासभा का लक्ष्य हिन्दू सस्कृति, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू-हितो की रक्षा करना तो है ही साथ-ही-साथ वह भारत की पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति को भी अपना लक्ष्य मानती है। अभीतक वह वैध और शान्तिमय उपायो द्वारा आन्दोलन करती रही है। दिसम्बर १९४० मे मदुरा-अधिवेशन में महासभा ने ब्रिटिश सरकार को यह चुनौती दी थी कि वह ३१ मार्च १९४१ तक भारत को औपनिवेशिक स्वराज प्रदान कर दे, अन्यथा महासभा उसके विरुद्ध सीधी कार्रवाई (Direct-Action) शुरू कर देगी। परन्तु इस अवधि के बीत जाने पर भी हिन्दू-महासभा ने ऐसा आन्दोलन आरम्भ नही किया। हाँ, हैदराबाद में हिन्दू-हितो की रक्षा के लिए महासभा ने सत्याग्रह किया जिसमे उसे सफलता भी मिली।

भारतीय ईसाई और राष्ट्रीयता

भारतीय ईसाई भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। समस्त भारत के भारतीय ईसाइयो की अखिल भारतीय संस्था 'अखिल भारतवर्षीय भारतीय ईसाई सम्मेलन' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके वर्तमान अध्यक्ष डा० रामचन्द्र राव है। यद्यपि भारतीय ईसाई अपने को अल्पसख्यक मानते है, तो भी इस आधार पर मुस्लिम-लीगवालों की तरह वे भारत की वैधानिक प्रगति तथा राष्ट्रीय-जीवन के विकास में बाधक बनकर अपने को कलकित करना नही चाहते।

भारतीय ईसाई-सम्मेलन भारत मे पूर्ण स्वाधीनता और प्रजातत्र राज्य की स्थापना चाहता है। सन् १९३८ में दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह मे अखिल भारतवर्षीय ईसाई सम्मेलन में यह प्रस्ताव स्वीकार किया जा चुका है कि भारतीय ईसाई सुरक्षित स्थानो के साथ संयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली को स्वीकार करने के लिए तैयार है। दिसम्बर १९४० मे लखनऊ में ईसाई सम्मेलन ने 'पाकिस्तान'-योजना की घोर निन्दा की और उसे देश के लिए घातक बतलाया। इससे प्रकट होता है कि वह साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली के विरुद्ध है। ईसाई वर्ग में राष्ट्रीयता की यह भावना भारत के लिए एक शुभ लक्षण है।

दलित-वर्ग और उसकी राजनीति

भारत मे हिन्दू-समाज के अन्तर्गत ६ करोड ऐसी जातियाँ है, जो इस युग में भी राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक समान-अधिकारो से वचित है। सन् १९१९ में जब मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड-योजना के अनुसार भारत में प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा-सभाओ का सगठन किया गया, तब वायसराय तथा प्रान्तीय गवर्नरो को यह आदेश दिया गया कि प्रत्येक प्रान्त में दलित जातियो के एक-दो प्रतिनिधि नामजदगी द्वारा धारासभाओ में लिये जायें।

इसके अनुसार नियुक्तियाँ की गयी। बाद में प्रत्येक प्रान्त के जिला-बोर्डों तथा म्यूनिसिपल बोर्डो के कानूनो में संशोधन किया गया और

प्रत्येक जिला-बोर्ड तथा चुगी मे इन जातियो का एक सदस्य मनोनीत किये जाने की व्यवस्था की गयी। नये कानून के कार्यान्वित होने तक यही व्यवस्था कायम रही। दलित-वर्ग के प्रसिद्ध नेता बैरिस्टर भीमराव अम्बेडकर तथा रायबहादुर एम० सी० राजा ने गोलमेज-परिषद् के समक्ष दलित समुदाय की ओर से पृथक् निर्वाचन की माँग रखी। प्रधान-मन्त्री श्री रेमजे मैकडानल्ड ने इसे स्वीकार कर लिया। महात्मा गाधी के अनशन के फलस्वरूप इसमे सशोधन किया गया और सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया। यह सशोधन ही 'पूना समझौता' के नाम से प्रसिद्ध है। जिसकी धाराएँ इस प्रकार है

१ प्रान्तीय धारा-सभाओं मे दलित-वर्ग के लिए सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रो मे कुल १५१ स्थान (मद्रास मे ३०, बम्बई मे १५, पजाब मे ८, बिहार में १५, उडीसा मे ६, मध्यप्रान्त में २०, सयुक्तप्रान्त मे २०, आसाम मे ७ और बगाल मे ३०) सुरक्षित किये जाये।

२ इन सुरक्षित स्थानो के लिए सयुक्त-चुनाव-प्रणाली इस प्रकार होगी—

दलित जातियो के सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र की सामान्य निर्वाचन-सूची (General Electoral Roll) मे अपना नाम दर्ज करायेंगे। वे सदस्य एक निर्वाचन-मण्डल बनायेंगे जो उनके लिए प्रत्येक स्थान के निमित्त ४ उम्मीदवारो का एक मण्डल (पेनल) चुनेगा। प्रत्येक मतदाता को एक मत देने का अधिकार होगा। प्रथम चुनाव मे जिन चार उम्मीदवारो को सबसे अधिक मत प्राप्त होंगे, वे सामान्य सयुक्त चुनाव मे खडे हो सकेंगे।

३ केन्द्रीय धारा-सभा मे दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व सयुक्त चुनाव के आधार पर होगा और सुरक्षित स्थानो के लिए प्राथमिक चुनाव दूसरी धारा के अनुसार होगा।

४ केन्द्रीय धारा-सभा में ब्रिटिश भारत के लिए सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रो की १८% जगहे दलित जातियो के लिए सुरक्षित रहेगी,

५. प्राथमिक चुनाव की प्रणाली, यदि पहले से पारस्परिक चुनाव

द्वारा रद्द न करदी गयी हो, १० वर्ष तक कायम रहेगी।

६ सुरक्षित स्थानो के लिए दलित-वर्ग के लिए निर्वाचन-प्रणाली, जिसका उल्लेख धारा १ से ४ तक है, उस समय तक जारी रहेगी जब-तक कि परस्पर समझौते द्वारा उसका अन्त न कर दिया जाये।

७ प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारासभाओ में दलित-वर्ग के लिए मताधिकार लोथियन रिपोर्ट के अनुसार होगा।

८ किसी भी व्यक्ति को केवल दलित-समुदाय का सदस्य होने के कारण स्थानीय बोर्डो के चुनावो मे खडा होने या सरकारी नौकरियो मे भरती होने के अयोग्य न माना जायेगा। इन दोनो मे दलित-वर्ग के पर्याप्त प्रतिनिधित्व के लिए प्रयत्न किया जायेगा, परन्तु प्रत्येक नौकरी के लिए निर्धारित योग्यता आवश्यक होगी।

९ प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा के लिए स्वीकृत कोष में से यथेष्ट धन दलित-वर्ग की शिक्षा के लिए निर्धारित कर दिया जायेगा।

पूना-समझौते की उपर्युक्त धाराओ पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके मुख्य उद्देश्य दो है। पहला तो यह कि सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से पिछडे हुए दलित-वर्ग की उन्नति के लिए पर्याप्त सरक्षण और सुविधाएँ मिलें और दूसरा यह कि दलित-वर्ग हिन्दू-समाज से अभिन्न बन जाये।

इसमें सन्देह नही कि नये शासन-विधान मे धारासभाओ मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलने के कारण इन जातियो को अपनी उन्नति के लिए पर्याप्त सुयोग मिला, परन्तु वे उनसे वास्तविक लाभ न उठा सके। उन्हे राजनीति मे, समाज-नीति की भाँति, राजनीतिक दलो के शोषण का शिकार बनना पडा। वे ग्रामो में जमीदारो के आतक के कारण अपने मताधिकार का प्रयोग स्वतन्त्र रीति से न कर सके। भारत मे उनके कुल १५१ सदस्यो में से १०-२० सदस्यो को छोडकर शेष सभी या तो निरक्षर है या अर्द्ध-साक्षर। यद्यपि त्येक निर्वाचन-क्षेत्र से सुयोग्य कार्यकर्त्ता और शिक्षित व्यक्ति इन जातियो में मिल सकते थे, परन्तु ऐसा नही किया गया।

यद्यपि मद्रास, सयुक्तप्रान्त, विहार—इन तीनो प्रान्तों मे दलित-वर्ग के काग्रेसी सदस्यों का वहुमत है, तो भी इन प्रान्तों के दलित-समुदाय की जनता मे काग्रेस के सदस्य वहुत ही कम है। काग्रेसी उम्मीदवार के लिए मत प्राप्त कर लेना दूसरी वात है। यही कारण है कि अखिल भारतीय काग्रेस कमेटियो मे भी इनके वहुत ही कम सदस्य है—शायद उगलियो पर गिनने लायक। इसका मुख्य कारण यह है कि अभी तक इन जातियो ने काग्रेस के सन्देश को ग्रहण नही किया है।

दलित जातियो का कोई अखिल भारतवर्षीय दृढ और देशव्यापी सगठन नही है। इनके सुधार के लिए जो कुछ कार्य हो रहा है, वह प्रान्तीय आधार पर ही हो रहा है। प्रत्येक प्रान्त मे अलग-अलग सगठन है। आवश्यकता है अन्तर्प्रान्तीय सगठन की।

दलित जातियो मे प्रभावशाली नेतृत्व का भी अभाव तो है ही, पर उच्च शिक्षाका अभाव, आर्थिक कठिनाइयाँ, उच्च सस्कृति तथा प्रगतिशील विचार धारा का अभाव भी इनकी अवनति का एक मूल कारण है। इनके अतिरिक्त दलित जातियो पर ग्रामों में वडे भीषण और अमानुषिक अत्याचार किये जाते है।

दलित जातियाँ, हिन्दू-समाज का ही अग है, इसलिए हमारा कर्तव्य है कि सामाजिक दृष्टि से इनकी समस्या के समाधान के लिए प्रयत्न किया जाये। केवल राजनीतिक दृष्टि से इन्हे हिन्दू समाज का अग मान लेने से न तो इनका कल्याण हो सकेगा और न वे राष्ट्र के उपयोगी अग ही वन सकेगे।

सहायक ग्रन्थों की सूची

अंग्रेजी

1. Atharvaveda · Harward Oriental Series
2 Old Testament (Bible.)
3 G D H Cole Review of Europe to-day (1933).
4 Leonard Woolf Intelligent Man's Way to Prevent War (1933).
5 A Drault Social and Political Problems at the end of the 19th century.
6 Ramsay Muir, Nationalism and Internationalism
7 Beni Prasad The State in Ancient India
8 Beni Prasad Theory of Government in Ancient India.
9 K P. Jayaswal Hindu Polity.
10 Freda and Bedi India Analysed, Vol I
11 W B. Curry The Case for Federal Union.
12 S Mussolini The Political and Social Doctrine of Fascism in Encyclopaedia Italiana (1932)
13 M. K Gandhi Mahatma Gandhi's Speeches and Writings
14 Hobhouse Elements of Social Justice
15 H J Lasky · Liberty in the Modern State (1937)
16 K T. Shah Federal Structure (1938)
17 Shrinivas Iyengar The Problem of Democracy in India (1939)
18. James Bryce Modern Democracies
19 K M Panikkar Hinduism and the Modern World
20 Prof Wadia Contemporary Indian Philosophy
21 B. R Ambedkar: Annihilation of Caste.
22 D F Mulla Principles of Mohammadan Law
23. B P. Sitaramayya History of the Congress
24 Herr Hitler My Struggle

25 The Harijan, Poona.
26. The Leader (19.6 1941).
27. The Hindustan Review (July 1934).
28, The Indian Information (Government of India, New Delhi).
29. League of Nations' Statute of Court.
3c. League of Nations' Statistical Year Book, 1930-31.
31 The Constitution of Socialist Soviet Russia

हिन्दी

१ जवाहरलाल नेहरू मेरी कहानी
२. मोहनदास करमचन्द गाधी हिन्द-स्वराज
३ रामदास गौड हमारे गाँवो की कहानी
४ महाभारत
५ बेनीप्रसाद नागरिक-शास्त्र
६ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् गाधी अभिनन्दन-ग्रन्थ
७ हरिभाऊ उपाध्याय स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्त्तव्य
८ नान्हालाल चमनलाल मेहता . भारतीय चित्रकला
९. भगवानदास केला नागरिक-शास्त्र
१० मो० क० गाधी हमारा कलक
११. रामनारायण यादवेन्दु राष्ट्रसघ और विश्व-शान्ति
१२ रामनारायण यादवेन्दु भारतीय शासन-विधान
१३ वर्धा-शिक्षा-समिति की रिपोर्ट
१४ 'सरस्वती' (जनवरी, १९३७), प्रयाग
१५ 'हरिजन-सेवक', पूना
१६ 'विश्वमित्र' (अगस्त १९४०), कलकत्ता
१७ 'कर्मयोगी' (जनवरी, १९३७), प्रयाग

सस्ता साहित्य मण्डल के प्रकाशन

सर्वोदय-साहित्य माला

	पुस्तक	लेखक	मूल्य
१	दिव्य-जीवन	स्वेट मार्डेन	।=)
२	जीवन-साहित्य	काका कालेलकर	॥=)
३	तामिल वेद	ऋषि तिरुवल्लुवर	॥)
४	भारत मे व्यसन-व्यभिचार	वैजनाथ महोदय	॥।=)
८	ब्रह्मचर्य-विज्ञान	जगन्नारायण देव शर्मा	॥।=)
१४	द० अ० का सत्याग्रह	महात्मा गाधी	१॥)
१६	अनीति की राह पर	"	।=)
१८	कन्या-शिक्षा	स्व० चन्द्रशेखर शास्त्री	।)
१९	कर्मयोग	अश्विनीकुमार दत्त	।=)
२०	कलवार की करतूत	महात्मा टॉल्स्टॉय	=)
२१	व्यावहारिक सभ्यता	गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र'	॥)
२२	अंधेरे मे उजाला	महात्मा टॉल्स्टॉय	॥)
२५	स्त्री और पुरुष	"	॥)
२६	सफाई	गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र'	।=)
२७	हम क्या करे ?	महात्मा टॉल्स्टॉय	१।)
३१	जब अंग्रेज नही आये थे	स्व० दादाभाई नौरोजी	≡)
३९	तरंगित हृदय	आचार्य देवशर्मा 'अभय'	॥)
४१	दुखी दुनिया	राजगोपालाचार्य	॥)
४२	जिन्दा लाश	महात्मा टॉल्स्टॉय	॥)
४३	आत्मकथा	महात्मा गाधी	१), १॥)
४५	जीवन विकास	सदाशिव नारायण दातार	१।), १॥)
४७	फांसी	विक्टर ह्यूगो	।=)
५०	मराठो का उत्थान और पतन	गोपाल दामोदर तामसकर	२॥)
५१	भाई के पत्र	रामनाथ 'सुमन'	१॥।)

५४	स्त्री-समस्या	मुकुटबिहारी वर्मा	१॥)
५८	इग्लैंड मे महात्माजी	महादेव देसाई	॥)
५९.	रोटी का सवाल	प्रिंस क्रोपाटकिन	१)
६०	दैवी सपद्	रामगोपाल मेहता	।=)
६४.	सघर्ष या सहयोग ?	प्रिंस क्रोपाटकिन	१॥)
६५	गाधी विचार दोहन	किशोरलाल मशरूवाला	॥)
६७	हमारे राष्ट्रनिर्माता	रामनाथ 'सुमन'	१॥)
६९	आगे बढो	स्वेट मार्डेन	॥)
७०	बुद्ध-वाणी	वियोगी हरि	॥=)
७१	काग्रेस का इतिहास	पट्टाभि सीतारामैया	२॥)
७२	हमारे राष्ट्रपति	सत्यदेव विद्यालकार	१)
७३.	मेरी कहानी	जवाहरलाल नेहरू	३)
७४.	विश्व-इतिहास की झलक	" "	८)
७५	हमारी पुत्रियाँ कैसी हो ?	चतुरसेन शास्त्री	॥)
७६	नया शासन-विधान (प्रान्तीय स्वराज्य)	हरिश्चन्द्र गोयल	॥)
७७.	गाँवो की कहानी	स्व० रामदास गौड़	॥)
७८	महाभारत के पात्र (दो भाग)	आचार्य नानाभाई	१)
७९	गाँवो का सुधार और सगठन	स्व० रामदास गौड	१)
८०	सतवाणी	वियोगी हरि	॥)
८१.	विनाश या इलाज ?	म्यूरियल लेस्टर	॥)
८३.	लोक-जीवन	काका कालेलकर	॥)
८४.	गीता-मथन	किशोरलाल मशरूवाला	१॥)
८५	राजनीति प्रवेशिका	हेरल्ड लास्की	॥)
८६.	हमारे अधिकार और कर्तव्य	कृष्णचन्द्र विद्यालकार	॥)
८८	स्वदेशी और ग्रामोद्योग	महात्मा गाधी	॥)
८९	सुगम चिकित्सा	चतुरसेन शास्त्री	॥)
९०	प्रेम मे भगवान्	म० टॉलस्टॉय	॥)
९१.	महात्मा गाधी	रामनाथ 'सुमन'	।=)

९२ ब्रह्मचर्य	महात्मा गाधी	।।)
९३. हमारे गाँव और किसान	मुख्तारसिंह	।।)
९४. गाधी-अभिनन्दन ग्रन्थ	सर्वपल्ली राधाकृष्णन्	१), २)
९५ हिन्दुस्तान की समस्याएँ	जवाहरलाल नेहरू	१)
९६. जीवन-सन्देश	खलील जिब्रान	।।)
९७. समन्वय	भगवान्दास	२)
९८ समाजवाद · पूँजीवाद	वर्नार्ड शॉ	।।।)
९९. मेरी मुक्ति की कहानी	म० टॉलस्टॉय	।।)
१०० खादी मीमासा	वालूभाई मेहता	१।।)
१०१ वापू	घनश्यामदास विडला	।।=), २)
१०२ मधुकर	विनोवा	१)
१०२ लडखडाती दुनिया	जवाहरलाल नेहरू	१)
१०४. सेवाधर्म · सेवामार्ग	कृष्णदत्त पालीवाल	१)
१०५ दुनिया की शासन-प्रणालियाँ	रामचन्द्र वर्मा	१।।)
१०६ डायरी के पन्ने	घनश्यामदास विडला	।।।), १)
१०७. तीस दिन मालवीयजीके साथ	रामनरेश त्रिपाठी	२)
१०८ युद्ध और अहिंसा	महात्मा गाधी	।।।)
१०९ महावीर वाणी	वेचरदास दोशी	१।।)
११०. भारतीय सस्कृति	रामनारायण यादवेन्दु	१।)
१११ विखरे विचार	घनश्यामदास विडला	।।।)
११२. अहिंसा-विवेचन	किशोरलाल मशरूवाला	।।।)

नवजीवन-माला

१. गीता-वोध २ मगलप्रभात	म० गाधी	-) -)
३ अनासक्तियोग	म० गाधी सादी =) श्लोक सहित ≡) सजिल्द	।)
४. सर्वोदय	,,	-)
५. नवयुवको से दो वातें	प्रिंस क्रोपाटकिन	-)
६. हिन्द-स्वराज्य	म० गाधी	≡)
७ छूतछात की माया		-)

८.	किसानो का सवाल	जेड. ए. अहमद	=)
९.	ग्राम-सेवा	म० गाधी	=)
१०.	खादी और गादी की लडाई	विनोबा	=)
११.	मधुमक्खी पालन		=)
१२.	गाँवो का आर्थिक सवाल		≡)
१३	राष्ट्रीय गीत ✓		=)
१४	खादी का महत्व	गुलजारीलाल नन्दा	-)॥
१५	जब अग्रेज नही आये थे		≡)
१६.	सोने की माया	किशोरलाल मशरूवाला	-)
१७.	सत्यवीर सुकरात	म० गाधी	-)

सामयिक साहित्य माला

१.	काग्रेस-इतिहास .	(१९३५–१९३९)	|-)
२	दुनिया का रगमच ✓	जवाहरलाल नेहरू	=)
३.	हम कहाँ है ?	,,	=)
४	युद्ध-सकट और भारत : म० गाधी, राष्ट्रपति आदि के वक्तव्य		|)
५.	सत्याग्रह क्यो, कब और कैसे ?	म० गाधी	≡)
६.	राष्ट्रीय पचायत : महात्माजी, जवाहरलाल नेहरू, राजाजी		|)
७	देशी राजाओ का दरजा	प्यारेलाल	|)
८.	यूरोपीय युद्ध और भारत	म० गाधी, जवाहरलाल	|)
९.	रचनात्मक कार्य-क्रम	म० गाधी	=)

विविध प्रकाशन

१.	पण्डित मोतीलाल नेहरू	रामनाथ 'सुमन'	|)
२.	पण्डित जवाहरलाल नेहरू	,,	=)
३.	सप्त सरिता	काका कालेलकर	=)
४.	चारा दाना और उसके खिलाने के उपाय .	परमेश्वरीप्रसाद गुप्त	≡)
५.	पशुओ का इलाज	परमेश्वरीप्रसाद गुप्त	॥)
६.	उपनिषदों की कथाएँ	शकर दत्तात्रेय देव	|)
७.	आदर्श बालक ✓	चतुरसेन शास्त्री	॥।